आधुनिक हिन्दी कविता में काव्य चिन्तन - एक गवेषणात्मक अध्ययन

(छायावाद से नयी कविता तक)

CONCEPT OF POETRY IN THE WORKS OF MODERN HINDI POETS

THESIS SUBMITTED TO THE
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY
C. SANTHI

SUPERVISING TEACHER
Dr. P. V. VIJAYAN
PROFESSOR

PROFESSOR AND HEAD OF THE DEPARTMENT
Dr. N. RAMAN NAIR

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN-682022

1989

C E R T I F I C A T E

This is to certify that this **THESIS** is a bonafide record of work carried out by **C. SANTHI**, under my supervision for Ph.D. Degree and no part of this thesis has hitherto been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi,
Cochin University of
Science & Technology,
Cochin - 682 022.

29 - 7 - 1989.

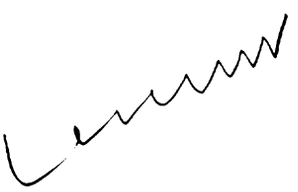

Dr. P.V. VIJAYAN
Professor
(Supervising Teacher)

प्राक्कथन

प्राक्कथन

साधारणतया सृजनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य दोनों का पृथक् पृथक् अस्तित्व है । साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी आदि विभिन्न विधाओं की आलोचना के समान काव्य कृतियों की भी आलोचना होती रहती है । बहुत से कवियों ने विभिन्न प्रसंगों में अपनी आलोचनाएँ लिखी हैं, उनका अपना साहित्यिक महत्व है । इसके अतिरिक्त कई कवियों की काव्य कृतियों में भिन्न प्रसंगों में काव्य-विषयक चिन्तन से संबद्ध पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं । कविता में उपलब्ध इस प्रकार की काव्य-विषयक चिन्तन से संबद्ध पंक्तियाँ विशेष रूप से विचारणीय हैं । कवि-कर्म के बीच में किसी कवि का काव्य-विचारक रूप भी उद्घाटित होता है तो उसका विशेष महत्व है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय आधुनिक हिन्दी काव्य में उपलब्ध काव्य चिन्तनपरक कविताओं का अनुशीलन है । विभिन्न युगों के कवियों की कविताओं में उपलब्ध काव्य-चिन्तन उनकी विशेष काव्य-दृष्टि का परिचायक होता है । हिन्दी में छायावादी कविता काव्य-चिन्तन की दृष्टि से संपन्न और संपुष्ट है । इस शोध-प्रबन्ध में छायावादी कविता से लेकर नयी कविता तक के प्रमुख कवियों की कविताओं में दृष्टिगत होनेवाले काव्य चिन्तन का अध्ययन किया गया है । इन कवियों ने अपनी कविताओं के बीच बीच में - काव्य-लक्ष्य, काव्य-प्रयोजन, काव्य प्रेरणा के तत्व, काव्य रचना-प्रक्रिया की विशेषताएँ - इन सबके बारे में अपने अपने विचार प्रकट किये हैं । ऐसी कविताओं को यहाँ अध्ययन का विषय बनाया है । इसके अलावा प्रत्येक काव्य-प्रवृत्ति में प्रतिपादित होनेवाले विशेष कथ्य के आधार पर भी उन कवियों के काव्य चिन्तन पर प्रकाश डाला गया है । जैसे, आत्माभि व्यक्ति को कविता की मूल भूमिका माननेवाले छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं में वेदना-तत्व को विशेष काव्य-कथ्य के रूप में स्वीकार किया है । गान को

"आह" से उपजा हुआ मानकर उन्होंने काव्य का, वेदना से अभिन्न संबन्ध माना है । इसलिए उनके काव्य चिन्तन के अन्तर्गत वेदना-तत्व को भी स्थान दिया है छायावादी काव्य-चिन्तन में प्रेम का प्रतिपादन विशेष महत्व रखता है, प्रेम विषयक विचार भी काव्य चिन्तन के अन्तर्गत निरूपित हुआ है ।

कविता में प्राप्त काव्य-चिन्तन का अध्ययन विरले ही हुआ है । डा. सुरेश चन्द्र गुप्त ने "भक्तिकालीन कवियों के काव्य सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ में हिन्दी के प्राचीन कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन किया है । उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थ "आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त" में भारतेन्दु युग से लेकर नयी कविता तक के हिन्दी कवियों के काव्यविषयक चिन्तन की ओर प्रकाश डाला है । लेकिन उन्होंने इन कवियों के काव्य-चिन्तन अभिव्यक्त करनेवाले गद्य ग्रन्थों पर अधिक बल दिया है । कोचिन विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग से और एक शोध ग्रन्थ डा. वेलायुधन ने प्रस्तुत किया है । "आधुनिक हिन्दी काव्यालोचना के विकास में प्रतिनिधि कवियों का योगदान" शीर्षक उस शोध प्रबन्ध में श्री वेलायुधन ने भी आधुनिक कवियों की गद्य-रचनाओं के आधार पर उनके काव्य-विचारों का अध्ययन किया है । मेरे शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य कवियों की कविताओं में अभिव्यक्त काव्य चिन्तन का विश्लेषण करना है ।

इस शोध-प्रबन्ध के छः अध्याय हैं । पहला अध्याय है - "कविता और काव्य चिन्तन" । इसमें कविता और काव्य चिन्तन का संबन्ध स्पष्ट करते हुए भारतीय तथा पाश्चात्य कविता में उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । प्रस्तुत अध्याय में पूर्ववर्ती कविता में अभिव्यक्त काव्य चिन्तन का अध्ययन भी किया गया है । संस्कृत से शुरू होकर, हिन्दी के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल से होते हुए आधुनिक काल में भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग तक की कविताओं में मिलनेवाले काव्य चिन्तन का अध्ययन इसमें हुआ है ।

दूसरा अध्याय "छायावादी काव्य और काव्य चिन्तन" है । इसमें प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी जैसे हिन्दी के प्रतिनिधि छायावादी कवियों द्वारा कविता में शब्द-बद्ध काव्य चिन्तन का अवलोकन किया गया है ।

"छायावादोत्तर हिन्दी कविता में काव्य चिन्तन" शीर्षक तीसरे अध्याय में छायावादोत्तर - युग के, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, दिनकर, अंचल जैसे प्रतिनिधि कवियों की कविताओं में दर्शित काव्य चिन्तन का अध्ययन किया गया है ।

चौथा अध्याय "प्रगतिवादी हिन्दी कविता और काव्य चिन्तन" है । इसमें नागार्जुन, शिवमंगल सिंह "सुमन", त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल जैसे प्रतिनिधि प्रगतिशील कवियों की कविताओं में प्राप्त काव्य चिन्तनपरक पंक्तियों की ओर दृष्टिपात करके उनके काव्य चिन्तन का स्वरूप निरूपित किया गया है ।

पाँचवाँ अध्याय "प्रयोगशील नयी कविता और काव्य चिन्तन" शीर्षक से युक्त है । इसमें प्रयोगशील नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों की काव्य चिन्तनपरक कविताओं की पहचान और परख का प्रयास किया गया है । अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र, कुंवर नारायण, दुष्यन्त कुमार, अजित कुमार, श्रीकान्त वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि अनेक प्रतिनिधि नये कवियों की काव्य दृष्टि को खंगालने की कोशिश की गयी है ।

छठा अध्याय उपसंहार है । इसमें पूर्व अध्यायों में किये गये अध्ययन का निष्कर्ष तथा हिन्दी के कवियों की ओर से, कविता में काव्य-चिन्तन की दृष्टि से जो उपलब्धियाँ हुई हैं, उनका मूल्यांकन हुआ है । काव्य चिन्तन की

दृष्टि से परखने पर हिन्दी में प्रयोगशील नयी कविता का योगदान अनुपम है जिसने कथ्य तथा शिल्प विषयक चिन्तन में एक यथार्थपरक स्वस्थ दृष्टि का परिचय दिया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिखने का प्रयास इस विभाग के प्रोफसर श्री. पी. वी. विजयन के निदेशन में संपन्न हुआ है । विजयनजी जैसे अनुभव-संपन्न, सौम्य व्यक्तित्ववाले, प्रतिभावान अध्यापक के निदेशन में शोध करने का मुझे जो अवसर मिला, वह मैं अपना सबसे बडा सौभाग्य समझती हूँ । मैं उनके प्रति चिर कृतज्ञ हूँ ।

इस विभाग के अध्यक्ष डा. रामन नायरजी का मैं आभार मानती हूँ । वे इस शोध-प्रबन्ध की पूर्ति के लिए मुझे सदैव प्रेरणा देते रहे । इस विभाग के अन्य अध्यापकों और अध्यापिकाओं ने भी अपने स्नेहपूर्ण उपदेशों के द्वारा इस शोध-कार्य को पूर्ण करने में सदा मुझे प्रेरित किया है । उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ । इस विभाग के वाचनालय की अध्यक्षा श्रीमती कुंञ्चिक्कावुट्टि तंपुरान और सहायक एम. ए. असीस के प्रति भी मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने सच्चे दिल से मेरे इस प्रयत्न में मदद की है । कोचिन विश्व विद्यालय के अधिकारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध की पूर्ति में मेरी सहायता की है ।

Santhi C

सी. शान्ति

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान व प्राद्योगिकी विश्वविद्यालय,
कोचिन, पिन-682022.

तारीख: 29 - 7 - 1989.

विषय - सूची

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - एक — 1 - 40

कविता और काव्य-चिन्तन

"काव्य" शब्द की परिभाषा - काव्यालोचना या काव्य चिन्तन की आवश्यकता - कथ्य विषयक चिन्तन - शिल्प विषयक चिन्तन - काव्य चिन्तन का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक रूप - पूर्ववर्ती कविता में काव्य चिन्तन - संस्कृत से लेकर हिन्दी के आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल में काव्य-चिन्तन का स्वरूप - आधुनिक काल में भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग में काव्य-चिन्तन

अध्याय - दो — 41 - 161

छायावादी कविता में काव्य-चिन्तन

छायावादी कविता और काव्य-चिन्तन - जयशंकर प्रसाद - सुमित्रानंदन पंत - निराला और महादेवी की कविता में काव्य-चिन्तन

अध्याय - तीन — 162 - 235

छायावादोत्तर कविता में काव्य-चिन्तन

नरेन्द्र शर्मा - रामेश्वर शुक्ल "अंचल", हरिवंश राय बच्चन और रामधारी सिंह दिनकर की कविता में काव्य-चिन्तन

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - चार — 236 - 307

प्रगतिवादी कविता में काव्य-चिन्तन

प्रगतिवादी कविता - केदारनाथ अग्रवाल - त्रिलोचन शास्त्री - शिवमंगल सिंह "सुमन" - नागार्जुन की कविता में काव्य-चिन्तन

अध्याय - पाँच — 308 - 564

प्रयोगवादी नयी कविता में काव्य-चिन्तन

प्रयोगवादी नयी कविता - अज्ञेय, मूक्तिबोध - गिरिजाकुमार माथुर - भारत भूषण अग्रवाल - भवानी प्रसाद मिश्र - शमशेर बहादुर सिंह - नरेश मेहता - रघुवीर सहाय - धर्मवीर भारती - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - केदारनाथ सिंह - कुंवर नारायण की कविता में काव्य-चिन्तन-अन्य काव्य चिन्तक कवि - नेमीचन्द्र जैन - लक्ष्मीकान्त वर्मा - जगदीश गुप्त - दुष्यन्त कुमार - श्रीकान्त वर्मा - अजित कुमार - विनय

अध्याय - छः — 565-572

उपसंहार

संदर्भ - ग्रन्थ - सूची

अध्याय - एक

कविता और काव्य-चिन्तन

काव्य-चिन्तन का तात्पर्य क्या है, इसपर विचार करने से पहले हमें "काव्य" शब्द की आन्तरिक सत्ता से अवगत होना होगा । "काव्य" या "साहित्य" सृजनात्मक अभिव्यक्ति का नाम है । प्राचीन काल से ही लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य या साहित्य के स्वरूप का अध्ययन करके उसको परिभाषित करने की चेष्टा समय समय पर की है । भारतीय विद्वानों ने काव्य को रस या एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति पर आधारित माना है । उनके अनुसार मनुष्य के लिए केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर्याप्त नहीं है । उसे मानसिक धरातल पर आनंद की उपलब्धि चाहिए । काव्य या साहित्य से उसे एक प्रकार का अलौकिक आनंद अनुभूत होता है ।

पाश्चात्य देशों में भी काव्य की परिभाषा इसी दृष्टि से की गयी है । पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि काव्य में मनुष्य-मन को शान्त तथा आनंदित करने की क्षमता निहित है । प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने काव्य को प्रबल भावों की सहज अभिव्यक्ति के रूप में माना है । जैसे उन्होंने कहा -

> **"Poetry is the spontaneous overflow of powerful emotions recollected in tranquillity".**[1]

---

1. **"Wordsworth's Poetical Works" (Wordsworth), p.935.**

काव्य शान्ति की स्थिति में संचित प्रबल भावों का स्वत: प्रवाह होता है । शान्तिपूर्ण मन की स्थिति में, पहले अनुभूत प्रबल भाव कवि के अन्दर से स्वत: अभिव्यक्ति के लिए अधीर होते हैं । ये भाव काव्य का रूप ले लेते हैं । इस प्रकार भावों की सहज अभिव्यक्ति में काव्य की उपलब्धि होती है ।

इस प्रकार काव्य में देश काल की सीमा नहीं होती । वह मात्र मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का नाम है । फिर भी इसमें एक व्यवस्थित दृष्टिकोण की जरूरत होती है । एक ओर काव्य की रचना होती रहती है तो उसके समानान्तर रूप से उसकी सैद्धान्तिक चर्चा भी होती रहती है । "भाषा बहता नीर" है । फिर भी उसके सामाजिक उपयोग में व्यवस्था लाने के लिये व्याकरण के नियमों में उसे बाँध दिया जाता है । उसी प्रकार काव्य के बहाव में एकरूपता लाने के लिए शास्त्रीय नियमों की सीमा में उसे बाँध दिया जाता है । **"An Essay on Criticism"** में आलोचना की व्याख्या यों दी गयी है - **"We must assume to begin with that literary questions are open to rational discussion. On many of them we cannot expect to reach certainity; but literary judgements are not mere 'matters of taste', like preferring tea or coffee. We can give reasons for our literary opinions, and where we can give reasons we can hope to persuade and be persuaded, and so approach a just conclusion. The art of doing this is called literary criticism, and it is to be considered as a distinct field of knowledge".**[1]

---

1. **"An Essay on Criticism" - Graham Hough - p.3.**

यहाँ ग्रहाम हौ का यही मन्तव्य है कि साहित्य की समस्याओं के बारे में कोई भी विचार कर सकता है, अपने मत प्रकट कर सकता है । लेकिन प्रत्येक मत के लिए उचित कारण देना है । इस प्रकार न्यायपूर्ण निष्कर्ष पर हम पहूँच सकते हैं ।

साधारणतया काव्यगत चिन्तन का अर्थ है काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करना । किसी भी काव्यकृति के दो प्रमुख पहलू होते हैं - कथ्य और शिल्प । काव्य-विवेचन में कथ्य या भावपक्ष के विभिन्न अंगों पर विचार होता है । जैसे काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य के तत्व, काव्य के प्रयोजन, काव्य के प्रेरक हेतु आदि अनेक विषयों की चर्चा काव्यगत कथ्य पक्ष के चिन्तन में आती है ।

उसी प्रकार काव्य का बाह्य पक्ष है - उसके शिल्प के तत्व । काव्य चिन्तन में इसका भी स्थान होता है । शिल्प पक्ष के अन्तर्गत काव्य की भाषा, काव्य-शैली, अलंकार, छन्द, प्रतीक, शब्द-योजना आदि विभिन्न तत्वों पर विवेचन किया जाता है । इस प्रकार "काव्य चिन्तन" शब्द से तात्पर्य है काव्य के आन्तरिक तथा बाह्य सभी पक्षों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना ।

काव्य के तत्वों की चर्चा करने के कई तरीके होते हैं । कुछ विद्वान काव्य-रचना न करते हैं ; परन्तु काव्य के शास्त्रीय तत्वों और नियमों का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ लिखते हैं । साहित्य में ये काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ कहे जाते हैं । जैसे पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ - **'Poetics'** भारतीय काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के उदाहरण हैं - मम्मट का "काव्य प्रकाश", भरतमुनि का "नाट्य-शास्त्र", भामह का "काव्यालंकार" आदि । यह तो काव्य-विवेचन की प्रत्यक्ष शैली है ।

लेकिन दूसरा तरीका परोक्ष है । अर्थात् कवि लोग अपने काव्यों में आनुषंगिक रूप से काव्य के तत्वों की चर्चा करते हैं । उनका लक्ष्य काव्य-लक्षण बताना या शास्त्रीय व्याख्या करना नहीं, बल्कि आनुषंगिक तौर पर बीच बीच में काव्य के विभिन्न पक्षों की चर्चा आ जाती है । उदाहरण के लिए शिव-पार्वती की समन्विति, सम्मिलित भाव दिखाने के लिए कालिदास ने कहा -

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ।[1]

कालिदास के अनुसार पार्वती-परमेश्वर की अभिन्नता काव्य के वाक् और अर्थ की अभिन्नता के समान है । यहाँ काव्यगत चर्चा प्रासंगिक रूप से आयी है ।

और एक बात यह है कि हिन्दी में आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में केवल पद्य ही साहित्य का माध्यम रहा । इसलिए उन तीनों कालों में काव्यगत विवेचन केवल पद्य में मिला । लेकिन आधुनिक काल में गद्य का विकास हुआ । आधुनिक काल के कवियों ने मुख्य रूप से गद्य कृतियों में अपनी काव्यगत मान्यताओं को उद्घाटित किया । बहुत से आधुनिक कवियों ने आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों का मूल्यांकन और अपनी कविता का समर्थन करते हुए प्रौढ आलोचनाएँ लिखी हैं जिनसे उनके साहित्यिक चिन्तन का परिचय मिलता है । साथ ही साथ कहीं कहीं इन कवियों की कविताओं में प्रासंगिक रूप से काव्य चिन्तन से संबद्ध पंक्तियाँ मिलती हैं ।

---

1. "रघुवंशम्" (कालिदास) 1/1.

इस प्रबन्ध का उद्देश्य आधुनिक हिन्दी कवियों द्वारा उनकी कविता में अभिव्यक्त काव्यचिन्तन की ओर दृष्टिपात करना है । हिन्दी कविता के इतिहास में छायावादी काव्यधारा से लेकर आधुनिक कविता का वास्तविक उपक्रम होता है । छायावादी कविता में अभिव्यक्त काव्यचिन्तन पर विचार करने के पहले उसकी पूर्ववर्ती कविता में अभिव्यक्त काव्यचिन्तन का अनुशीलन करना समुचित होगा ।

पूर्ववर्ती कविता में काव्य चिन्तन

इस प्रबन्ध का उद्देश्य आधुनिक हिन्दी कविता में - छायावाद से लेकर नयी कविता तक - अभिव्यक्त काव्य चिन्तन का अध्ययन है । इस प्रसंग में भूमिका के रूप में पूर्ववर्ती कविता में अभिव्यक्त काव्य-चिन्तन की चर्चा करना उचित होगा ।

संसार की भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करते समय ज्ञात होता है कि प्रत्येक भाषा में सर्वप्रथम पद्य विकसित हुआ । संस्कृत भाषा प्राचीन काल से ही काव्य ग्रन्थों का अक्षय कोष रहा है । यहाँ के प्राचीन ऋषिमुनियों ने केवल साहित्य का ही नहीं, बल्कि रसायन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि पर आधारित कई काव्य ग्रन्थ प्रदान किये हैं । वेदों, उपनिषदों और पुराणों के रूप में दर्शन और अध्यात्म के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे हैं । संस्कृत के काव्यचिन्तन - विषयक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर हमें मालूम होता है कि इन प्राचीन कवियों या आचार्यों का काव्य-विषयक सैद्धान्तिक ज्ञान कितना गहरा था ।

संस्कृत में काव्यशास्त्रीय चिन्तन प्रस्तुत करनेवाले आचार्यों में सबसे पहले भरत मुनि का नाम प्रसिद्ध है । भरतमुनि ने अपने "नाट्य शास्त्र" में संस्कृत के काव्य निरूपण का सूत्रपात किया । उनका प्रसिद्ध कथन है कि काव्य या नाटक का प्राण तत्व "रस" है –

"न हि रसाद् ऋते कश्चिवदर्थः प्रवर्तर्त ।"[1]

रस के बिना काव्य का अर्थ ही नहीं । रस ही काव्य का आधार है ।

भैरतमुनि के बाद संस्कृत में काव्यशास्त्रपरक चिन्तन इतना प्रबल हुआ कि अनेक आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार विभिन्न संप्रदाय भी बनाये । जैसे रस-संप्रदाय, अलंकार-संप्रदाय, वक्रोक्ति-संप्रदाय, छनि-संप्रदाय, रीति-संप्रदाय आदि । इनमें काव्य में अलंकारों को सबसे प्रमुख स्थान देते हुए आचार्य भामह ने अपने "काव्यालंकार" में काव्य की सैद्धान्तिक चर्चा प्रस्तुत की है । काव्य का प्रयोजन व्यक्त करते हुए भामह लिखते हैं –

"धर्मार्थ काम मोक्षेषू वैचक्षिण्यं कलासू च
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य निषेवणम् ।।"[2]

अर्थात् काव्य देवी की सेवा से मनुष्य को चार पुरुषार्थों और कलाओं में निपुणता मिलती है । इसके अलावा सबसे प्रीति और कीर्ति भी मिलती है ।

भामह की काव्यचिन्तनपरक उक्तियों में उनकी काव्य परिभाषा महत्वपूर्ण है –

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[3]

---

1. नाट्य शास्त्र 6/31 से संबद्ध गद्य व्याख्या
   नाट्यशास्त्र भरत,
2. "काव्यालंकार" – भामह 1/2 – पृः 1.
3. वही – पृः 6. 1/16.

अर्थात् काव्य में शब्द और अर्थ का सहभाव होता है । काव्य के प्रयोजनों को बतानेवाली आचार्य मम्मट की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ काव्य-चिन्तन का एक सुन्दर उदाहरण है -

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे ।।"[1]

अर्थात् काव्य से यशःप्राप्ति, अर्थ-लाभ, लोक-व्यवहार-ज्ञान, रोगनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि में आनन्द का अनुभव और प्यारी पत्नी के समान मन भावन उपदेश आदि प्रयोजन मिलते हैं ।

संस्कृत के महान् कवि जयदेव ने अलंकार का महत्व उद्घोषित करते हुए काव्य का लक्षण बताया है -

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।।"[2]

अर्थात् अलंकार-रहित रचना को काव्य मानना अग्नि को अनुष्ण मानने के समान अनुचित है ।

संस्कृत के ध्वनि-संप्रदाय के विद्वान आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा का स्थान दिया है -

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।"[3]

संस्कृत के प्रतिष्ठित आचार्य जगन्नाथ ने काव्य में सौन्दर्य को महत्व देते हुए अपना दृष्टिकोण एक मनोहर श्लोक में व्यक्त किया है -

---

1. काव्य प्रकाश - (मम्मट) 1/2 - पृः 2.
2. "चन्द्रालोक" - 1/8 (जयदेव) पृः 10.
3. "ध्वन्यालोक" - 1/1 (प्रथमः उद्योतः) पृः 11.

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"[1]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य कहलाता है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भरतमुनि से लेकर आचार्य जगन्नाथ तक संस्कृत के शत शत मेधावी आचार्यों से संस्कृत में काव्य-चिन्तन प्रौढ और समृद्ध रूप में उपलब्ध है । यह भी ध्यातव्य है कि संस्कृत में काव्य शास्त्रीय चिन्तन मुख्य रूप से कविता में, याने पद्य में उपलब्ध है । संस्कृत की परंपरा में आनेवाली हिन्दी में भी काव्य विषयक चिन्तन कविता में स्थापित है । पूरे रीतियुग में काव्य शास्त्रीय चर्चा का प्रमुख माध्यम पद्य रहा । रीतिकाल के पहले भी काव्य विषयक विचार के बिखरे अंश कविता में उपलब्ध हैं ।

हिन्दी कविता के आदिकाल में वीर गाथाओं की रचना होती थी । राजपूत राजाओं के युद्ध करते समय, ओज और उत्साह बढाने योग्य वीरगाथाएँ रचकर गाना कवियों का एकमात्र लक्ष्य था । इसलिए काव्य के सैद्धान्तिक या शास्त्रीय तत्वों पर उन्होंने चिन्तन नहीं किया, जो स्वाभाविक भी है । आदिकाल के प्रथम स्मरणीय कवि चन्द बरदायी ने अपने काव्य "पृथ्वीराज रासो" के आरंभ में, प्रासंगिक रूप से, काव्य संबन्धी कुछ बातें लिखी हैं ।

"आसा महीव कष्बी, नव नव कित्तीय संग्रहं ग्रन्थं ,
सागर सरस तरंगी, वोहथ्थयं उक्तियं चलयं ।"[2]

---

1. "रसगंगाधर" //1// - प्रथम आनन §जगन्नाथ§ - पृः 9.
2. "पृथ्वीराज रासो" §महाकवि चन्द बरदाई§ प्रथम भाग - पृः 9.

नूतन कीर्ति को ग्रन्थ में संग्रह करने की, कवि की आशा ही स्थल है । सरस्वती की तरंगे ही सिन्धु तरंग है, जिसमें सूक्ति रूपी नौकाएँ तैरती हैं ।

"काबि समँद कबि चंद कृत, मुगति समप्पन ज्ञान,
राजनीति वोहिय सुफल, पार उतारण पान ।।"[1]

कवि चन्द कहता है कि मैं ऐसे काव्य-समुद्र की रचना करता हूँ जिसमें ज्ञान रूपी मोती मिलते हैं और जिसको राजनीति रूपी नावें और रचना की सफलता रूपी हाथ ही पार कर सकते हैं ।

और एक कवित्त में उन्होंने अपने काव्य का स्वरूप समझाया है -

"अति ढंक्यौन उधार, सलिल जिमि सिख सिवालह,
वरन वरन सु व्रीत्ति, हार चतुरंग बिसालह ।
विमल अमल वाणी विलासु, बयन बानी बर ब्रंननु ,
जुत अजुत जुक्ति विचार बहू वयन छन्द छुटौ न कह
घटि वद्दिढ कोई मत्तह पढौ चन्द दोसु बिज्जे न यह ।"[2]

कवि कहता है कि इस काव्य का मर्म काई से आच्छादित जल के सदृश है जो न तो अधिक गुप्त है और न अधिक स्पष्ट है । इसका प्रत्येक वर्ण और वृत्त चतुर पुरुषों के अंग का विशाल हार है । इसका वर्णन विलास (रचना विनोद) अमरवाणी (संस्कृत) और श्रेष्ठ वयन भाषा में है । वक्ताओं के लिए इसमें वयन विनोद है जो कि श्रोताओं के मन को मोद देने व हरण करनेवाला है । युक्तिसहित और युक्ति रहित का विचार रखते हुए इसमें प्रवेश कीजिए और

---

1. "पृथ्वीराज रासो" (चन्द बरदाई) प्रथम भाग - पृः 10.
2. वही - पृः 11.

बोलचाल की भाषा में वर्णित छन्दों को ही पढिये । उससे दूर पडे छन्द को न पढे और मात्रादि में घटा बढी करके भी मुझ कवि चन्द को दूषित नहीं करें ।

इन पंक्तियों में परोक्ष रूप से कवि चन्द ने काव्य के प्रयोजन पर संकेत किया है । काव्य का आस्वादन श्रोताओं के मन को विनोद या आनंद देता है । काव्य-मर्म के संबन्ध में उनका मत है कि वह न तो अधिक स्पष्ट हो, न अधिक गुप्त हो । आगे एक जगह उन्होंने लिखा है –

"उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसः
षट् भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया ।।"[1]

कवि कहता है कि मैं ने इस ग्रन्थ में सूक्तियाँ, उच्च धर्म, राजनीति, नव रस, षड् भाषा, पुराण की शैली के लिए हुए और कुरान अर्थात् यवनभाषायुक्त वर्णन किया है । यहाँ भी उनका यही संकेत है कि कविता केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि राजनीति, धर्म, नवरस आदि विभिन्न विषयों का व्यापक और गहरा ज्ञान देनेवाली है ।

आदिकाल के प्रसिद्ध श्रृंगारी कवि विद्यापति ने अपनी प्रसिद्ध रचना "कीर्तिलता" में भाषा के बारे में जो विचार प्रस्तुत किया है वह काव्यचिन्तन की कोटि में रखी जा सकती है –

"बालचन्द विज्जावइ भाषा,
दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा ।
ओ परमेसर सिर सोहइ ई
णिच्चइ नाअर मन मोहइ ।।"[2]

---

1. "पृथ्वीराज रासो" (चन्द बरदाई) पृः 12 – सं कविराव मोहन सिंह प्रथम भाग
2. "कीर्तिलता" (विद्यापति) सं बाबूराम सक्सेना – पृः 4.

बालचन्द्र और विद्यापति की भाषा - इन दोनों को दुर्जन की हँसी नहीं लगती, क्योंकि वह चन्द्रमा परमेश्वर महादेव के मस्तक पर विराज कर शोभा को प्राप्त है और यह (भाषा) नित्य ही नागरिकों का मन मोहती है । आगे वे कहते हैं कि

"सक्कय वाणी वहुअ (न) भावइ, पाऊँ अरस को मम्मन पावइ ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा ।।"[1]

संस्कृत भाषा बहुत लोगों को, दुर्गम होने के कारण, भली नहीं लगती, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती । देशी भाषा सब लोगों को मीठी लगती है, इसीलिए अवहट्ठ (अपभ्रंश) में रचना करता हूँ । यहाँ विद्यापति ने देशी भाषा के महत्व पर विचार किया है ।

इस प्रकार यह विदित होता है कि हिन्दी का आदिकाल काव्य चिन्तन की दृष्टि से बिलकुल सूना नहीं है । आदिकाल के बाद हिन्दी कविता ने भक्ति-युग में प्रवेश कर लिया । भक्तिकाल के कुछ एक कवियों की रचनाओं में कहीं कहीं काव्य विषयक चिन्तन से संबन्धित कुछ उक्तियाँ मिलती हैं । इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल के कवि केवल भक्त ही नहीं, बल्कि वे काव्यशास्त्र के ज्ञाता भी थे ।

---

1. "कीर्तिलता" (विद्यापति) सं बाबूराम सक्सेना - पृः 6.

भक्तिकालीन संत कवियों की कविता में काव्य-चिन्तन

भक्तिकाल के संत कवियों ने कविता को अपनी निर्गुण साधना से संबन्धित अनुभूतियों और सिद्धान्तों को प्रकाशित करने के एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया था । लेकिन अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों और दार्शनिक चिन्तनों की अभिव्यक्ति के बीच में कहीं उनके काव्य-विषयक चिन्तन की झलक मिलती है । उदाहरण के लिए कबीरदास का निम्नलिखित दोहा ले सकते हैं जिसमें कवि ने काव्य के प्रयोजन के बारे में संकेत किया है -

"ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै औरों कौं सुख होई ।।"[1]

कबीर के मत में वाणी का प्रयोग अपने अहं का परिहार करे और औरों के मन में सुख के लिए हो । वाणी तन-मनों को शीतल करने में सक्षम हो । यों वाणी वक्ता तथा श्रोता के लिए सुखदायी हो ।

और एक दोहे में कबीरदास ने काव्य रचना के लिए पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर सांसारिक अनुभव से संप्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्व पर बल दिया है -

"पोथी पढि पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
का पढिए का गुनिए, का वेद पुराना सुनिए
पढै, गुनैं क्या होई, जड सहज न मिलिऔ सोई ।।[2]

---

1. "कबीर ग्रन्थावली" - (डा.पारसनाथ तिवारी) - पृः 195.
2. वही - पृः 241.

अर्थात् ग्रन्थ पढते पढते जग तो जड हो गया । ग्रन्थ पढकर एक व्यक्ति भी पण्डित नहीं हुआ । ग्रन्थों का अध्ययन करने से या वेद पुराण सुनने से कोई फायदा नहीं है । लेकिन जिसे सहज रूप से ही ज्ञान मिलता है वही ज्ञानी हो सकता है । यहाँ कबीर का यही मत है कि ग्रन्थ-ज्ञान की अपेक्षा स्वाभाविक अनुभव ज्ञान का ही महत्व है ।

अपने एक दोहे में कबीरदास ने काव्य के प्रयोजन पर विचार प्रस्तुत किया है ।

"हरीजी यहै बिचारियां, साषी कहौ कबीर ।
भौ सागर में जीव है, जो कोई पकडै तीर ।।"[1]

भवसागर में पडे हुए जीवों को किनारे तक पहूँचाने के लिए कबीर की साखी उपयोगी है । इसमें भवसागर से मुक्ति को वे काव्य-लक्ष्य मानते हैं ।

पंडितों की जड भाषा संस्कृत की अपेक्षा जीवन्त जन भाषा की महत्ता को रेखांकित कर कबीर ने जो कहा वह विचारणीय है -

"संस्किरति कूपजल है,
पाखा बहता नीर"[2]

---

1. "कबीर वचनामृत" सं. डा मुंशीराम शर्मा - पृ: 105.
2. "कबीर ग्रन्थावली" (डा. पुष्पलाल सिंह) - पृ: 18.

कबीर का विचार है कि संस्कृत कुएँ के जल के समान जीवन-प्रवाह से वंचित है, लेकिन जन भाषा बहते पानी के समान निर्मल और प्रवाहमान है । निरन्तर गतिशील होने से जनभाषा प्रगति पथ पर अग्रसर होती है । स्पष्ट है कि कबीर जैसे भक्तिकालीन कवि जन भाषा के पक्षधर थे ।

संत कवियों में सुन्दरदास ने काव्य शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था । उनके कई दोहों में काव्य के शास्त्रीय पक्ष मिलते हैं । संत कवियों में मात्र सुन्दरदास ने काव्य के शिल्प पक्ष की सूक्ष्मताओं पर ध्यान दिया है । उन्होंने शुद्ध भाषा, छन्द के उचित प्रयोग और अर्थव्याप्ति से युक्त सुन्दर काव्य को स्वीकार्य माना है -

"जा बागी हरि कौं लियें सुन्दर वाही उक्त ।
तुक अरु छन्द सबै मिलैं होइ अर्थ संयुक्त ।।[1]

सुन्दरदास के अनुसार हरि की गाथा करनेवाली वाणी सुन्दर रूप से उक्त हो । उसमें तुक और छन्द की सम्यक् अन्विति हो और जो अर्थ का उचित द्योतन करे । यहाँ सुन्दरदास ने भाव और शिल्प दोनों को काव्य के लिए अपेक्षित माना है ।

इनके अतिरिक्त रैदास, मलूक दास, गुरु नानक आदि संत कवियों ने भी अपनी कविताओं में काव्य के कथ्य तथा शिल्प से संबन्ध रखनेवाले विषयों की चर्चा की है । लेकिन ये परिमाण में बहुत कम हैं । क्योंकि काव्यांगों का निरूपण उनका उद्देश्य नहीं था । वे कविता को अपने आध्यात्मिक चिन्तन के प्रचार का एक साधन ही मानते थे ।

---

1. "सुन्दर ग्रन्थावली" - द्वितीय खण्ड - पृ: 737 (सुन्दर दास)
सं. पुरोहित हरिनारायण शर्मा

भक्तिकालीन प्रेममार्गी कवियों की कविता में काव्य-चिन्तन

संत कवियों के समान कतिपय प्रेममार्गी कवियों ने भी अपने काव्यों में यत्र-तत्र काव्य-विषयक चिन्तन व्यक्त किया है । संत कवियों की अपेक्षा प्रेम-मार्गी कवियों ने काव्य के विभिन्न पक्षों पर बहुत कुछ चिन्तन किया है । शीर्षस्थ प्रेमाख्यानक कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से काव्य का विवेचन नहीं किया है । "पदमावत" में अनुभूतिमयी काव्य की मार्मिकता को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है -

"कवि कै जीभ खरग हिखानी,
एक दिसि आग दोसर दिसि पानी ।।"[1]

अर्थात् कवि की वाणी तलवार के समान तीव्र प्रभावशाली होने के कारण युद्ध और शान्ति दोनों के प्रेरक भावों के प्रतिपादन में समर्थ है ।

और एक पंक्ति में जायसी ने काव्य-प्रयोजन-संबन्धी अपने दृष्टि-कोण को समझाया है -

"औ मैं जानि कवित्त अस कीन्हा,
मकू यह रहै जगत मँह चीन्हा ।
जो यह पढै कहानी,
हम्ह सँवरै दुइ बोल ।।"[2]

---

1. "पदमावत" - जायसी - पृ: 566. (सं. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल)
2. वही - उपसंहार खण्ड - पृ: 876.

उनका कथन है कि उन्होंने इसलिए कविता की है ताकि जगत में अपने कुछ चिह्न छोड सकें । यह कहानी जो पढेगा, वह हमारे लिए दो शब्द स्मरण करेगा ।

उनकी अन्य कुछ पंक्तियों में भी काव्य के लक्ष्य का वर्णन हुआ है -

"मुहमद यहि कवि जोरि सुनावा,
सुना जो प्रेम परि गा पावा ।
जोरी लाइ रकत कै लेई,
गाढी प्रीति नैन जल भेई ।।"[1]

कवि कहते हैं कि इस प्रणय-कथा के कथन का लक्ष्य सुननेवाले को भी प्रेम-पीर से आप्लावित करना है ।

मंझन की कविता में काव्य चिन्तन

कवि मंझन का लोकप्रिय ग्रन्थ है "मधुमालती" । इसमें कहीं कहीं उन्होंने अपना काव्यशास्त्र विषयक विचार व्यक्त किया है । मंझन ने यश को उत्तम काव्य-कृति का सहज फल माना है । वे कहते हैं -

"कविता गात जबहिं लहि रहइ जगत महँ नाउँ ।"[2]

जब तक कृति नष्ट नहीं होती, तब तक कवि भी अमर रहता है ।

---

1. "पदमावत" - जायसी - उपसंहार खण्ड - पृ: 876 (सं. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल).
2. "मधुमालती" (मंझन) पृ: 482 - (सं. डॉ. माताप्रसाद गुप्त).

प्रेममार्गी कवि उसमान की कई उक्तियों से हमें यह ज्ञात होता है कि वे काव्य-शास्त्र के ज्ञाता थे । रस के बारे में उनकी एक पंक्ति मिलती है -

"नौ रस के पुनि भेद सुनाए,
अभिनव भाव सबै समुझाए ।"[1]

इसमें नवरस के भेदों से उनके परिचय का संकेत मिलता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रेममार्गी कवियों में जायसी, मंझन, उसमान आदि कवियों ने आनुषंगिक रूप से काव्य के प्रयोजन और लक्ष्य पर प्रकाश डाला है । उन्होंने मुख्य रूप से यह संकेत करना चाहा है कि वे क्यों काव्य रचना करते हैं ।

कृष्ण भक्त कवियों की कविता में काव्य-चिन्तन

कृष्ण भक्त कवियों के सिर-मौर सूरदास ने "सूरसागर" में मुख्यतः कृष्णलीलावर्णन ही किया है । इसलिए "सूरसागर" में काव्यांगों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन बहुत कम हुआ है । फिर भी परोक्ष रूप से कई उक्तियाँ उनकी काव्य विषयक धारणा को वाणी देती हैं - सूरदास सगुणलीला का वर्णन करना अपना ध्येय मानते हैं -

"सब बिधि अगम विचारहिं तातैं
सूर सगुन पद गावै -"[2]

निर्गुण ईश्वर की उपासना अत्यन्त कठिन है । इसलिए सूरदास ईश्वर की सगुण भाव में उपासना करके, उनकी लीलाओं का गान करना चाहते हैं । यहाँ सूर

---

1. "चित्रावली" (उसमान) पृः 217 (संपादकः जगन्मोहन वर्मा).
2. "सूरसागर" (पहला खण्ड) - सूरदास - पृः । (सं. नन्ददुलारे वाजपेयी).

स्पष्टतः कहते हैं कि सगुण लीलाओं का गायन उनकी कविता का लक्ष्य है । भगवान के लीला-गायन के द्वारा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय पद्धति को वे अपनाते हैं । और एक जगह उन्होंने लिखा है -

"सूरदास यह लीला गावै,
कहत सुनत सबकैं मन भावै ।"[1]

अर्थात् सूरदास मानते हैं कि सबके मन को आनंद देना काव्य का प्रयोजन है ।

सूरदास ने रस मग्नता को कवि के लिए अनिवार्य माना है -

"नीरस कवि न कहै रस-रीति,
रसिकहि रस-लीला पर प्रीति ।"[2]

रस के बिना कवि का धर्म पूर्ण नहीं होता । रसिक ही रस-लीला का वर्णन कर सकेगा ।

अष्टछाप के कवियों में काव्य चिन्तन की दृष्टि से कवि नन्ददास अग्रणी हैं । उन्होंने रीति-पद्धति के अनुसार "रस मंजरी" और "विरह-मंजरी" में काव्य-सिद्धान्तों का सम्यक् निरूपण किया है । रस के विभिन्न पक्षों के रूप में उन्होंने भक्ति रस, श्रृंगार रस तथा अद्भुत रस का चित्रण किया है । काव्य में रस का स्थान उनके लिए सबसे महत्वपूर्ण है ।

"हरि जस रस जिहि कबित नहिं, सुन कवन फल ताहि ।"[3]

हरियश के रस के बिना लिखी हुई कविता, कविता नहीं हो सकती ।

---

1. "सूरसागर" (सूरदास) पहला खण्ड - पृः 393. (सं. नन्ददुलारे वाजपेयी)
2. वही - पृः 667.
3. नन्ददास ग्रन्थावली - रूपमंजरी (नन्ददास) पृः 104 (सं. व्रजरलदास).

परमानंददास, छीत स्वामी, कुंभनदास आदि अन्य कृष्णभक्त कवियों ने भी विभिन्न प्रसंगों में भगवान के लीलागान को अपना लक्ष्य कहकर कविता के प्रयोजन की ओर इशारा किया है । इन सब कवियों ने रसात्मकता को काव्य का प्राण तत्व माना है ।

रामभक्त कवियों की कविता में काव्य चिन्तन

रामभक्त कवियों के अग्रणी तुलसीदास ने जीवन की समग्र और सफल अभिव्यक्ति द्वारा अपने काव्य को अमर बनाया है । जिस प्रकार उनके काव्य में उनका लोकमंगलकारी जीवन दर्शन लक्षित होता है, उसी प्रकार एक सुविचारित काव्यदर्शन भी प्रकट होता है । काव्य की अर्थ-गरिमा और अभिव्यक्ति की अभिन्नता उन्होंने पानी और तरंगों के उदाहरण के द्वारा मार्मिक ढंग से समझाया है -

"गिरा अर्थ जल बीचि सम,
कहिअत भिन्न न भिन्न ।"[1]

जल और तरंग के समान, शब्द और अर्थ भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं । जल से लहर उठती है । कुछ क्षणों के लिए उसका अस्तित्व हम पहचान सकते हैं । वह जल में ही विलीन हो जाती है । उसी प्रकार कविता में शब्द और अर्थ अलग अलग चीजें नहीं हैं । काव्य में शब्द और अर्थ का, कलापक्ष और भावपक्ष का अलग अलग अस्तित्व मानना असंगत है । शब्द और अर्थ में सचमुच अद्वैत का संबन्ध है । शब्द में ही, भाव या अर्थ समा रहता है ।

---

1. "रामचरित मानस" (तुलसीदास) पृ: 28.

कथ्य और [illegible] के समन्वय से युक्त एक स्वस्थ रचना-दृष्टि उनकी विशेषता थी । उन्होंने कवित्व का यही दृष्टिकोण यहाँ दिया है -

"आखर अरथ अलंकृति नाना,
छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना ।
भावभेद रसभेद अपारा,
कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा ।।"[1]

अर्थ के साथ अलंकृति, छन्द-सौन्दर्य, भाव और रस के विभिन्न भेद कविता का सौन्दर्य प्रदान करते हैं ।

तुलसीदास के विचार में सीपी में गिरा स्वाति-बून्द जिस प्रकार मोती के रूप में बदल जाता है उसी प्रकार देवी सरस्वती की कृपा कवि की, हृदय-सिन्धु की बुद्धि रूपी सीपी में रहकर काव्य-रूपी अमूल्य मोती बन जाती है -

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना,
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ।
जो बरिसइ बर बारि बिचारू ।
होइ कवित मुकुतामनि चारू ।।"[2]

यहाँ तुलसीदास ने कवि-कर्म को ईश्वरीय गुण से संबन्धित बताया है जो हर किसीको प्राप्त नहीं होता ।

---

1. "रामचरित मानस" (तुलसीदास) - पृ: 15.
2. वही - पृ: 18 (बालकाण्ड).

तुलसीदास के अनुसार जन-कल्याण ही कविता का लक्ष्य है -

"जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं ।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ।
कीरति भनिति, भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कह हित होई ।।"[1]

जो कविता बुध-जनों से आदृत नहीं होती, वह विफल है । जो सहृदय कवि है, उसीकी कविता इस प्रकार जनकल्याणकारी और कीर्ति से युक्त हो जाती है ।

तुलसीदास की दृष्टि में, कविता में समस्त ज्ञान-विज्ञानों का समन्वय होता है । समस्त उपलब्ध ज्ञान-विज्ञानों को मनोहर भाषा में कवि लोकहित के लिए मानवता के सामने प्रस्तुत करता है । उससे कवि का अन्तर्मन भी आनंदित होता है । काव्य का यह लक्ष्य उन्होंने अपने प्रसिद्ध श्लोक में समझाया है -

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति ।।"[2]

जैसे वे कहते हैं - पुराण, वेद, स्मृति सभी में उपलब्ध ज्ञान को और अन्यत्र से उपलब्ध ज्ञान को भी "रामचरितमानस" में पिरो दिया है और इस प्रकार रघुनाथ की गाथा कहनेवाला अत्यंत मंजुल भाषा-निबन्ध तुलसी ने स्वान्तः सुख के लिए प्रस्तुत किया है । यहाँ पर तुलसी ने आत्म सुख पर बल दिया है ।

---

1. "रामचरित मानस" (तुलसीदास) पृः 22 (बालकाण्ड).
2. वही - पृः 2 प्रथम सोपान-श्लोक - 7.

कई कई पंक्तियों में उन्होंने लोक मंगल पर प्रकाश डाला है । वस्तुतः उनमें आत्मसुख और लोकहित का समन्वय है । अर्थात् काव्य रचना का लक्ष्य एक ओर आत्मानंद है तो दूसरी ओर लोक-कल्याण है । मात्र आत्म सन्तोष कृति का लक्ष्य नहीं है ।

इन कतिपय उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि तुलसीदासजी ने काव्य के प्रयोजन, कथ्य तथा शिल्प के विषय में अपने विचार काव्य के विभिन्न प्रसंगों में व्यक्त किये हैं ।

इस धारा में आनेवाले अन्य रामभक्त कवियों की कृतियों में तुलसी-जैसा प्रौढ काव्य विषयक चिन्तन दर्शित नहीं होता ।

रीतिकालीन कविता में काव्य चिन्तन

रीतिकाल नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में रीति-ग्रन्थों की रचना की प्रवृत्ति प्रमुख थी । रीतिग्रन्थ से अभिप्राय काव्यशास्त्र-ग्रन्थों से है । यों इस युग में कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति काव्यशास्त्रीय चिन्तन की थी । रीतिबद्ध कवियों का काव्य चिन्तन ही उनकी कविता का प्रमुख कथ्यों में एक रहा है । इनमें कुछ कवियों ने केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखकर "आचार्य" का स्थान पा लिया ।

रीतिकाल की हिन्दी कविता रीतिबद्ध काव्य, रीति-सिद्ध काव्य और रीति मुक्त काव्य - इन तीन विभागों में प्राप्त होती है । इनमें रीतिबद्ध काव्य वह है जिसमें संस्कृत के रीतिग्रन्थों की परंपरा पर आधारित, काव्य के

विभिन्न तत्वों का शास्त्रीय विवेचन हुआ था । काव्यशास्त्रीय तत्वों के वेत्ता ये आचार्य कवि काव्य को अपने काव्यशास्त्र विषयक ज्ञान का चमत्कार दिखाने का एक माध्यम मानते थे । जैसे कृपाराम, केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर, भिखारीदास आदि कवि रीतिग्रन्थों की परंपरा के अनुसार काव्यशास्त्रीय निरूपण करते थे । रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा, बल्कि इन लक्षणों के उदाहरण के रूप में, रीति-परंपरा पर आधारित स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे । बिहारी, सेनापति, बेनी, कृष्ण, रसनिधि आदि कुछ कवियों के नाम इस कोटि में आते हैं । इनके अलावा कुछ कवियों ने रीति-परंपरा का अनुसरण न करते हुए स्वच्छन्द काव्य लिखा । ऐसे कवि रीतिमुक्त कहलाते हैं । घनानंद, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव आदि कवियों ने काव्य रूढ़ियों को छोडकर काव्य में स्वानुभूत भावों की अभिव्यक्ति की ।

रीतिबद्ध कविता में काव्य चिन्तन

रीतिबद्ध कविता में काव्य के विभिन्न पक्षों तथा तत्वों का निरूपण ही मिलता है । आचार्य कवियों ने संस्कृत के रस-संप्रदाय, अलंकार-संप्रदाय आदि विभिन्न संप्रदायों के आधार पर काव्य के लक्षणों का निरूपण किया । हिन्दी के काव्यशास्त्रवेत्ता आचार्यों ने काव्यविषयक जो चिन्तन प्रस्तुत किया है उसका हम यों अवलोकन कर सकते हैं ।

हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों में सबसे पहले श्री केशवदास का नाम आता है । आचार्य केशवदास रीतिकाल के प्रतिनिधि आचार्य कवियों में है जिन्होंने अपने ग्रन्थों में रस तथा अलंकार दोनों पर विचार किया है ।

कविता में भाव और कला का सामंजस्य महत्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने लिखा है -

"सगुन पदारथ अर्थजुत, सुबरनमय सुभ साज ।
कंठमाल ज्यों कविप्रिया, कंठ करहू कबिराज ।।"[1]

गुण और अर्थ से युक्त सुन्दर शब्दों और अलंकारों से युक्त कविता भाषा का कंठहार जैसी शोभित होती है । अलंकारों का महत्व स्थापित करनेवाला उनका दोहा बहुत प्रसिद्ध है –

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन, सरस, सुवृत्त ।
भूषन बिनु न विराजहीं कविता वनिता मित्त ।।"[2]

इसमें उन्होंने स्थापित किया है कि जाति, वर्ण, लक्षण और स्वभाव के अच्छे होते हुए भी नारी भूषणों के बिना शोभित नहीं होती । उसी प्रकार सुजाति, सुलक्षण, सुवर्ण, सरस एवं सुवृत्त होने पर भी कविता अलंकार के बिना शोभित नहीं होती । उनकी दृष्टि में कविता का शोभा विधायक तत्व अलंकार है ।

"रसिकप्रिया" में केशवदास ने अपने एक दोहे में नव रसों में श्रृंगार का महत्व स्थापित किया है –

"नवहु रस के भाव बहु तिनके भिन्न विचार ।
सबको केशवदास हरि, नायक है श्रृंगार ।।"[3]

अर्थात् नवरसों में प्रत्येक के भी बहुत से भाव होते हैं । किन्तु पूर्ण रस प्रस्तार का नायक श्रृंगार ही है ।

---

1. केशव ग्रन्थावली – खण्ड–1 – (कविप्रिया) – पृः 101.
   (सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
2. वही – पृः 112.
3. वही – पृः 2.

केशवदास के बाद काव्यशास्त्र ग्रन्थों की अविच्छिन्न परंपरा मिलती है । इनमें सबसे पहले आचार्य चिन्तामणि का नाम आता है । उन्होंने "श्रृंगार मंजरी", "कविकुलकल्पद्रुम" आदि अपने ग्रन्थों के द्वारा रस निरूपण किया है । चिन्तामणि के अनुसार रस की उत्पत्ति इस प्रकार होती है –

"गनि विभाव, अनुभाव अरू संचारीन मिलाई ।
जिन थाई है भाव जोसो रस रूप गवाई ।।"[1]

अर्थात् सामाजिक के हृदय में स्थित स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से सम्मिलित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है ।

रीतिकाल के आचार्यों में मतिराम का नाम प्रसिद्ध है जिन्होंने अलंकार पर विवेचन किया है उनकी रचना "ललित-ललाम" में अलंकार की परिभाषा यों दी गयी है –

"रस अर्थन ते भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि ।
चमत्कार भूषण सरिस, भूषन मानत ताहि ।।"[2]

अर्थात् अलंकार या भूषण वह है जो आभूषण के समान हो । रस और अर्थ से पृथक् तथा शब्द और अर्थ पर सजाया गया हो ।

मतिराम ने श्रृंगार को रसराज माना था । उनके अनुसार नायक-नायिका पर आधारित श्रृंगार का श्रेष्ठ वर्णन करना कवि का लक्ष्य है –

---

1. "कविकुल कल्पतरु" (चिन्तामणि) पंचम प्रकरण, दोहा 48
2. "काव्यशास्त्र" (प्रधान संपादक हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) – पृ: 120.

"जो बरनत तिय पुरुष को कवि कोविद रति भाव ।
तासों रीझत हैं सुकवि सो सिंगार रसराज ।।"[1]

उनके अनुसार स्त्री-पुरुष के रतिभाव का जो कवि वर्णन करता है, वह काव्य पर्गत सामाजिकों को आनंदित करता है । उन्होंने काव्य को श्रृंगार रसमय दृष्टि से देखा है । रीतिबद्ध कवियों में कवि देव का काव्य चिन्तन अत्यधिक सुस्पष्ट है । उनकी दृष्टि में कविता निश्चियत रूप से ऐसा शब्दार्थ है जो रसात्मक होने के कारण आनंदमय है । वे कहते हैं -

"कामधेनु सो काव्य है, शब्द, अर्थ रस दूध ।
सुख माखन भोगति सुमति, वचन सुधानिधि सूध ।।"[2]

अर्थात् काव्य तो कामधेनु के समान है, जो शब्द, अर्थ एवं रस रूपी दूध देती । इन तीनों से प्राप्त सुख ही उसका नवनीत है, जिसका उपभोग सुबुद्ध सामाजिक करता है ।

कवि भिखारीदास ने रस-प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन करने में सफलता पायी है । उन्होंने कविता को रस, अलंकार, गुण के समन्वय के रूप में स्वीकार किया है -

"रस कविता को अंग, भूषण है भूषण सकल ।
गुण, रूप और अंग, दूषण करै कुरूपता ।।"[3]

---

1. मतिराम ग्रन्थावली - रसराज- छन्द 342 संपाद कृष्णबिहारी मिश्र
2. "शब्द रसायन" (देव) प्रथम प्रकाश - पृः 3.
3. "काव्य निर्णय" (भिखारीदास) - पृः 6 (सं. जवाहरलाल चतुर्वेदी).

कविता का स्वरूप रसमय, अलंकारमय, गुणमय एवं दोष रहित है । भिखारीदास ने रस विषयक अपनी मान्यताओं को सफल रूप से प्रकाशित किया है ।

पद्माकर रीतिकाल के काव्य निरूपकों में अपना अलग स्थान रखते हैं । उन्होंने भी श्रृंगार को सभी रसों में सिर-मौर कहा है -

"नव रस में श्रृंगार रस, सिरे कहत सब कोई ।
सुरस नायिका नायकहिं, आलंबित ह्वै कोई ।।"[1]

पद्माकर की राय में रसीले नायक-नायिका ही श्रृंगार रस के आलंबन होते हैं, तथा श्रृंगार रस सब रसों में सिर मौर है ।

कवि भूषण ने अपने गंभीर काव्य ज्ञान का परिचय अपने काव्य "शिवराज भूषण" में दिया है । उन्होंने अलंकारों में उपमा को शिरोमणि अलंकार माना है -

"भूषन सब भूषनमिमै, उपमहि उत्तम चाहि ।
याते उपमहि आदि दै, बरनत सकल निबाहि ।।"[2]

अलंकारों में उपमा ही उत्तम है । इसलिए वे उपमा से लेकर अलंकारों का वर्णन करना चाहते हैं । भूषण को छोडकर अन्य रीतिबद्ध कवियों का लक्ष्य श्रृंगार संबन्धी कविता करना था । इसके लिए उन्होंने रीति निरूपण का बहाना बनाया । सब रीतिबद्ध कवियों की कृतियों में काव्य तत्वों की चर्चा मिलती है । वह संस्कृत के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों पर आधरित है । इसलिए उनपर विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है ।

---

1. "जगद्विनोद" (पद्माकर) पद्माकर ग्रन्थावली सं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - पृ: 80.
2. "शिवराज भूषण" - भूषण - पृ: 15.

रीतिसिद्ध कविता में काव्य चिन्तन

रीतिबद्ध कवियों ने काव्य के लक्षण लिखकर आचार्यत्व प्राप्त कर लिया । लोकप्रिय रीतिसिद्ध कवि बिहारी ने लक्षणों के उदाहरण के रूप में काव्य रचना की । उन्होंने रीतिग्रन्थ न लिखकर अपने काव्य में रीति के विभिन्न तत्वों के उदाहरण प्रस्तुत किये । इस प्रकार रीति तत्वों को सिद्ध किया ।

उनका काव्य रीतिकालीन श्रृंगार काव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है । लेकिन काव्य के मर्मज्ञ बिहारी ने प्रसंगानुकूल उक्तियों से अपनी काव्यपरक मान्यताओं को बडे रोचक ढंग से व्यक्त किया है । काव्य के अलौकिकत्व के संबन्ध में बिहारी का यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है –

"तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रसरंग ।
अनबूडे बूडे, तिरे जे बूडे सब अंग ।।"[1]

बिहारी के अनुसार काव्य रस एक अलौकिक वस्तु है जिसमें रस लेनेवाला, डूबनेवाला ही महत्वशील व्यक्ति है और जो इसमें डूब न सके उन्हें सामान्य जीव समझना चाहिए, उन्हें जीवन का वास्तविक आनंद दुर्लभ है ।

बिहारी अलंकार को काव्य का एक अंग मानते थे । लेकिन उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार एक अनिवार्य तत्व नहीं है । जैसे –

"करत मलिन आछी जबिहि, हरत जु सहज विकास ।
अंगराग अंगनि लग्यौ, ज्यों आरसी उसास ।।"[2]

---

1. "बिहारी सतसई"(दोहा 671)– पृः 323 –(सं. प्रो विराज).
2. वही – पृः 59 (दोहा 97).

अर्थात् सौन्दर्य स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में हो तो उत्कृष्ट होता है । अनावश्यक आडंबर उसमें अपकर्ष ही लाता है । आइने में पड़ी उसाँस उसकी शोभा को कलंकित करती है । इस उदाहरण के द्वारा बिहारी ने अपना अलांकार विषयक मत सुन्दर रूप से प्रकट किया है ।

रीतिमुक्त कविता में काव्य चिन्तन

रीतिबद्ध कवियों में काव्य-कौशल-प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रमुख थी । उनसे भिन्न काव्य में आत्माभिव्यक्ति करनेवाले रीतिमुक्त कवियों में यत्र-तत्र ऐसी पंक्तियाँ मिलती है जिनमें उनकी बदली हुई काव्य दृष्टि का परिचय मिलता है । रीतिमुक्त कवियों का काव्य के प्रति एक स्वस्थ, नवीन दृष्टि-कोण मिलता है जो रीतिकाल के अन्य कवियों के दृष्टिकोण से एकदम भिन्न है । घनानंद, बोधा, आलम जैसे रीति-स्वच्छन्द कवियों ने अपने इस नवीन दृष्टिकोण को बडे सुन्दर रूप से अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है ।

घनानंद का काव्य के प्रति जो दृष्टिकोण है वह इस प्रसिद्ध दोहे में स्पष्ट हो जाता है -

"लोग हैं लागि कवित्र बनावत
मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत ।"[1]

लोग लगकर कविता करते हैं । अर्थात् दूसरे लोग प्रयत्नपूर्वक काव्यरचना करते हैं । मुझे तो मेरी कविता बनाती है । मेरी कविता में मैं हूँ । मेरी कविता मुझे लिखती है । कवि घनानंद कहना चाहते हैं कि रीतिकाल के प्रयत्नपूर्वक कविता

---

1. "घनानंद ग्रन्थावली" - छन्द 228 - पृः 75. (सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र).

करनेवाले रीतिबद्ध कवियों से भिन्न उनकी कविता उनकी आत्माभिव्यक्ति है । रीतिमुक्त कविता प्रेम संवेदना से संपृक्त है । रीतिमुक्त कवियों के काव्य-कथ्य की मार्मिकता इसीमें है कि उन्होंने अपने भोगे हुए क्षणों को वाणी दी । प्रेम मार्ग की साहसिकता की ओर संकेत कर कवि बोधा ने लिखा है -

"यह प्रेम को पंथ करार है जू
तरवार की धार पै धावनो है ।"[1]

कवि बोधा यहाँ प्रेम के मार्ग को झना कठिन मानते हैं कि प्रेम मार्ग अपनानेवाला सचमुच तलवार की धार पर चलता है । प्रेम की अनुभूति को काव्य विषय माननेवाले बोधा ने यहाँ जो कहा है वह उनके काव्य चिन्तन का परिचय देता है ।

भारतेन्दु-युगीन कविता में काव्य चिन्तन

रीतिकाल की, काव्यशास्त्रग्रन्थों के प्रणयन की परंपरा भारतेन्दु काल में भी कुछ कवियों ने जारी रखी । लेकिन देश की परिवर्तित राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण साहित्य में भी नया जागरण पैदा हुआ था । भारतेन्दु युग के अधिकतर कवियों ने स्वतंत्रता-आन्दोलन से प्रेरित होकर राष्ट्रीय भावना पर आधारित कविताएँ लिखीं । इन कवियों की कविताओं में भी कहीं कहीं काव्यपरक चिन्तन के अंश मिलते है । भारतेन्दुकाल के प्रथमस्मरणीय कवि श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा के बारे में जो विचार प्रस्तुत किया है, वह बहुत प्रसिद्ध है -

---

1. "रीति काव्य संग्रह" - पृ: 367 - (सं. डा. जगदीश गुप्त).

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ।।"[1]

उनके अनुसार अपनी भाषा की उन्नति ही सब प्रकार की उन्नतियों का मूल है । अपनी भाषा के ज्ञान के बिना हृदय की वेदना नहीं जाती ।

काव्य के प्रति जो परंपरागत दृष्टिकोण मिलते हैं, उनमें रस को भारतेन्दु ने बहुत स्थान दिया है । यद्यपि उन्होंने सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया, और शास्त्रीय चर्चाओं को आधार नहीं माना, फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि काव्य की आत्मा रस ही है । जैसे उन्होंने कहा -

"जा मैं रस कुछ होत है, पढत ताहि सब कोय ।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय ।।"[2]

अर्थात् उसी काव्य को कोई पढता है जिसमें कुछ रस होता है । कवि जो बात कहता है वह अनूठी हो तो लोग पढ लेते हैं ।

भारतेन्दु युग के, बदरी नारायण चौधरी "प्रेमघन" और बालकृष्ण भट्ट जैसे अन्य कवियों ने भी काव्य के प्रति अपना दृष्टिकोण उपस्थित कर दिया था । प्रेमघन ने रस को काव्य का आत्म तत्व मानकर श्रृंगार को रसराज स्थापित किया । पंडित बालकृष्ण भट्ट कला को कला के लिए माननेवालों में थे ।

---

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली - प्रथम भाग - पृः 256. (सं. व्रजरत्नदास).
2. वही - पृः 372.

भारतेन्दु-युग में हिन्दी कविता ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन से पूर्णतः मुक्ति नहीं पायी थी । लेकिन द्विवेदी-युग तक आते आते रीति-परंपरा से मुक्त होकर काव्य पूर्णतः सामाजिक होने लगा । काव्यशास्त्रीय तत्वों का अध्ययन या प्रतिपादन उनका लक्ष्य नहीं था । भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युग के कवियों ने भाव और भाषा की दृष्टि से काव्य का उत्थान करना चाहा । व्याकरण के नियमों से सुव्यवस्थित, सुन्दर भाषा को उन्होंने विकसित करना चाहा ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रमुख ग्रन्थ हैं - "संचयन", "रसज्ञ-रंजन", "विचार-विमर्श", "द्विवेदी-काव्यमाला" और "समालोचना-समुच्चय" जिनमें उन्होंने काव्य के स्वरूप तथा उसकी विभिन्न विशेषताओं पर अपने सुदृढ विचार प्रकट किये हैं । "रसज्ञ-रंजन" में द्विवेदीजी ने काव्य की परिभाषा यों दी है -

"गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है । यह समझना अज्ञानता की पराकष्ठा है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सभी काव्य है । कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाय चाहे वह गद्य में हो, चाहे पद्य में, वही काव्य है।"[1] काव्य की इस परिभाषा में काव्य के प्रति उनका व्यापक दृष्टिकोण मिलता है ।

द्विवेदीजी ने भाव की गरिमा को ही काव्य का प्राण तत्व माना है । उनकी "हे कविते" शीर्षक कविता में यह विचार प्रकट हुआ है -

---

1. "रसज्ञ-रंजन" (महावीर प्रसाद द्विवेदी) - पृः 13.

"कहीं कहीं छन्द, कहीं सुचित्रता,
कहीं अनुप्रास - विशेष में तुझे
सुजान ढूँढें अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्य-कले । वहाँ कहाँ "[1]

द्विवेदीजी की राय में छन्द, सुचित्रता या अनुप्रास में कविता की खोज करने से कोई फायदा नहीं । पर काव्य-कला उन सबमें नहीं मिलेगी ।

अपनी और एक कविता में द्विवेदीजी ने रसमय कविता के लिए कोमल ललित पदावली की अनिवार्यता स्थापित की है -

"सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ।
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ।"[2]

शब्द काव्य का शरीर है तो कोमल कान्त पदावली से उद्भूत सौन्दर्य उसकी कान्ति है और रस उसकी आत्मा है ।

द्विवेदीजी ने काव्य को लोकहित से संबद्ध करना अनिवार्य माना है । निम्नलिखित पंक्तियाँ उसकी द्योतक हैं -

"भाषा है रमणी-रत्न महासुखकारी
भूषण है उसके ग्रन्थ लोक-उपकारी ।

---

1. "द्विवेदी-काव्यमाला" (महावीर प्रसाद द्विवेदी) - पृ: 294.
2. वही - पृ: 295.

उनको लिख उसकी तृप्ति भली विधि कीजै,
अति विमल-सुयश की राशि क्यों न ले लीजै "[1]

भाषा तो अत्यन्त सुख देनेवाली श्रेष्ठ युक्ती है तो लोकोपकारी ग्रन्थ उसके गहने हैं । लोकहित करनेवाले ग्रन्थ रचकर उसको भली-भाँति तृप्त करना है जिससे अत्यन्त पवित्र यश मिलेगा ।

द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक ने भी अपने भाषणों और पत्रों के द्वारा काव्य-संबन्धी अपना मौलिक दृष्टिकोण व्यक्त किया है । "मातृभाषा महत्व" शीर्षक कविता में काव्य को समाज की उन्नति के लिए अनुकूल विषय पर आधारित करने की आवश्यकता मानी है -

"प्रगटहु याही में सदा सुख दुःख सोच विचार,
त्यों जग के सब नित्य अस नैमित्तिक व्यवहार,
कुल कीरति, ईश्वर निरति, साधुन चरित उदार ।"[2]

उनके अनुसार काव्य हमेशा सुख-दुःख के बारे में विचार करता है । वह कुल में कीर्ति, ईश्वर-प्रेम और सज्जनों की उदारता का कारण हो जाता है । इस प्रकार श्रीधर पाठक काव्य को सभी प्रकार से समाज का मंगलकारी मानते हैं ।

द्विवेदी युग के और एक प्रसिद्ध कवि हैं अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, जिन्होंने अपने "रस-कलस" में रीतिकालीन परंपरा के अनुसार काव्य का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया है । इसके अलावा उनकी कविताओं में भी यत्र-तत्र काव्य चिन्तन से संबन्धित उक्तियाँ मिलती हैं -

---

1. "द्विवेदी काव्य माला" (महावीर प्रसाद द्विवेदी) - पृः 373.
2. "मनोविनोद" (श्रीधर पाठक) तृतीय खण्ड - पृः 9.

"चौखे चौपदे" की "कवि" शीर्षक कविता में उन्होंने कवि को रस-रसिक माना है ।

"रस-रसिक पागल सलोने भाव का ।
कौन कवि-सा है लुनाई का सगा "[1]

कवि अपनी कोमल अनुभूतियों में इतना आमग्न है कि वह पागल-सा लगता है ।

रस को प्राण तत्व मानते हुए उन्होंने **"पद्य-प्रमोद"** में साहित्य की सुन्दर व्याख्या की है -

"बहु अललित भाव समूह में
भर देता लालित्य है ।
नीरस विचार को भी
सरस कर देता साहित्य है ।"[2]

अललित भावों से भरे हुए समाज में, साहित्य लालित्य भर देता है । नीरस विचार को भी वह सरस कर देता है ।

श्री हरिऔध ने लोक मंगल या शिवत्व की भावना को साहित्य का प्रयोजन माना है -

"देती है भर भाव में सरसता कान्तोक्ति में मुग्धता,
खोती है तम तोम लोक उर का आलोक-माला दिखा ।
कानों में चित में विमुग्ध मन में है ढाल पाती सुधा,
हो दिव्या सविता-समान कविता देती महानंद है ।"[3]

---

1. "चौखे चौपदे" (हरिऔध) - पृ: 8.
2. "पद्य-प्रमोद" (हरिऔध) - पृ: 63.
3. "पारिजात" (हरिऔध) - पृ: 513.

कविता सरस, मुग्ध-उक्तियों से युक्त भाव प्रदान करती है। वह प्रकाश फैलाकर जगत् का अंधकार दूर करती है, सुननेवाले के कानों में, हृदय और मन में अमृत की वर्षा करती है और अलौकिक आनंद प्रदान करती है ।

इस प्रकार हरिऔधजी ने, काव्य के विभिन्न अंगों पर अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने के लिए कविता को माध्यम बनाया है ।

कवि मैथिली शरण गुप्त ने माना कि शास्त्रीय चिन्तन की सीमा में कविता को बाँध देना कवि का धर्म नहीं है । इसलिए उन्होंने सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य का विवेचन नहीं किया है । उनकी कविता में काव्य की आन्तरिक विशेषताओं की व्याख्या करनेवाली पंक्तियाँ बीच बीच में मिलती हैं ।

"साकेत" के प्रथम सर्ग में गुप्तजी ने कला - संबन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं -

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही ।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये ।।"[1]

जो कला के लिए कला मानते हैं वे सचमुच व्यर्थ ही कला को स्वार्थिनी बनाते हैं । कला तो हमारे लिए है और हम कला के लिए भी । इस प्रकार कला और हमारा पारस्परिक संबन्ध है । यहाँ गुप्तजी यह स्थापित करते हैं कि कला जीवन के लिए है, कला कला के लिए मानना उचित नहीं ।

---

1. "साकेत" (गुप्तजी) प्रथम सर्ग - पृ: 27.

"भारत-भारती" में भी गुप्तजी ने काव्य में दूसरों के हितकारी उपदेशों के होने की आवश्यकता पर बल दिया है -

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए ।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ।[1]

कला में मनोरंजन के अलावा उचित उपदेशों की भी अनिवार्यता है ।

करुणा-रस के बारे में गुप्तजी ने विशेष चर्चा की है । "कारुण्य-भारती" शीर्षक कविता में कवि ने करुण रस को अधिक आस्वादनीय माना है -

"करुणा रस के रुदन से मिलता जितना मोद ।
होता क्या हास्यादि से उतना कभी विनोद "[2]

करुण रस को ही वे हास्य आदि से उत्कृष्ट मानते है । करुण रस में रुदन होते हुए भी उससे एक प्रकार का आनंद ही मिलता है । "साकेत" में करुणा का महत्व यों दिखाया है -

"करुणे, क्यों रोती है "उत्तर"
में और अधिक तू रोई -
मेरी विभूति है जो, उसको
"भवभूति" क्यों कहे कोई "[3]

---

1. "भारत-भारती" (गुप्तजी) - पृ: 171.
2. "पद्य प्रबन्ध" (गुप्तजी) - पृ: 5.
3. "साकेत" (गुप्तजी) - नवम सर्ग - पृ: 194.

कवि करुणा को संबोधित करके पूछता है - "करुणे तू क्यों रोती है भवभूति के उत्तर रामचरित में तू तो पहले ही बहुत अधिक रो चुकी है । करुणा का उत्तर है कि मेरी विभूति को लोग भवभूति बताते हैं - इसीलिए मैं रोती हूँ ।

गुप्तजी कविता को सर्वसुगम नहीं मानते । वह तो अभ्यास से प्राप्त होती है । लेकिन कविता के इस श्रम में भी आनंद है ।

"विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा ।
कठिन है कविते तव भूमि ही,
पर यहाँ श्रम भी सुख सा रहा "[1]

दो सरस पद भी न रच पाने के कारण कवि को लगता है कि अपना जीवन विफल हो गया । कविता की भूमि पर पहुँचना बहूत ही दुष्कर है । लेकिन उस ओर पहुँचने का एक यत्न करना भी विशेष सुख देनेवाला कार्य है । इस प्रकार गुप्तजी के मत में काव्य की भूमि अत्यन्त पवित्र है जहाँ पहुँचना प्रतिभावान व्यक्ति के ही वश का काम है ।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने काव्य के विषय में मौलिक चिन्तन व्यक्त किये हैं, जो युग के सामाजिक तथा साहित्यिक वरतावरण के अनुकूल है ।

काव्यकला को वे मनोरंजन पर आधारित न मानकर मानव हृदय के संस्कार पर आधारित मानते हैं -

---

1. "साकेत" (गुप्तजी) नवम सर्ग - पृ: 194.

"कन्दर्प के रस-रंग में भी भंग का शुभ ढंग कर,
है अब दिखाया काव्य का सन्मार्ग भावी उच्चतर ।"[1]

श्रृंगार रस के रंग से भी ज़्यादा उच्चतर भावों का समावेश काव्य में हो जो सन्मार्ग पर लानेवाले हैं । यहाँ कवि का मत है कि काव्य मानव-हृदय को उदात्त भावों की ओर ले जानेवाला है ।

चतुर्वेदीजी ने प्रतिभा को काव्य का मूल प्रेरक तत्व माना है । इसीलिए उन्होंने अपनी एक कविता में सरस्वती माँ से प्रतिभा देने की प्रार्थना की है ।

"जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरी मात मोको तान दीजिए ।"[2]

उनका कथन है कि जिसने सूर, तुलसी, कालिदास आदि को विशिष्ट प्रतिभा प्रदान करके काव्यरचना की प्रेरणा दी, उसी प्रकार मुझे भी प्रतिभा देकर अनुगृहीत कीजिए ।

माखनलाल चतुर्वेदी तुक या छन्द के प्रति अमित आग्रह रखने की प्रवृत्ति का विरोध करते थे । "साहित्य-देवता" में उन्होंने लिखा -

"जो लोग तुक मिलाने को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो कितनी ही बार मर चुकी, आज भी वह कविता मरने ही के लिए है ।"[3]

---

1. "प्रभा", फरवरी 1914 के अंक से उद्धृत
2. "मील के पत्थर" (रामवृक्ष बेनीपुरी) पृ: 120.
3. साहित्य देवता (माखनलाल चतुर्वेदी) पृ: 134.

यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग के कवियों ने काव्य के विषय में अपने विभिन्न मतों को अपनी कविता के द्वारा सफल रूप से अभिव्यक्त किया है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की विभिन्न काव्य धाराओं में काव्य विषयक चिन्तन का एक सूक्ष्म सूत्र लक्षित होता है । रीतिकाल के रीतिग्रन्थकारों को छोडकर किसी भी कवि का प्रमुख लक्ष्य काव्य चिन्तन नहीं रहा है । फिर भी विभिन्न काव्यधाराओं के अन्तर्गत आनेवाले प्रतिनिधि कवियों की कृतियों में यत्र तत्र काव्य चिन्तन परक पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं । कई प्रतिनिधि कवियों ने काव्य रचना के उद्देश्य की ओर संकेत किया है । काव्य रचना के प्रयोजन के साथ साथ जनभाषा की महत्ता और उसकी गतिशीलता, शब्दार्थ संबन्ध इन सब पर इन कवियों ने प्रकाश डाला है । कबीर ने जन भाषा की गतिशीलता की ओर संकेत किया तो तुलसी ने शब्दार्थों के अद्वैत की ओर इशारा किया है । रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने कवि और कविता के अभिन्न संबन्ध को व्यंजित किया है और व्यक्त किया है कि कविता कवि की आत्माभिव्यक्ति है । भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के काव्य प्रवाह में भी यत्र-तत्र काव्य चिन्तन के तत्व उपलब्ध होते हैं । आगे हम छायावाद से लेकर नयी कविता तक की काव्य यात्रा में काव्य चिन्तन के सूत्र की तलाश करेंगे ।

अध्याय - दो

छायावादी कविता में काव्य-चिन्तन

छायावादी कवियों की कविता में जो काव्य चेतना मिलती है वह पूर्ववर्ती काव्य धारा से कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से एकदम भिन्न है । द्विवेदी युगीन कविता स्थूल, इतिवृत्तात्मक स्वभाव की थी जबकि छायावादी कवियों ने इस स्थूल, इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति से कविता को मुक्त किया । श्री सुमित्रानंदन पंत ने "छायावाद का पुनर्मूल्यांकन" में इसकी स्पष्ट व्याख्या की है -

मुख्यतः वह द्विवेदी युग के पौराणिक आदर्शों, मान्यताओं तथा परंपरागत कलाबोध से पोषित विषय वस्तु से पृथक् एक नवीन विश्व बोध तथा मानव-मूल्य से प्रेरित नयी भाव वस्तु को काव्य रूप में उपस्थित करने का प्रयास करता है ।"[1]

काव्य चिन्तन के क्षेत्र में पूर्ववर्ती कविता से छायावाद का एक स्पष्ट अन्तर यह है कि पूर्ववर्ती कविता वस्तु-निष्ठ है, जबकि छायावादी कविता आत्मनिष्ठ है । इन कवियों ने माना कि कविता आत्माभिव्यक्ति होती है । पाश्चात्य काव्य क्षेत्र में यह काव्य दृष्टि पहले ही साबित हो चुकी थी । जैसे शैले ने "A Defence of Poetry" में कहा था - "Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds."[2]

---

1. "छायावाद का पुनर्मूल्यांकन" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 25.
2. "Poets on Poetry" - Edited by Norman - p.208.

कवि अपनी अदम्य जीवनानुभूतियों को कविता में स्थापित करता है । इसीलिए छायावादी कविता स्वानुभूति निरूपिणी कविता कहलाती है । निराला की "सरोज-स्मृति" आत्माभिव्यक्ति का सबसे मार्मिक उदाहरण है । कविता को कवि की आत्माभिव्यक्ति के रूप में देखने की यह नयी प्रवृत्ति छायावादी काव्य दृष्टि की सबसे बडी विशेषता है ।

छायावादी कविता के काव्यचिन्तन में नयी सौन्दर्य दृष्टि का भी स्थान है । परंपरागत, स्थूल सौन्दर्य दृष्टि के स्थान पर, सूक्ष्म आन्तरिक सौन्दर्य चिन्तन इन कवियें की कविता में मिलता है । उनकी सौन्दर्य चेतना कहीं कहीं अलौकिक भावभूमि का भी स्पर्श करती है । प्रसादजी विश्व भर में फैले हुए सौन्दर्य के कणों का मूल स्रोत कहीं दूर देखते हैं ।

छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि सत् और चित् से संपृक्त है । भारत में प्राचीन काल से लेकर "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" के रूप में काव्य की चर्चा होती है । छायावादी कविता में भी काव्य-संबन्धी इस भावना का उदात्त रूप मिलता है ।

छायावादी कविता में प्रेम की भावना का एक नया परिवर्तित स्वर मिलता है । लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम की विभाजक रेखाओं की सीमा से मुक्त होकर हिन्दी कविता में प्रेम का एक स्वस्थ, उल्लासमय रूप पहले पहल छायावाद में ही अवतीर्ण हुआ । प्रसादजी और पंतजी ने अपने काव्यों में प्रेम के पवित्र, उदार, समन्वित रूप का आलोक फैलाया । प्रेम, सौन्दर्य तथा जीवन के प्रति नयी दृष्टि अपनाते हुए छायावादी कवियों ने एक ओर काव्य कथ्य में नवीनता दर्शायी, दूसरी ओर काव्य शिल्प में भी नूतनता का परिचय दिया । छायावादी कवियों ने पुराने कवियों की स्थूल, अभिधात्मक शैली का परित्याग कर सूक्ष्म, लाक्षणिक शैली विकसित की । जैसे पंतजी लिखते हैं -

"छायावादी काव्य जीर्ण अभिधा को पीछे छोडकर अपने लाक्षणिक प्रयोगों, व्यंजनात्मक संकेतों तथा निगूढ ध्वनि-स्पर्शों से अपने शब्दों की मित-व्ययिता एवं अर्थ और भाव-संयम द्वारा उस अमूर्त नये मूल्य को वाणी देने का प्रयत्न करने लगा, जो विगत जीवन मान्यताओं को अतिक्रम कर, युग मानव की चेतना में उदय हो रहा था ।"[1]

भावों के अनुकूल प्रतीक योजना तथा नये नये बिंब विधानों से उनका काव्य विशेष स्फूर्तिमय है । इनके अलावा कल्पना की कमनीयता से युक्त चित्रात्मक भाषा छायावादी शिल्प-सौन्दर्य को बढा देती है । छन्द के क्षेत्र में छायावादियों की उपलब्धि ध्यातव्य है । काव्य को छन्द के बंधन से मुक्त कर मुक्त छन्द को प्रतिष्ठित करने में उनका योगदान चिरस्मरणीय है ।

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य के कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से बिलकुल भिन्न काव्य-सृजन के द्वारा छायावादी कवियों ने आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में एक स्वर्ण-युग निर्मित किया । इन कवियों ने अपने काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं तथा अन्य गद्य लेखों में अपने काव्य विषयक चिन्तन को शब्द बद्ध किया है । साथ ही साथ उनकी अपनी कविताओं में भी यत्र तत्र उनकी काव्य-संबन्धी अवधारणाओं ने अभिव्यक्ति पायी है ।

छायावाद के अग्रणी और अग्रदूत कवि जयशंकर प्रसाद हैं । उनके काव्य विषयक चिन्तन के दर्शन उनकी प्रौढ कृति "काव्य कला तथा अन्य निबन्ध" में होते हैं । उनकी काव्यकृतियों में उदात्त जीवन-दर्शन तथा काव्य-दर्शन से संबन्धित चिन्तन-कण बिखरे पडे हैं । आगे हम उनकी कविता में अभिव्यक्त काव्य-चिन्तन का अन्वेषण करेंगे ।

---

1. "छायावादः पुनर्मूल्यांकन" (पंत) - पृः 101.

श्री. जयशंकर प्रसाद

छायावाद के अग्रणी और अग्रदूत कवि जयशंकर प्रसाद में सबसे पहले आधुनिक हिन्दी कविता की अरुण किरणें छाने लगीं । प्रसाद की कविता की यही विशेषता है कि वह स्वच्छन्दतावाद के रंग में रंगा है, फिर भी परंपरा का विरोध नहीं करता । डा. प्रेमशंकर के शब्दों में - "उन्होंने स्वयं प्राचीन का एक नवीन संस्करण प्रस्तुत किया प्रसाद प्राचीन परिपाटी और स्वच्छन्दता वाद के संगम रूप में हिन्दी में प्रतिष्ठित हैं ।"[1]

संस्कृत तथा भारतीय काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान प्रसाद ने भारतीय साहित्य-परंपरा से पूर्ण रूप से अवगत थे । लेकिन काव्य के कथ्य तथा शिल्प के विभिन्न आयामों के बारे में वे मौलिक दृष्टि रखते थे । "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" तथा "इन्दु" में प्रकाशित कुछ लेखों में प्रसाद की यह मौलिक काव्य-दृष्टि दिखाई पडती है । इनके साथ साथ "कामायनी", "प्रेम-पथिक" "झरना", "लहर", "आँसू" जैसी काव्य कृतियों के बीच बीच में भी प्रसाद के काव्य विषयक चिन्तन के कण यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं ।

काव्य के कथ्य पक्ष के संबन्ध में प्रसाद की मान्यताएँ

प्रसाद ने काव्य के कथ्य और शिल्प - इन दोनों पक्षों का गहरा अवलोकन प्रस्तुत किया है । कथ्यगत चिन्तन में छायावादी काव्य की सौन्दर्य दृष्टि, प्रेम भावना तथा काव्य के स्वरूप और अन्य काव्य-विषयों की चर्चा मिलती है ।

---

1. "प्रसाद का काव्य" (डॉ. प्रेमशंकर) - पृ: 17.

सौन्दर्य विषयक चिन्तन

छायावादी काव्य-संसार में सौन्दर्य - चेतना का अत्यन्त विकसित तथा समृद्ध रूप देखने को मिलता है । मानवीय, प्राकृतिक तथा भावात्मक सौन्दर्य का अपूर्व समन्वय इस सौन्दर्य - चेतना को अनुप्राणित कर देता है । प्रसाद ने भारतीय तथा पाश्चात्य सौन्दर्य - विवेचन - पद्धति को सम्यक् रूप से हृदयंगम कर दिया है । इन दोनों के अध्ययन के फलस्वरूप उपलब्ध एक मौलिक, उदार सौन्दर्य दृष्टि के उदाहरण उनकी कविताओं में मिलते हैं । भारतीय पद्धति के अनुसार सौन्दर्य प्रपंच की अनादि, अनन्त सत्ता से संबन्धित है । जैसे ब्रह्म की व्याख्या "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" के रूप में होती है । जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में सौन्दर्य को इस दिव्य भूमिका में उदात्त बना दिया है -

"लज्जा सर्ग" में लज्जा के मुँह से प्रसादजी ने सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान माना है -

"उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं ;
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं ।"[1]

प्रसादजी के अनुसार सौन्दर्य तो चेतना का उदात्त, सात्विक वरदान है जो हर किसीको प्राप्त नहीं होता, बल्कि कठोर तपस्या, और शुभकर्मों के फलस्वरूप ही मिलता है । सौन्दर्य वरदान की भाँति शुभ परिणाम का द्योतक है । सपने में जिस प्रकार हमारी आशा-आकांक्षाएँ वेश बदलकर प्रकट होती हैं उसी प्रकार

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) लज्जा सर्ग - पृ: 102.

सौन्दर्य-चेतना में भी अनेक आशाएँ और अभिलाषाएँ प्रतिक्षण मन को पुलकित करती हैं । यहाँ सौन्दर्य को चित् शक्ति का उज्जवल वरदान कहते हुए प्रसादजी ने आध्यात्मिक धरातल से संबद्ध किया है ।

"प्रेम-पथिक" में सौन्दर्य के अलौकिक, आत्मीय स्वरूप को विश्व-व्यापक रूप में व्यक्त किया है -

"उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व मात्र में छायी है -
ऊपर देखो, नील गगन मण्डल में चमकीले तारे
मधुर मरुत, कल कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है
तुंग मनोहर शृंगों से सौन्दर्यमयी विमला धारा ।
छोटे छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किसका सौन्दर्य ..."[1]

रहस्यवादी साधकों के समान सौन्दर्य को वे विश्व भर में व्याप्त चेतना के रूप में देखते हैं । प्रकृति के नीलाकाश, तारों, मन्दानिल, निर्झरिणियों आदि हर एक अंग में अलौकिक सौन्दर्य का ही पुट मिलता है । इन पंक्तियों का अनुशीलन करते समय हम एक विशेष मानसिक धरातल में पहुँचकर ही इस सौन्दर्य की अनुभूति का आवाहन कर सकते हैं । कूमार विमल "छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन" में इस सौन्दर्य परक दृष्टिकोण को यों समझाते हैं । "इस उच्चस्तरीय सौन्दर्य की विशेषता यह है कि इसकी अनुभूति एक विशेष प्रकार की अविरल मानसिक साधना पर निर्भर करती है । और, जब यह मानसिक साधना पूर्ण हो जाती है, तब उस परम विभु सौन्दर्य के प्रत्यक्ष के बाद संपूर्ण सृष्टि में आनन्द और मंगल का पीयूष वर्षण होने लगता है ।"[2]

---

1. "प्रेम-पथिक" (प्रसाद) - पृ: 30.
2. "छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन" (कुमार विमल) - पृ: 70.

सौन्दर्य की यह अनुभूति प्रसादजी के हृदय में एक प्रकार का आश्चर्य पैदा करती है । वह इतनी तीव्र है कि उस "अनन्त रमणीय" के बारे में वे कुछ कह भी नहीं सकते हैं -

"हे अनन्त रमणीय । कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।"[1]

हे अनन्त सौन्दर्य शालिनी विराट् शक्ति, तुम कौन हो ? तुम्हारा रूप कैसा है ? तुम क्या हो, ये सभी बातें मेरी विचार-शक्ति से परे हैं । तुम्हारी ये सभी बातें मेरी बुद्धि के संकुचित क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं । यहाँ पर कवि ने उस अज्ञात शक्ति का वर्णन उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार उपनिषदों में आत्मा का वर्णन मिलता है । जैसे कठोपनिषद् में लिखा है - वह आत्मा न तो प्रवचन से लभ्य होती, न बुद्धि से और न बहुश्रुत होने से । जैसे - "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन ।"[2]

जयशंकर प्रसाद ने "झरना" नामक काव्य कृति में सौन्दर्य के विराट् रूप को स्वीकार किया है

"एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीडा के सब छन्द ;
सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में उन्नति या ह्रास ।"[3]

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) आशा सर्ग - पृः 26.
2. कठोपनिषत् (सं स्वामि शर्वानन्द) 23/2 - पृः 54.
3. "झरना" (प्रसाद) - पृः 64.

प्रकृति के हर एक मनोहर दृश्य को प्रकृति की व्यापक लीला का अंश मानते हैं । प्रकृति के विलास रूपी काव्य के छन्द के रूप में हर एक सुन्दर दृश्य दिखायी पडता है । कवि सृष्टि में सब कहीं सौन्दर्य ही देखते हैं । सभी वस्तुओं में उन्नति के अंश के साथ ही ह्रास का अंश भी है जो प्रकृति की स्वाभाविक गति के कारण है । यह भी प्रकृति की मनोहर क्रीडा के दो पहलू हैं । इस प्रकार यहाँ प्रसादजी ने सौन्दर्य को विश्वव्यापी विराट् चेतना के रूप में स्वीकार किया है ।

कवि के अनुसार, इस सौन्दर्य को जब आत्मसात् कर सकेंगे, तब जीवन्मुक्ति मिलेगी । यों -

"प्रार्थना अन्तर की मेरी -
यही जन्मान्तर की उक्ति ।
जन्म हो, निरखूँ तव सौन्दर्य
मिले इंगित से जीवन्मुक्ति ।"[1]

सौन्दर्य को आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचना छायावादी कवियों की एक विशेषता थी । रहस्यवाद की अलौकिक अनुभूतियों से सौन्दर्य एक उदात्त भाव प्राप्त करता है । यहाँ भी सौन्दर्य का वह अलौकिक स्पर्श हम अनुभव कर सकते हैं । क्योंकि कवि का कथन है कि सौन्दर्य के साक्षात्कार से जीवन्मुक्ति होती है ।

अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों ने भी सत्य से सौन्दर्य को अभिन्न दिखाने की चेष्टा की है । सौन्दर्य को अलौकिक धरातल पर आँकने की यह प्रवृत्ति कीट्स की इन पंक्तियों में लक्षित होती है ।

---

1. "झरना" (प्रसाद) - पृ: 66.

"Beauty is truth, truth beauty that is all
Ye know on earth, and all ye need to know"[1]

सौन्दर्य की परख दो दृष्टियों से हो सकती है - बाह्य और आन्तरिक । स्थूल दृष्टि से वस्तुओं के बाह्य सौन्दर्य का अनुभव करना आसान है । लेकिन सौन्दर्य के मर्म को वही पहचान सकता है जो बाह्य सौन्दर्य को छेदकर उसकी आन्तरिक सत्ता का अनुभव कर सकता है । "कानन कुसुम" की कुछ पंक्तियों में प्रसाद ने अपने को सौन्दर्य का मर्मज्ञ कवि स्थापित किया है -

"मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी ।"[2]

यहाँ सौन्दर्य के व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों रूपों का सुन्दर सामंजस्य दिखाया है । एक ओर मानव की सुषमा है तो दूसरी ओर प्रकृति की सुषमा का विराट् जगत् है । प्रसाद का कवि इन दोनों में दिव्य-शिल्पी की कला-कुशलता ही देखता है ।

समस्त सृष्टि में इस दिव्य कला की कुशलता देखकर कवि आनंद से उछलने लगते हैं । कभी कभी उन्हें लगता है कि यह सौन्दर्य लाज-भरा है । नवोढा की भाँति यह सौन्दर्य कभी कभी मौन रह जाता है । "चन्द्रगुप्त" नाटक में कवि सौन्दर्य के मौन के बारे में प्रश्न करता है -

---

1. **"Complete Poems of Keats and Shelley" - p.186.**
2. "कानन-कुसुम" (प्रसाद) - पृ: 51.

"तुम कनक-किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों?
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन झरते
हे लाज-भरे सौन्दर्य । बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?"[1]

प्रसादजी को ही लगता है कि सौन्दर्य की कनक-किरणें कभी कभी छिप जाती हैं । लाज से चुप रह जाती हैं ।

इस प्रकार जयशंकर प्रसाद की कविता सौन्दर्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों का अंकन करती है । साथ ही साथ सौन्दर्य-परक चिन्तन भी प्रस्तुत करती है । प्रसाद ने अपने "काव्य कला तथा अन्य निबन्ध" में पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति और भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि का अन्तर स्पष्ट किया है । जैसे - "ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त को विशेषता देकर उसकी सीमा में ही पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है ।"[2]

भारतीय सौन्दर्य - चिन्तन की, बाह्य - आभ्यन्तर के एकीकरण की प्रवृत्ति प्रसाद की कविताओं में मिलती है । प्रसादजी की सौन्दर्य चेतना भारतीय सौन्दर्य दृष्टि का उत्तम उदाहरण है ।

---

1. "प्रसाद-संगीत" (प्रसाद) - पृ: 106.
2. "काव्य और कला तथा अन्य निबंध (प्रसाद) - पृ: 36.

सत्य

सत्य की अनुभूति काव्य का एक अभिन्न अंग है । भारतीय मत के अनुसार कवि "सत्य द्रष्टा" है । जयशंकर प्रसाद ने तो सत्य और काव्य को अभिन्न माना है । अपने गद्य लेख में वे इस संबन्ध में कहते हैं ।

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है" संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा । आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है ।"[1]

प्रसाद की "कामायनी" सत्य-दर्शन की दृष्टि से अपना अद्वितीय स्थान रखती है । ऋषि-मुनियों से खोज निकाले हुए, वेदोपनिषदों में उद्घाटित किये हुए अमर सत्य का गहरा चिन्तन प्रसादजी ने "कामायनी" में किया है । जैसे -

"और सत्य । यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है,
मेधा के क्रीडा-पंजर का
पाला हुआ सुआ है ।
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता "छुई मुई" है ।"[2]

---

1. "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" (प्रसाद) - पृ: 37.
2. "कामायनी" (प्रसाद) - पृ: ।।। - कर्म सर्ग

अर्थात् सत्य शब्द अतीव गहन है । बुद्धि के क्रीडा-पंजर में पाले हुए तोते से कवि उसकी तुलना करते हैं । पिंजरे में बन्द तोता अपने पिंजडे के सीमित जगत् को ही वास्तविक एवं सत्य मानता हुआ शेष जगत् को व्यर्थ और मिथ्या मानता है । उसी प्रकार मनीषी लोग सत्य को अपनी सीमित बुद्धि में सीमित रखना चाहते हैं । लेकिन संपूर्ण सत्य तो उनकी बुद्धि की पकड में आसानी से नहीं आता । सत्य की जो झाँकी उसे मिलती है वह केवल आंशिक है । सत्य का गहन विराट् रूप पहचानना आसान नहीं है । क्योंकि जब उसकी खोज करने लगते हैं तब हमसे वह दूर जाता है । तर्क के हाथों से उसे पकडने पर छूई-मुई के समान उसका स्वरूप ही नष्ट होता है ।

सत्य का स्वरूप अवर्णनीय है । फिर भी प्रसाद ने कहीं कहीं सत्य का स्वरूप उद्घाटित करने की चेष्टा की है -

"अपने दुःख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर ;
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर ।"[1]

मनु कहते हैं कि नाना प्रकार के जड और चेतन पदार्थों से भरा हुआ यह स्थूल एवं भौतिक जगत् सदैव अपने दुःख से दुःखी होता हुआ और सुख से प्रसन्न होता हुआ गतिशील रहता है, परन्तु ध्यान रखो, यह विस्तृत जगत् उस महान् चेतना-शक्ति के समान ही सदैव कल्याणकारी है, सत्य है और निरन्तर अक्षय सौन्दर्य का भण्डार है । वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है । लेकिन प्रसादजी ने जगत् को मिथ्या और निस्सार नहीं माना है । उन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समान ब्रह्म या शिव की ही

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) आनंद सर्ग - पृः 288.

भाँति जगत् को भी सत्य, शिव और सुन्दर कहा है । सुख-दुःख में प्रवाहित होता हुआ, यह जड चेतन जगत् इसलिए उन्हें माया के रूप में फँसाता नहीं । बल्कि उसके हर एक कण में वे विराट् चिति का सौन्दर्य देखते हैं । सत्य का यह विराट् रूप अत्यन्त आनंद दायक है ।

आनंद

इंद्रियातीत तत्व की अनुभूति के बारे में कहा जाता है कि वह सत् चित् आनंद स्वरूप है । काव्य की भी अनुभूति इस चिन्मय आनंद पर आधारित है । शैली ने आनंद की अनुभूति को काव्य का प्रेरक तत्व माना है । उन्होंने कहा - **"Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and the best minds"**[1] "कामायनी" में प्रसादजी ने आनंद का स्वरूप समझाने का सुन्दर प्रयास किया है -

"कर रही लीलामय आनंद
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसीमें सब होते अनुरक्त ।"[2]

यहाँ प्रसादजी ने उस चिति या ब्रह्म को आनंदमयी, क्रीडा करते हुए दिखाकर ब्रह्म के आनंदमय रूप का वर्णन किया है । उपनिषदों में भी ब्रह्म को आनंदमय ही बतलाया है । श्रद्धा कहती है कि वह व्यापक एवं महान् चेतना-शक्ति नाना प्रकार की क्रीडाएँ करती हुई इस विश्व में आनंद कर रही है । उस महान्

---

1. **"Poets on Poetry" (Edited by Charles Norman) - p.207.**
2. "कामायनी" (प्रसाद) श्रद्धा सर्ग - पृ: 53.

चेतना-शक्ति के ही अन्दर, उसकी अपनी इच्छा से इस विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है अर्थात् वह महाचिति ही ... अनंत सौन्दर्य-संपन्न विश्व के रूप में प्रकट होती है । इसी कारण संसार का प्राणी इस विश्व में अनुरक्त होता है अथवा अन्त में सभी इसी चिती शक्ति में विलीन होते हैं ।

और एक जगह प्रसादजी ने अखण्ड आनंद की व्यापकता का उल्लेख किया है -

"समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था ;
चेतनता एक विलसती
आनंद अखण्ड घना था ।"[1]

कवि ने यहाँ जड और चेतन की समरसता का मार्मिक बिंब प्रस्तुत करके इस बात की ओर संकेत किया है कि वह चेतना-शक्ति ही समस्त जड और चेतन पदार्थों में व्याप्त है । सर्वत्र एक अनुपम सौन्दर्य छाया हुआ था, मानो सौन्दर्य ने आज साकार रूप धारण कर लिया हो । सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से अत्यधिक गहन आनंद छाया हुआ था । कवि ने इस सुन्दर बिंब में विराट् चिति या चेतना-शक्ति को ही जल, थल, अन्तरिक्ष, नभ आदि में सर्वत्र व्याप्त बतलाया है ।

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) आनंद सर्ग - पृ: 294.

कल्पना

प्रसादजी ने कल्पना की अद्भुत शक्ति को पहचान लिया है । "कल्पना-सुख" शीर्षक कविता में उन्होंने कल्पना का महत्व वर्णित किया है -

"हे कल्पना-सुखदान तुम मनुज जीवन प्रान ।।
तुम विसद व्योम समान तव अन्त नर नहिं जान ।।
प्रत्यक्ष, भावी, भूत यह रंगे त्रिभुज जु सूत ।।
तव तानि प्रकृति सुतार । पट बिनत सुचि संसार ।।"[1]

प्रसादजी कल्पना को सुख का धाम मानते हैं । उनके अनुसार कल्पना मानव-जीवन का प्राण-तत्व है । कल्पना के बिना यह जीवन निरर्थक है । प्रसादजी कहते हैं कि कल्पना आकाश के समान विशाल है और मनुष्य इसका अंत देख नहीं सकता । वर्तमान, भविष्य और भूत को कल्पना का रंगीन-सूत्र बाँध लेता है । कल्पना के सुतार्य ताने से संसार-रूपी पट बुना जाता है ।

प्रसादजी ने ब्रजभाषा में लिखी गयी एक कविता में भी कल्पना की अद्भुत शक्ति के बारे में कहा है ।

---

1. "प्रसाद ग्रन्थावली" - खण्ड-1 (प्रसाद) - पृ: 28.

कवि-मन

रचना-धर्मिता एक ऐसी संघर्षमय स्थिति का परिणाम है कि एक कवि का मन ही वह पहचान सकता है । प्रसादजी ने एक रचनाकार के मानसिक द्वन्द्व को सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्त किया है ।

"नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत -
कल्पना की लघु-लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त"[1]

कवि की कोमल कान्त कल्पना की दिव्य और लघु लहरी आशा की किरण फैलाकर, मानस-द्वन्द्व दूर कर एक अपूर्व शान्ति का अनुभव देती है । "आँसू" में भी प्रसादजी ने कवि की अनुभति और अभिव्यक्ति की आधार-भूमि का परिचय दिया है । कभी कभी घनीभूत पीडा आँसू बनकर बरस जाती है ।

"जो घनीभूत पीडा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी,
मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा[1] - जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणा-पट बुनते हो ।"[2]

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) - श्रद्धा सर्ग - पृ: 50.
2. "आँसू" (प्रसाद) - पृ: 14.

प्रकृति के एक सुन्दर उदाहरण में उन्होंने कविता-रचना का संपूर्ण वातावरण हमारे सामने प्रस्तुत किया है । बादलों के रूप में घनीभूत पानी अवसर पाकर बरसता है तो स्मृतियों के बादलों के रूप में कवि-मस्तिष्क में छाया हुआ, पीडा का बादल अवसर पाकर कविता के रूप में अभिव्यक्ति पाता है । कवि-मन के क्रन्दन में वीणा का नाद समन्वित है । उनके आँसू करुणा-पट के धागे हैं । यहाँ करुणा और काव्य का संबन्ध सुन्दर रूप से अभिव्यक्त हुआ है ।

कवि का हृदय इतना भावुक है कि प्रकृति के हर स्पन्दन से वह स्पन्दित होता है । काव्य की पृष्ठभूमि में कवि-हृदय की इस भावोन्मत्तता का बडा महत्व है । प्रसादजी ने "प्रथम प्रभात" शीर्षक अपनी कविता में प्रेम की वर्षा से होनेवाले नये नये परिवर्तन के दृश्य उपस्थित किये हैं ।

"वर्षा होने लगी कुमुद-मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनंद में,
कैसी छवि ने बालअरुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग-रंजित किया"[1]

कवि का हृदय अब तक शून्य पडा था । अब तो प्रेम के उदय से उसमें मकरन्द के समान मधुर वर्षा होने लगी है । प्राण का पपीहा आनन्द-गात करने लगा है । बाल अरुण की छवि के समान एक नवीन लालिमा और प्रकाशने हृदय को राग-रंजित कर दिया है ।

---

1. प्रसाद ग्रन्थावली - खण्ड-1 (प्रसाद) - पृ:111.

और एक कविता में भी प्रसादजी ने भाव-आवेग का चित्र प्रस्तुत किया है ।

"नया हृदय है, नया समय है, नया कुंज है
नये कमल-दल-बीच नया किंजल्क-पुंज है
नया तुम्हारा राग मनोहर प्रेति सुखकारी
नया कण्ठ कमनीय, वाणि वीणा-अनुकारी
यद्यपि है अज्ञात ध्वनि कोकिल । तेरी मोदमय
तो भी मन सुनकर हुआ शीतल, शांत, विनोदमय"[1]

वसन्त के आगमन के साथ प्रकृति में नया उन्मेष फैल जाता है । इसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि समय नया है, प्रकृति में कुंज नया है । कमल-दलों के बीच नया किंजल्क पुंज आया है उनको लगता है कि मानो प्रकृति के हृदय में नवीन उल्लास छा गया है । कोकिल के राग में एक नया राग और विशेष सुख कवि पाता हैं । वीणा के समान मधुर, कमनीय उस कंठ की ध्वनि कवि के हृदय को शीतल, शान्त और आनंदपूर्ण बना देती है ।

वेदना

आनंद के समान वेदना या करुणा भी काव्य का विषय होता है । जिस प्रकार आनंद में आप्लावित होते हुए कवि-मन से अनजाने ही कविता उमड पडती है, उसी प्रकार करुणा के गहरे उद्वेलन से भी कवि-मन से कविता की धारा फूट पडती है । करुणा-रस की अचूक क्षमता को संस्कृत के महान् कवि भवभूति ने पहचान लिया था । उन्होंने करुणा को सर्वश्रेष्ठ माना है -

---

1. "प्रसाद ग्रन्थावली" - खण्ड-1 {प्रसाद} - पृः 125.

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदा -
द्भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान् ।
आवर्त बुद्बुदतरंगमयान्विकार -
नम्भो यथा सलिलमेव हितत्समग्रम् ।।"[1]

जल बुदबुद, तरंग आदि विभिन्न रूपों में होने पर भी जल ही है । उसी प्रकार करुणा ही विभिन्न रूपों में दिखायी पडती है । करुणा से द्रवीभूत हृदय ही सभी रसों की अनुभूति कर सकता है ।

आदिकवि वाल्मीकि के बारे में यह माना जाता है कि क्रौंच मिथुनों में एक की मृत्यु को देखकर उनके मन में जो शोक धारा उमड पडी, वही काव्य धारा बन गयी ।

इस प्रकार अनादि काल से लेकर शोक और काव्य का अटूट संबन्ध माना गया है । छायावादी कवि प्रसादजी ने "कामायनी" में वेदना के गहरे से गहरे तत्वों को समझाया है । वेदना की अनुभूति और उसकी व्यापकता के बारे में उनका दृष्टिकोण यहाँ व्यक्त हुआ है -

"विषमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान ;
यही दुःख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान ।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमडता कारण जलधिसमान,

---

1. "उत्तररामचरितम्" {भवभूति} 3/47 - चौ-53.

व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान ।"[1]

श्रद्धा यहाँ दुःख-सुख के वैषम्य से भरे हुए जगत् के स्वरूप का बोध कराती है । सृष्टि, संहार, स्थिति-तिरोधान, सुख-दुःख आदि विविध विषम स्थितियों से उत्पन्न होनेवाली पीडा में लीन होकर यह महान् विश्व निरन्तर गतिशील बना रहता है । इन्हीं विषम परिस्थितियों में सुख और दुःख का भी विकास होता है । अतः विषमता ही सृष्टि के साथ साथ सुख और दुःख की भी जननी है । यह भी उस विराट् शक्ति की मधुर देन है । लेकिन इस विषमता से भरे हुए संसार में भी प्राणी समरसता प्राप्त कर सकते हैं । विषमता एक समुद्र के समान उमडती रहती है जिसमें "व्यथा की लहरों के बीच में सुख रत्नों के समान बिखरते जाते हैं ।

"आँसू" में आद्यन्त विरह-वेदना की तरल अनुभूति अभिव्यक्त हुई है । वेदना की चंचलता को कवि यों वाणी देता है -

"अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना ।"[2]

सुप्त व्यक्ति के समान मन अभिलाषाओं के रूप में करवटें बदलता है । जो व्यथा सोयी पडी थी वह जाग उठती है । यहाँ सुख तो केवल सपने के समान क्षणिक है ।

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) - श्रद्धा सर्ग - पृः 54.
2. "आँसू" (प्रसाद) - पृः 11.

वेदना की चरम अवस्था में जब भाव उन्मत्त और तीव्र हो जाते हैं तब कवि की लेखनी भी सशक्त हो चलती है । प्रसाद के अनुसार अदम्य वेदना में भी एक प्रकार का "सुख" है –

"किसी हृदय का यह विषाद है
छेडो मत यह सुख का कण है ।
उत्तेजित कर मत दौडाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है ।"[1]

कवि-मन विषाद के अंधकार में भी सुख की प्रकाश-किरणें पाता है । "करुणा का विश्रान्त चरण" मानकर उसे साथ ही रखना चाहते हैं ।

अपने प्रसिद्ध नाटक "अजातशत्रू" के एक गीत में भी प्रसाद ने करुणा का महत्व घोषित किया है –

"गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में
हास-विलास दिखाती है ।
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर
चन्द्रकान्ति बरसाती है,
निर्निमेष ताराओं से वह
ओस बून्द भर लाती है ।
निष्ठुर यदि सृष्टि पशुओं की
विजित हुई इस करुणा से,

---

1. "झरना" (प्रसाद) – पृः 29.

मानव का महत्व जगती पर
फैला अरुणा करुणा से ।"[1]

यहाँ प्रसादजी समस्त सृष्टि में करुणा की व्यापकता देखते हैं । वह प्रकृति में प्रभात और संध्या में प्रेम तथा हास-विलास के चिह्न लगाती है । मानव का महत्व करुणा के कारण ही ऊँचा उठा है ।

संवेदना या सहानुभूति को प्रसादजी ने काव्य का लक्ष्य माना है । "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में इसके बारे में उन्होंने कहा है - "यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा संभाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया । दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा है और है भी"[2]

"कामायनी" में वे कहते हैं -

"मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन सें खाकट चोट,
संवेदन । जीवन जगती को
जो कटुता को देता घोट ।"[3]

संवेदन से चोट खाकर मनु का मन विकल हो उठा । संवेदन की कटुता जीवन और जगती को संत्रस्त करती है ।

---

1. "प्रसाद-संगीत" (प्रसाद) - पृः 42.
2. "काव्य और कला तथा अन्य निबंध (प्रसाद) - पृः 84.
3. "कामायनी" (प्रसाद) आशा सर्ग - पृः 46.

लेकिन प्रसादजी ने "आँसू" में कहा है कि जगती की इन सजग व्यथाओं में भी जन रंजन-करी कथाएँ कहने को रह जायेंगी ।

"चुन चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जन-रंजन करी कथाएँ ।"[1]

यदि समस्त संसार की सजग वेदनाओं को कन कन के रूप में चुन चुन कर लें, तो भी उनमें जन-मन को रंजित करने की क्षमता है । यहाँ प्रसादजी व्यथा में मन के रंजन का तत्व देखते हैं । व्यथा-गायन में भी आनन्द पाना कवि-मन का विशेष स्वभाव है ।

प्रेम

प्रेम तो भावों का आगार है जो कभी कभी काव्य के रूप में उतर पडता है । कवियों द्वारा अनादि काल से लेकर प्रेम की व्याख्या और विवेचन किया गया है । भाव-स्रोत के रूप में काव्य में प्रेम का अमूल्य स्थान है प्रेम की उदात्तता के बारे में जयशंकर प्रसाद ने अपने सभी काव्यों में वर्णन किया है । स्वयं प्रेमानुभूति के अनुभवी होने से वे प्रेम के प्रामाणिक वक्ता भी हैं ।

प्रसादजी ने प्रेम की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों का अंकन "आँसू" में किया है -

---

1. "प्रसाद ग्रन्थावली" - खण्ड-1 - पृः 221.

"वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में ।
मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोनेवाले
अधरों से हँसते हँसते
आँखों से रोनेवाले ।

इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मंगल किरणों से रंजित
मेरे सुन्दरतम जागो ।"[1]

कवि प्रेम को संबोधित करते हुए कहता है कि जीवन-वसन्त में हँसी का प्रकाश फैलाते हुए जाग उठो । तभी उनके जीवन में मधुर अनुभूतियों का कलरव होगा । अब तो उनके जीवन में वेदना आहें भरती है । इन आहों में प्रेम विकसित हो । प्रेम का लक्षण ही हास और शोक दोनों से युक्त है । यह संसार स्वप्नमय है तो उसमें प्रेम ही सच्चा जीवन है । इसलिए प्रेम जाग उठे । सुन्दरतम प्रेम के जागने पर मंगलमय किरणों से हृदय रंजित होने लगता है । इस प्रकार कवि प्रेमोदय की मधुर, गहन अनुभूतियों का मार्मिक चित्र देते हैं ।

प्रसादजी प्रेम को लौकिक आधार पर नहीं देखते, बल्कि उसे अलौकिक और ईश्वरीय मानते हैं -

---

1. "प्रसाद ग्रन्थावली" - खण्ड-1 (प्रसाद) - पृ: 223.

"प्रभो । प्रेममय प्रकाश तुम हो
प्रकृति-पद्मिनी के अंशुमाली
असीम उपवन के तुम हो माली ।"[1]

प्रभु के प्रकाश को कवि प्रेममय मानकर, जीवन के उपवन में प्रेम का ऐश्वर्य देखना चाहता है ।

"कामायनी" में उन्होंने प्रेम को जगत् का मूल आधार माना है -

"यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आयी वह अमला ।"[2]

अर्थात् सृष्टि-लीला की मूल शक्ति प्रेम-कला है । प्रेम कला या काम कला रूपी मूल शक्ति की क्रीडाओं के रूप में इस संपूर्ण सृष्टि का विकास हुआ है । श्रद्धा इसी काम कला का संदेश देकर मानव-सृष्टि को विकसित करने आयी है ।

"झरना" में वे प्रेम की "पवित्र परछाई" मानते हैं -

"प्रेम की पवित्र परछाई में ।
लालसा हरित विटपि झाँई में ।
बह चला झरना,

---

1. "कानन कुसुम" (प्रसाद) - पृ: 2.
2. "कामायनी" (प्रसाद) - काम सर्ग - पृ: 76.

तापमय जीवन शीतल करना ।
सत्य यह तेरी सुघराई में ।
प्रेम की पवित्र परछाई में ।।"[1]

उनकी राय में जीवन का ताप प्रेम की शीतल धारा से ही शान्त होती है जो लालसा की हरित छाया में बहती है । जीवन के ताप को दूर करने के लिए जो झरना बहता है वह प्रेम की परछाई पाकर पवित्र हो गया है । लालसाओं से हरे भरे उस प्रदेश में प्रेम की शीतल छाया व्याप्त है, जहाँ सत्य भी अपना धाम पाता है ।

"प्रेम-पथिक" में प्रसादजी प्रेम का निःस्वार्थ और त्यागमय स्वभाव बता देते हैं -

"पथिक । प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए ;
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पाओगे ।

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँकि सबको समता है ।"[2]

---

1. "झरना" (प्रसाद) - पृः 14.
2. "प्रेम पथिक" (प्रसाद) - पृः 22.

अर्थात् प्रेम का मार्ग यद्यपि शीतल छाया से पूर्ण है फिर भी उसपर काँटे बिछे हुए हैं । स्वार्थ या कामना का एक कण भी उसकी पवित्रता को दूषित कर सकता है । प्रेम इतना व्यापक है कि व्यक्ति की सीमा से ऊपर उठकर वह समष्टि में लीन होता है ।

प्यार में हमेशा दान और समर्पण से आनंद मिलता है । प्रत्युपकार की प्रत्याशा करना व्यर्थ है । प्रेम के इस त्यागमय स्वभाव को वे यों व्यक्त करते हैं –

"पागल रे । वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिनकर
यह विश्व लिये हैं ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार ।"[1]

हे मन । तू क्या पागल हो गया है? प्रेम तो हमेशा देने के लिए है । आँसू के कणों से सारा विश्व भरा हुआ है । प्यार के लिए फल की आशा करके पुकार उठना व्यर्थ है । प्रेम में सर्वस्व देना पडता है, उसीमें आनंद मिलता है ।

"झरना" में "समर्पण" शीर्षक छोटी-सी कविता में प्रसादजी ने प्रेम के त्यागमय स्वरूप का मार्मिक चित्रण किया है ।

---

1. "लहर" (प्रसाद) – पृ: 36.

"हृदय ही तुम्हें दान कर दिया ।
क्षुद्र था, उसने गर्व किया ।।
तुम्हें पाया अगाध गंभीर ।
कहाँ जल बिन्दु, कहाँ निधि क्षीर ।।
हमारा कहो न अब क्या रहा ?
तुम्हारा सब कब का हो रहा ।।
तुम्हें अर्पण ; औ" वस्तु त्वदीय ?
छीन लो छीन ममत्व मदीय ।"[1]

कवि प्रेमिका से कहता हैं कि मैं ने अपना क्षुद्र हृदय तुम्हें दान कर दिया है । तुम तो अगाध और गंभीर क्षीर निधि है और मैं तुच्छ जल-बिन्दु हूँ । अब तुममें लीन होकर मेरा कुछ भी नहीं रह गया है । सब कुछ तो तुम्हें अर्पण कर दिया है । यह मेरा जो ममत्व है वह तुम छीन लो ।

यहाँ हम देखते हैं कि लौकिक और अलौकिक प्रेम के बीच अन्तर विलीन हो गया है । प्रसाद के प्रेम की यह विशेषता है कि आराध्य और प्रेमास्पद के बीच अद्वैत की अनुभूति मिलती है । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने प्रेम की इस उत्कट अनुभूति के बारे में यों लिखा है -

"परम तत्व और प्रेमास्पद के बीच उभरते अद्वैत की अनुभूति द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक भाषा शैली में संभव न थी । यहाँ फिर प्रसाद पहले कवि हैं जहाँ संश्लिष्ट भाषिक विधान में यह नये ढंग की अनुभूति स्थापित होती है ।"[2]

---

1. "प्रसाद ग्रन्थावली" (जयशंकर प्रसाद) - खण्ड-1 - पृः 161.
2. "हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास" (रामस्वरूप चतुर्वेदी) - पृः 137.

प्रसादजी ने प्रेम के विरह-पक्ष का सुन्दर वर्णन किया है । प्रेम और विरह अभिन्न हैं -

"जब पल भर का है मिलन,
फिर चिर-वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चुटकीला सुमन रंग[1]"।

पल-भर का मिलन-सुख चिर-वियोग का दुःख देगा । एक बार हरा-भरा रहकर वह तुरन्त सूख जाएगा । प्रेम का विरह पक्ष अनिवार्य है । इसलिए कभी कभी कवि को लगता है कि प्रेम के लिए इतना रंग चढाने की क्या जरूरत है? विरह-व्याकुलता सहते सहते कभी कवि प्रेम की निंदा भी करते हैं -

"रे मन ।
न कर तू कभी दूर का प्रेम ।
निष्ठुर ही रहना, अच्छा है, यही करेगा क्षेम
देख न,
यह पतझड वसन्त एकत्रित मिला हुआ संसार ।
किसी तरह से उदासीन ही कर जाना उपकार ।।
या फिर,
जिसे चाह तू, उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर ।"[2]

---

1. "लहर" (प्रसाद) - पृ: 49.
2. "झरना" - वही - पृ: 89.

प्रेम में आनंद से झूम उठनेवाला हृदय जब विरह का पतझड अनुभव करेगा तो उसे वह असहनीय व्यथा देता है । इसलिए प्रेम के दुःखों से दूर रहकर, एक उदासीन जीवन बिताना ही कवि को अच्छा लगता है ।

कला

कला और सौन्दर्य अभिन्न हैं । प्रसादजी ने कला की कमनीयता को बार बार प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है । यत्र-तत्र उन्होंने कमनीयता के आधार पर कला की परिभाषा दी है । जैसे "आँसू" में वे कहते हैं -

"लावण्य-शैल राई सा
जिसपर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी"[1]

लावण्य या सौन्दर्य का पर्वत स्वयं कला पर बलिहारी हो गया है । कला की वह सुषमा प्यारी प्यारी लगती है । सौन्दर्य का शैल कला के सामने राई के समान तुच्छ है । और एक जगह भी प्रसादजी ने कला और कमनीयता का संबन्ध दिखाया है -

"कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्ति बन तेरी
खिंचती है हृदय-पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी ।"[2]

---

1. "आँसू" (प्रसाद) - पृः 20.
2. वही - पृः 38.

यहाँ कवि की प्रेयसी की कमनीय मूर्ति को ही कला की कामना के रूप में माना है । वही कवि हृदय में अभिलाषा बन जाती है ।

नारी

छायावादी कवि नारी के बारे में उदात्त मान्यताएँ रखते हैं । प्रसादजी "कामायनी" में श्रद्धा के द्वारा अपनी नारी- कल्पना का चरम उत्कर्ष दिखाते हैं । वे कहते हैं -

"नारी । तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष - स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।"[1]

प्रसादजी मानते हैं कि श्रद्धा का ही दूसरा नाम नारी है । जीवन के सुन्दर समतल में नारी पीयूष-धारा बहा सकती है । और एक प्रसंग में भी प्रसादजी की नारी विषयक धारणा का औन्नत्य दृष्टिगत होता है -

"नारी माया-ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल,
फिर कौन क्षमा कर दें निश्छल,
जिससे यह धन्य बने भूतल ; "[2]

---

1. "कामायनी" (प्रसाद) - पृ: 106.
2. वही - पृ: 238.

एक ओर नारी माया-ममता की शक्ति है तो दूसरी ओर वह दुनिया के लिए शक्तिमयी, शीतल छाया भी देती है । क्षमा की वह मानो मूर्ति है । उसीके कारण संसार धन्य होता है ।

"झरना" में प्रसादजी की सूक्ष्म दृष्टि ने नारी की मनोवैज्ञानिक भूमिका का दर्शन किया है और नारी-मनोविज्ञान के गहरे तत्वों को हमारे सामने रखा है -

"मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा ; यह
"नहीं नहीं" करना भी हाँ का प्रतिरूप है ;
घूँघट की ओट में छिपा है भला कैसे कभी,
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है ।"[1]

पुरुष अभिमानी है । नारी का मान तो प्रसिद्ध है । हृदय में एक तरह का भाव छिपाती हुई, वह बाहर दूसरा व्यवहार करती है । जब वह "नहीं नहीं" कहेगी, तब "हाँ" का भाव उसके अन्दर होगा । घूँघट के पीछे उसका सच्चा स्वरूप तो छिपा हुआ है ।

इस प्रकार प्रसादजी ने अपने काव्य में नारी के प्रति अपने उदात्त दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है । छायावादी कवियों में नारी-कल्पना में ऐसी उदात्तता और किसीमें नहीं मिलती ।

---

1. "झरना" (प्रसाद) - पृ: 62.

प्रसादजी की कविताओं में उपलक्षित काव्य चिन्तनपरक पंक्तियों का अनुशीलन करने पर यह दर्शित होता है कि उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्वों को जिस प्रकार गद्य में सूक्ष्म अभिव्यक्ति दी है, उसी प्रकार कविता में भी अपना चिन्तन अभिव्यक्त किया है । इस दृष्टि से "कामायनी" विशेष उल्लेखनीय है । "कामायनी" में पग पग पर लक्षित काव्य चिन्तन एक दार्शनिक भावभूमि पर भी आधारित है । सत्य, सौन्दर्य, प्रेम आदि काव्य सत्यों की, प्रसादजी ने जो व्याख्या दी है वह हिन्दी के काव्य चिन्तन की अमूल्य निधि है । उनकी काव्यदृष्टि एक विराट् , व्यापक, अलौकिक सत्ता से प्रेरणा पाती है ।

श्री. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कविता में छायावादी कविता के विविध आयाम और नानोन्मुखी सौन्दर्य मिलता है । "प्रबन्ध प्रतिमा", "प्रबन्ध-पद्म", "चयन", "चाबूक", "रवीन्द्र-कविता-कानन", "पंत और पल्लव" जैसी गद्य कृतियाँ इसका प्रमाण है कि वे कवि ही नहीं, समर्थ गद्यकार भी हैं काव्य और कला के बारे में उनके जो सुचिन्तित विचार और मान्यताएँ हैं, उन्हें उन्होंने अपनी गद्य कृतियों में व्यक्त किया है । इसके अलावा कविताओं में कहीं कहीं उनके काव्य संबन्धी विचार प्रकाशित हुए हैं ।

भाव पक्ष से संबद्ध विचार

निरालाजी के काव्य में काव्य के भाव पक्ष-संबन्धी जो विचार मिलते हैं उनका साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में बडा मूल्य है । उनको हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं ।

कविता का स्वरूप

अपनी दीर्घकालीन काव्य-तपस्या से निराला ने काव्य की आन्तरिक चेतना पहचान ली है । निराला ने काव्य को सत्य से संबद्ध किया है । सत्य की अभिव्यक्ति ही काव्य का स्वरूप है -

"गीत से ध्वनित अंतर, फैला फेनिल कल स्वर,
सत्य का तरंग मुखर रहा सुधर वही जिया ।
प्राणों में परम स्पन्द, भाषा में सूक्ष्म छन्द,
भरा चरण-गमन-मन्द जीवन विषम लिया ।।"[1]

कविता में जीवन-सत्य और कवि के अन्तर्मन के स्पर्श की अभिव्यक्ति होती है । जीवन के कटु तिक्त अनुभव कवि के अन्तर्मन को प्रभावित करते हैं और कवि को काव्य-रचना के लिए प्रेरित करते हैं ।

अन्य छायावादी कवियों के समान निराला ने भी काव्य का एक अलौकिक स्वरूप स्वीकार किया है । "दान" नामक कविता में वे स्पष्ट कहते हैं कि कविता ईश्वर का अद्भुत वरदान है -

"सौन्दर्य, गीत, बहु वर्ण गन्ध,
भाषा भावों के छन्द-बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब
सबमें है श्रेष्ठ, धन्य मानव ।"[2]

निरालाजी के अनुसार सौन्दर्य, गीत और विविध प्रकार के रंग, गन्ध, भाषा और भावों की अभिव्यक्ति तथा उससे श्रेष्ठ अन्य विलास प्रकृति के दान के रूप में कतिपय व्यक्तियों को मिलते हैं वे प्रयत्न के द्वारा प्राप्त नहीं होते ।

---

1. "बेला" (निराला) - पृ: 48.
2. "अनामिका" (निराला) - पृ: 22.

बल्कि कभी वे अनायास ही मिल जाते हैं । इन सबसे अनुगृहीत मानव ही सभी में से धन्य है । निराला का यही विश्वास है कि ईश्वरीय वरदान के रूप में ही काव्य-प्रतिभा प्राप्त होती है ।

जिस प्रकार ईश्वर स्वरूप के दर्शन के लिए तपस्या या साधना की जाती है, उसी प्रकार निराला के लिए काव्य-साधना एक तपस्या है ।

"मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरू की है तू कुसुमित प्रिये, कल्पना-लतिका"[1]

कविता कवि के जीवन की साधना है जो रसपूर्ण है । वे जीवन रूपी तरु की कुसुमित कल्पना-लतिका के रूप में कविता को मानते हैं ।

"अनामिका" की एक कविता में वे सत्य-सुंदर रूपी कविता से अपने हृदय में रहने की प्रार्थना करते हैं -

"यही सत्य सुन्दर ।
नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता जब उपल-प्रहार प्रखर ।
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर में
अपनी छवि में शुचि-संचारिता ।"[2]

---

1. "अनामिका" (निराला) - पृ: 42.
2. वही - पृ: 92.

जीवन के संघर्षों से जूझने के लिए कवि कविता को अपने अन्तरंग में बिठाना चाहते है । अगर उपलों की वर्षा होने पर भी अन्दर उर में कविता की प्रतिष्ठा होगी । भव्य-सुन्दर स्वरूप में उल्लसित होती हुई कविता पवित्र प्रभा रखती है ।

"अपरा" की निम्नलिखित पंक्तियों में निराला ने गीत-परिमल की कल्पना की है -

"शब्द के कलि-दल खुलें,
गति पवन-भर काँप थर-थर
मीड भ्रमरावलि छूलें,
गीत परिमल बहे निर्मल
फिर बहार बहार हो ।"[1]

निराला कविता को पुष्प और उसके परिमल में संबन्धित कल्पना के आधार पर देखते हैं । शब्दों रूपी कलि-दलों से गीत रूपी पवित्र सुगन्ध फैल जाये । मंद पवन में थर-थर काँप कर, भ्रमरों को आकृष्ट करती हुई वह शब्द-कलिका उन्हें बहुत मनमोहक लगती है । कलि और सुगन्ध के संबन्ध में शब्द और कविता का संबन्ध बहुत आकर्षक हुआ है । कवि अपनी कविता रूपी कलिका में बन्द रहता है लेकिन वही कलिका खिलकर सारी जगह सौरभ फैलाती है -

"जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसीमें खुली मन्द,
भारती रूप में सुरभि-छन्द निष्प्रश्रय ।"[2]

---

1. "अपरा" (निराला) - पृ: 70.
2. वही - पृ: 175.

यहाँ भ्रमर और कमल-मुकुल की कोमल कल्पना के समान कवि अपने को कविता रूपी मुकुल में बन्द मानते हैं । अब तो जिस प्रकार कलिका खिलती है उसी प्रकार काव्य-कलिका अब खुलकर पूर्ण हो गयी है । वाणी की मनोहारिता के रूप में उसकी सुगन्ध उन्मुक्त फैल रही है ।

अपनी एक कविता में निराला ने कविता को एक युवती के रूप में चित्रित किया है –

"यह कविता ही थी और साथ था
उसका बस शृंगार –
वीणा के वे तार नहीं जो बजते,
वह कवि की ही थी हार,
जहाँ से उठती करुण पुकार, –
चित्रित करने के उपाय तो किये
व्यर्थ हो गये किन्तु उपचार ।
भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका,
उस कविता का,
वह थी निश्छल, अविकार,
अंग अंग से उठीं तरंगें उसके,
वे पहुँचीं कवि के पास, कहा –
तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी
तुम को उस पार ।"[1]

---

1. "परिमल" (निराला) – पृ: 123.

कवि को लगता है कि एक युवती के रूप में कविता उनके सामने दर्शित हुई है । उस कविता का शरीर तो साज-सज्जा से अकृत्रिम सौन्दर्य नहीं रखता, बल्कि केवल उसे श्रृंगार का ही भूषण मिला है । उसके साथ साथ जो स्वर सुनाई पडता है, वह वीणा का नाद नहीं है बल्कि कवि की ही करुण पुकार है कि चित्रित करने के उपचार व्यर्थ हो गये । कविता रूपी उस नारी का हृदय प्रेम से भरा हुआ था । पर वह अचंचल थी । कवि को लगता है कि मानो उसने अपनी तरंगें भेजकर कवि को यही समझाया है कि जीवन के उस पार जाने के लिए कवि को ईश्वर से बुलावा आ गया है । यहाँ हमें लगता है कि कविता रूपी नारी कवि को उस ईश्वरीय सत्ता से जोडती है ।

काव्य का लक्ष्य

छायावादी कवियों की दृष्टि में कविता का लक्ष्य जगत की व्यापक सत्य की अनुभूति से संबन्धित है । निराला ने भी साहित्यकार के सृजन-कर्म को अमर, व्यापक सत्य पर आधारित माना है । अपनी गद्यरचना "चाबुक" में निरालाजी इस भाव को यों स्पष्ट करते हैं -

"सत्य या ईश्वर ही वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है ।"[1]

कृतिकार की आत्मा पाठक की आत्मा से रस के रूप में तादात्म्य पाती है । यह रस तो सत्य या ईश्वर का ही स्वरूप है । इसीलिए निराला अन्तर सौन्दर्य रूपी तत्व से तादात्म्य पाने को अपनी सफलता समझते हैं - सौन्दर्य का वह परम तत्व ही उनकी कविता के रूप में बह आता है -

---

1. "चाबुक" (निराला) - पृ: 49.

"सुन्दर हे सुन्दर ।
दर्शन से जीवन पर
बरसे अ[illegible] स्वर ।

परसे ज्यों प्राण,
फूट पडा सहज गान,
तान सुसरिता बही
तुम्हारे मंगल-पद छूकर ।
उठी है तरंग,
बहा जीवन निस्संग,
चला तुमसे मिलने को
खिलने को फिर भर भर ।"[1]

हे परम सुंदर स्वरूप । मेरे जीवन पर आप अमर स्वर के रूप में प्रकाशित हो । । आपके मंगल चरणों को छूकर सहज गान फूट पडता है जो तान की सरिता के रूप में बहता है । यह जीवन रूपी सरिता आपके दर्शन के लिए बहती है ।

छायावाद से संबन्धित विचार

निराला ने अपनी कतिपय कविताओं में छायावादी कविता की विशेष प्रकृति की ओर यत्र-तत्र संकेत किया है । "परिमल" में "अधिवास" शीर्षक कविता में उन्होंने छायावादी काव्य-शैली का स्वरूप समझाया है -

---

1. "अपरा" (निराला) - पृ: 162.

"मैं ने मैं शैली अपनायी,
देखा दुःखी एक निज भाई,
दुःख की छाया पडी हृदय में मेरे,
झट उमड वेदना आई ।"[1]

निराला कहते हैं कि उन्होंने "मैं" शैली को अपनाया है । छायावादी कवि कविता में आत्माभिव्यक्ति करते हैं । यहाँ उसकी ओर संकेत है । छायावादी कविता व्यक्तिनिष्ठ कविता है । कवि का व्यक्तित्व कथ्य तथा शिल्प दोनों में वर्तमान है ।

छायावादी कविता का जब आरंभ हुआ था, तब साहित्य-जगत् में उसको कटु आलोचना का सामना करना पडा । इसका उल्लेख करते हुए निराला ने "अनामिका" में एक कविता लिखी है । उसमें उन्होंने यह दावा किया है कि वे ही "वसन्त के अग्रदूत" हैं, अर्थात् हिन्दी में वे ही छायावाद के प्रवर्तक कवि हैं -

"मैं जीर्ण साज बहु छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन
मैं हूँ केवल पदतल-आसन,
तुम सहज बिराजे महाराज ।
ईर्ष्या कुछ नहीं तुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि ।

..2

---

1. "परिमल" (निराला) - पृः 117.
2. "अपरा" (निराला) - पृः 34.

ब्राह्मण-समाज में अछूत के सम. प्रतिष्ठित साहित्यकारों के बीच में निराला उपस्थित है । लेकिन निराला को अपने कवि-कर्म पर इतना विश्वास है कि वे काव्य-क्षेत्र में अपने को ही वसन्त का अग्रदूत मानते हैं । अर्थात् वे अपने को ही छायावाद का प्रवर्तक सूचित करते हैं ।

अनुभूति और अभिव्यक्ति

कवि-हृदय के भावों का, काव्य के रूप में अभिव्यक्त होना एक प्रकार की अलौकिक अनुभूति है । अभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया को निराला ने अपनी कुछ कविताओं में सुन्दर ढंग से उद्घाटित किया है - एक जगह वे कहते हैं कि भावों का आगमन कभी कभी बाढ के रूप में होता है -

"छन्द की बाढ, वृष्टि अनुराग,
भर गये रे भावों के झाग ।"[1]

अनुराग की वृष्टि होने पर छन्दों की तो बाढ आ गयी है । भावों के झाग भर गये हैं । भावों के आवेग म, छन्दों की बाढ के रूप में अभिव्यक्ति होती है । यहाँ कवि की दृष्टि में अनुराग की भावनाओं के आवेश में मानो भाव तो निर्बाध होकर कविता के रूप में बहने लगते हैं । यहाँ भाव की तीव्रता और उसकी तीव्र अभिव्यक्ति को निराला ने स्पष्ट किया है ।

कभी कभी भावों का ध्वनियों के रूप में परिवर्तित होना एक सुन्दर नृत्य की भंगिमा के रूप में कवि देखता है -

---

1. "गीतिका" (निराला) - पृ: 85.

"वर्ण चमत्कार,
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार ।
पद पद चल बही भाव धारा,
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी
फिर अपार वर्ण चमत्कार ।"[1]

अपने भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति में कवि वर्ण चमत्कार देखते हैं । एक एक शब्द तो मानो ध्वनि के रूप में साकार हो उठे हैं । भाव की धारा धीरे-धीरे अपना पद रखकर चलती है । भावों की इस अभिव्यक्ति में कवि एक सरिता की निर्मल कल कल ध्वनि पाते हैं । सारा विश्व तो इसके कल कल रव से भर गया है । काव्य के सारे बन्धन स्वतंत्र हो गये हैं । भावों की अभिव्यक्ति में असाधारण वर्ण-भंगिमा ही मिलती है ।

कभी कभी भाषा छिपी रहती है, कभी वह सामने आती है । भावों के इस आँख-मिचौनी के खेल का कवि एक प्रसंग में सूक्ष्म वर्णन करता है -

"वह भाषा छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रँग कर,
वह भाव कुरल-कुहरे सा भर कर भाया ।"[2]

कवि कहता है कि भाषा की छवि बहुत मोहक है । वह कभी कभी कुछ छिपती रहती है तो कभी कभी खुली रहती है । कुहरे से भरी हुई प्रकृति के समान उन्हें भाव और भाषा का यह संबन्ध बहुत आकर्षक प्रतीत होता है ।

---

1. "गीतिका" (निराला) - पृ: 92.
2. "तुलसीदास" (निराला) - पृ: 18.

"रेखा" नामक कविता में निराला अनुभूतियों की तीव्रता का आभास देते हैं । भावों की सघनता में मौन शब्दों से भी अधिक सशक्त होते हैं –

"भोग – वह भोग था,
शब्दों की आड में
शब्द-भेद प्राणों का
घोर तम संध्या की स्वर्ण-किरण-दीप्ति में ।
शत शत वे बन्धन ही
नन्दन स्वरूप से आ
सम्मुख खड़े थे ।
केन्द्र दो आ मिले
एक ही तत्व के,
सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम-बीज ।
कौन फिर फिर जाता?
बँधा हूआ पाश में ही
."[1]

जीवन के कुछ घनीभूत क्षण हैं जो शब्द-बद्ध नहीं हो सकते । घनीभूत जीवनानुभूतियाँ शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं पाती । मौन ही वहाँ सर्वाधिक सार्थवान लगता है । कविता के भाव-बीज भी कभी कभी मौन में ही अधिक व्यंजक लगते हैं । उपर्युक्त पंक्तियों का यही सार है ।

---

1. "अनामिका" (निराला) – पृ: 77.

काव्य की रचना की पृष्ठभूमि में तीव्र अनुभूतियाँ होती हैं, यह प्राचीन काल से ही लेकर कवि. ने स्वीकार किया है । भावों के इस आवेग को छायावादी कवियों ने विशेष महत्व दिया है । निराला कवि के अन्दर भावों का नर्तन देखते हैं । अपने एक लेख में वे लिखते हैं - "कवि का अर्थ नाचनेवाला ठीक है । यह नर्तन ताल ताल पर पैरों का उठना और गिरना नहीं, किन्तु भावावेश में हृदय का नर्तन है । भावावेश में हृदय के नर्तन के साथ ही, शब्द भी निकलते रहते हैं ।"[1] एक नर्तक के ताल-लय बोध के साथ कवि अपने अन्दर के भावावेश को अभिव्यक्त करता है ।

कभी कभी निराला को लगता है कि काव्य में भावों की अभिव्यक्ति एक आदर्श बहू की स्थिति से समानता रखती है । वे लिखते हैं -

"जलती अंधकारमय जीवन की वह एक शमा है ।
वह है सुहाग की रानी,
भावमग्न कवि की वह एक
मुखरता - वर्जित वाणी ।
सरलता ही से होती उसकी मनोरंजना"[2]

एक आदर्श बहू दु:खों के अंधकार से पूर्ण जीवन में एक उज्ज्वल दीप के समान प्रकाश देती है । वह सुहाग की रानी भावमग्न कवि की मुखरता-रहित वाणी के समान है । क्योंकि भावावेश में, सघन भाव मग्नता में सच्चा कवि मौन द्वारा अपने हृदय के सारे भाव प्रकट कर सकता है । बहू के मन को प्रसन्न करना आसान है । बहू तो अपने हृदयगत भावों को कभी मुखर वाणी में प्रकट नहीं करती । कवि भी अपने हृदय के तीव्र भावों को मौन की सशक्त भाषा में अभिव्यक्त करता है ।

---

1. "निराला रचनावली" - खण्ड-5 (निराला) - पृ: 151.
2. "परिमल" (निराला) - पृ: 147.

निराला ने अन्य अनेक प्रसंगों में भी मौन द्वारा सशक्त अभिव्यक्ति के बारे में उल्लेख किया है । "परिमल" में वे "मौन भाषा" को "बहूभावमयी" कहते हैं ।

"आशाओं भरी मौन भाषा बहूभावमयी
घरे रहा चन्द्र को चाव से, "[1]

मन की संपूर्ण आशाएँ, संपूर्णा चाव बहु भावों से युक्त मौन भाषा में अभिव्यक्त होती है । और एक गीत में भी अनुभूति से सघन मौन अभिव्यक्ति पर प्रकाश डालते हैं –

"मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड में
मन सरलता की बाढ में
जल-बिन्दु-सा बह जाय ।"[2]

मौन में ऐसी एक भाषा होती है जहाँ मधु का माधुर्य रहता है । सरल भावों की बाढ में मन जल बिन्दु के समान लीन हो जाता है । मौन में ऐसी तीव्रता होती है ।

भाव और शब्द

शब्द का भावों से जो संबन्ध है, उसके बारे में निराला ने स्पष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं । शब्द और अर्थ, या भाव और भाषा भिन्न होते हुए भी अभिन्न है । इस अभिन्नता को निराला ने आत्मा-परमात्मा के संबन्ध के द्वारा प्रस्तुत किया है –

---

1. "परिमल" (निराला) – पृ: 178.
2. वही – पृ: 29.

"तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा ।"[1]

यहाँ उनका विचार हमें इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा मृदुमानस के भाव के समान है तो जीवात्मा उसके स्थूल रूप भाषा के समान है । परमात्मा का ही तत्व जीवात्मा के रूप में अलग-सा प्रतीत होता है । उसी प्रकार भाव ही भाषा होकर भिन्न प्रतीत होता है । "मनोरंजिनी भाषा" और "मृदु मानस के भाव" कहते हुए उन्होंने उसकी संपृक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण हमारे सामने रखा है ।

शब्द और अर्थ की इस अभिन्नता के कारण काव्य काव्यत्व पा जाता है । इसलिए कृत्रिमता के बन्धन उसकी सुन्दरता के नाश करते हैं । "तरंगों के प्रति" शीर्षक कविता में निराला ने शब्दों का ध्यान युक्त प्रयोग उचित माना है -

"भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनंदन होगा आज ?"[2]

भावों के अनुकूल शब्दों के चयन के बारे में कवि का मन्तव्य इधर परोक्ष रूप से मिलता है । वे तरंगों से पूछते हैं कि तुम भाषा में शब्दों का अनुकूल प्रयोग करते हुए कौन-सा भाव पिरो रही हो, तुम किसका अभिनंदन करती हो यहाँ कवि शब्द और भावों के उचित संबन्ध की ओर इशारा करते हैं । कवि शब्द चुन चुनकर प्रयोग करके भावों को पिरो लेता है ।

---

1. "परिमल" (निराला) - पृ: 30
2. वही - पृ: 77.

कल्पना

कविता के जगत् में कल्पना का चमत्कार आश्चर्य जनक है । छायावाद के अन्य कवियों के समान निराला ने भी काव्य में कल्पना के महत्व के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं । कल्पना की सौन्दर्यमयी दृष्टि को वे कवि की सबसे बडी विशेषता के रूप में देखते हैं । अपने लेख में वे लिखते हैं -

"साधारण लोगों की दृष्टि और कवि की अन्तर्दृष्टि में विशेष अन्तर होता है । क्योंकि वह विश्व की प्रत्येक वस्तु को कल्पना की सौन्दर्यमयी दृष्टि से देखता है और नीरस से नीरस वस्तु को अपने अद्भुत कौशल द्वारा सरस और सुन्दर रूप देकर संसार के सामने रख देता है ।"[1]

अर्थात् कवि की कल्पना - दृष्टि संसार की हर चीज़ में सौन्दर्य का सरस रूप देखती है ।

निराला ने कविता को "कल्पना के कानन" की रानी माना है -

"कल्पना के कानन की रानी ।
आओ, आओ मृदु-पद, मेरे
मानस की कुसुमित वाणी ।"[2]

कवि के मानस की वाणी कल्पना से कुसुमित होती है । वह कल्पना रूपी कानन की रानी होकर कवि की ओर मृदु-पद रखती हुई आ रही है । कविता को यहाँ निराला ने कल्पना-कानन की स्वामिनी मान लिया है ।

---

1. "निराला-रचनावली" खण्ड-5 (निराला) - पृ: 222.
2. "गीतिका" (निराला) - पृ: 26.

कभी कभी निराला ने कल्पना को सत्य माना है तो कभी कभी उन्होंने उसका वायवी, असत्य रूप माना है । "कवि" शीर्षक उनकी कविता में ऐसी धारणा उन्होंने व्यक्त की है –

"देखता हूँ,
फूलते नहीं फूल जैसे वसन्त में
वैसे तब कल्पना की डालों पर खिलते हैं ।"[1]

कल्पना की डालों में जैसे फूल खिलते हैं, वैसे वसन्त में फूलते नहीं । यहाँ कवि कल्पना को अलीक मानते हैं । डा. कुमार विमल के अनुसार निराला ने कभी कभी लोकाचार में प्रचलित धारणा के अनुसार "कल्पना" शब्द का प्रयोग सत्य के विपरीत अर्थ में किया है । उनकी एक कविता है –

"बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना ।"[2]

यहाँ कवि कल्पना को सत्य के विरुद्ध मानते हैं । वे कहते हैं कि मैं जल्पना न करूँगा, कल्पना का नाश होना है और जो कुछ कहेगा, वह चाहे कम हो, वह सत्य ही हो ।

अपनी एक कविता में निराला ने कल्पना के प्रसारकामी स्वभाव पर प्रकाश डाला है –

"फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु कुटिल प्रसार-गामी केश गुच्छ"[3]

---

1. "परिमल" (निराला) पृ: 208.
2. "अणिमा" वही – पृ: 12.
3. "अपरा" वही – पृ: 17.

कवि आशा करते हैं कि नायिका के बाल कल्पना के समान, पीठ पर फैले, जो कोमल है किन्तु ऋजु और कुटिल दोनों प्रकार से प्रसारित होना चाहता है । कल्पना कभी कभी ऋजु होकर आती है तो कभी वह कुटिल गति से चलती है ।

और एक कविता में निराला ने बादल – गर्जन के प्रसंग में कल्पना की गति देख ली है –

"बादल, गरजो ।
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ ।
ललित, ललित, काले घुँघराले,
बाल कल्पना के – से पाले,
विद्युत् – छवि उर में कवि, नव जीवनवाले ।
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो ।
बादल, गरजो ।"[1]

हे बादल, आकाश में घेर-घेर कर, घोर गर्जन करो । उसके स्वरूप काले घुँघराले बालों के समान होते हैं । लेकिन इस अंधकार के बीच विद्युत् की छवि नव जीवन का प्रकाश देती है । उसी प्रकार कवि मन में कल्पना के बीच कविता का वज्र छिपा है । नूतन कविता की विद्युत् की छवि कल्पना के बीच प्रकट होती है ।

"परिमल" में "उसकी स्मृति" शीर्षक एक कविता में निराला ने कल्पना के स्वभाव की ओर इशारा किया है –

---

1. "अनामिका" (निराला) – पृ: 84.

"मन्द पवन के झोंकों से
लहराते काले बाल
कवियों के मानस की मृदुल
कल्पना - के - से जाल,
वह विचर रही थी मानस की
प्रतिमा - सी
उतरी इस जगती - तल में, "[1]

मन्द पवन में लहरानेवाले काले सुन्दर बालों को देखकर उन्हें कवि-कल्पना का स्मरण होता है । कवियों की कल्पना भी इन बालों के समान लहराती है । कवि कल्पना से मृदुल, सुन्दर जाल बुन ले सकता है ।

कवि-मन

कवियों का मन सारे बन्धनों को तोडकर स्वच्छन्द विचरना चाहता है । निराला ने कवि-मन की इस विशेष स्वच्छन्द शीलता पर अपना मत प्रकट किया है ।

"बह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुलकर उन्मन ।"[2]

---

1. "परिमल" (निराला) - पृ: 107.
2. "तुलसीदास" (निराला) - पृ: 22.

पुष्पों से भरे वन में बहनेवाले मन्द पवन से जिस प्रकार वन व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार कवि का चित्त भावों से उन्मन हो जाता है । मंद समीर के बहने से एक सुखद व्याकुलता जो होती है, वही सुखद उन्मत्तता कवि भी अनुभव करता है ।

कवि को हर पल जीवन में संघर्ष करना पडता है । क्योंकि उसका मन स्वतंत्र रहना चाहता है । वह जीवन के जडत्व और अंधकार से जूझकर वहाँ चैतन्य और प्रकाश फैलाने को इच्छुक है -

"होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड से चेतन का निशि वासर,
कवि का प्रति छवि से जीवन हर, जीवन भर ,
भारती इधर, हैं उधर सकल
जड जीवन के संचित कौशल ,
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया - कर ।"[1]

निराला के "तुलसीदास" की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में कवि के मनो-वैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा सर्जनात्मक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है । अपनी प्रेयसी के व्यक्तित्व में देवी भारती को देखते हुए, अपने एकान्त प्रणय भाव को भारती के दिव्य आलोक में तुलसीदास विलीन कर देते हैं । कवि-मन में संस्कृतियों और विचारधाराओं का जो घोर संघर्ष होता है उसका स्वरूप यहाँ बहुत स्पष्ट है । "राम-रावण का अपराजेय समर" के द्वारा "राम की शक्ति-पूजा" में, देव-मानव-असुर की संस्कृतियों की टकराहट के रूप में प्रसादजी की कामायनी में भी यही संघर्ष चित्रित हुआ है ।

---

1. "तुलसीदास" (निराला) - पृ: 58.

वेदना और कविता का संबन्ध

वेदना और काव्य का अभिन्न संबन्ध प्राचीन काल से ही माना गया है । छायावादी कवियों ने वेदना या करुणा को काव्य की प्रेरणा प्रद शक्ति भी माना है । निराला की दृष्टि में भी काव्य का वेदना से गहरा संबन्ध मिलता है । पंत ने जब काव्य को वेदना के बहिःस्फुरण के रूप में देखा, तो निराला की राय में, वेदना को नियंत्रित रखना गीत का लक्ष्य है । कवि गीत की तल्लीनता में वेदना से मुक्त हो जाता है । जैसे वे "अर्चना" में कहते हैं –

"गीत गाने दो मुझे तो,
वेदना को रोकने को ।"[1]

कवि प्रार्थना करते हैं कि मुझे गीत गाने दो ताकि मैं अपनी वेदना को रोक सकूँ ।

"क्या दूँ" नामक कविता में वे कविता देवी के चरणों पर अश्रुओं का उपहार चढाते हैं – "कवियों ने चुन-चुन पहनाए तुमको कितने हार, वहाँ हृदय की हार – आँसुओं का अपना उपहार ;

"कैसे देवि चढा दूँ?
कहो, और मैं क्या दूँ?"[2]

कविता-देवी को कितने ही कवियों ने चुन-चुनकर सुन्दर हार पहनाए । मैं तो हृदय का हार चढाता हूँ जो आँसुओं के रूप में अपना उपहार है । यहाँ कवि वेदनामय अभिव्यक्ति को काव्य में उचित स्थान देते हैं ।

---

1. "अर्चना" (निराला) – पृः 75.
2. "परिमल" – वही – पृः 89.

छन्द

छायावाद युग के पूर्व कविता छन्दों के बन्धन में फँसी रहती थी । छायावादी कवियों ने मुक्त छन्द का प्रयोग करके कविता को छन्दों के कठोर नियमों से स्वतन्त्र किया । निराला मुक्त छन्द के प्रथम प्रयोक्ता हैं । अपने एक लेख में छन्द की परिभाषा वे यों देते हैं - "छन्द शब्दों का आवर्त है छन्द स्वर का तार है । वह शब्दों की माला है, अर्थात्मक वाक्यों की एक परिमित लडी है ।"[1] वे छन्द को केवल शास्त्रीय अर्थ में नहीं लेना चाहते हैं । शब्दों के आवर्त के रूप में, स्वर के तार के रूप में छन्द कविता में प्रकट होता है । शब्दों की एक माला के रूप में छन्द का सौन्दर्य होता है । सार्थक वाक्य जब एक सीमित लडी के रूप में आते हैं, तो उसे छन्द कहते हैं । यहाँ निराला की इस परिभाषा से छन्द के प्रति एक भिन्न दृष्टि मिलती है कि शब्दों की गति में स्वाभाविक रूप से छन्द बन जाते हैं ।

निराला ने काव्य में मुक्त छन्द का प्रयोग उचित माना । उन्होंने मुक्त छन्द की परिभाषा यों दी है -

"जो कवि मुक्त काव्य करने की अभिलाषा रखते हैं, वे भाव के आने पर अपने शब्दों को किसी निर्दिष्ट छन्द में न बाँधकर उन्हें अनर्गल रूप से - ज्यों ज्यों वे निकलते आते हैं उसी रूप में - लेखबद्ध कर लेते हैं - वही मुक्त काव्य कहलाता है ।"[2]

---

1. "निराला रचनावली" - खण्ड-5 (निराला) - पृ: 152.
2. वही - पृ: 153.

अपनी एक कविता में भी वे मुक्त-छन्द की गरिमा बताते हैं -

"सहज भाषा ने
समझाती थीं ऊँचे तत्व
अलंकार - लेश - रहित , श्लेषहीन ,
शून्य विश्लेषणों से -
नग्न नीलिमा - सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी -
मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशमान वह मन का -
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र ।"[1]

यहाँ निराला वेदों में मुक्त छन्द का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देखते हैं । ऊँचे तत्वों को अलंकारों के बिना, जटिल विश्लेषणों के बिना निर्मल आकाश की भाँति अभिव्यक्त करने की क्षमता वेदों की भाषा में थी । आज भी वेदों का वह मुक्त छन्द मन के भावों को सहज रूप से, अकृत्रिम चित्र के रूप में प्रकट कर सकता है ।

निराला के काव्य चिन्तन में हम देखते हैं कि उन्होंने भाव और अर्थ के विभिन्न आयामों के बारे में अपनी एक विशेष दृष्टि से अध्ययन किया है । कवि-कर्म की अपार्थिव अनुभूतियों तथा काव्य के लक्ष्य की ओर निराला ने विशेष ध्यान दिया है । अनुभूतियों की चरम सीमा में कवि को संप्रेषण की समस्या का सामना करना पडता है । इस भाव-मूर्च्छा के बारे में निराला के विचार मार्मिक हैं । शिल्प के क्षेत्र में मुक्त छन्द के प्रवर्तक के रूप में निराला ने जो काम किया है वह हिन्दी कविता के इतिहास में अविस्मरणीय है । मुक्त छन्द की विशिष्टता के बारे में निराला ने अपनी कविताओं में बार बार सूचित किया है ।

---

1. "परिमल" (निराला) - पृ: 240.

श्री. सुमित्रानंदन पंत

छायावादी कविता काव्य के भावपक्ष तथा कलापक्ष के प्रति एक नये परिवर्तित दृष्टिकोण का परिणाम है । इसलिए छायावादी कवियों ने अपने गद्य में ही नहीं, कविताओं में भी इस नयी काव्य दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयास किया । सुमित्रानंदन पंत ने "पल्लव" की भूमिका में छायावाद का स्वरूप प्रस्तुत किया । इसके अतिरिक्त पंतजी ने अपनी अनेक कविताओं में छायावादी सौन्दर्य बोध तथा कलात्मक दृष्टिकोण के बारे में चिन्तन किया है । काव्य के कथ्य पक्ष के बारे में उन्होंने जो मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किये हैं वे उनकी गहन काव्य दृष्टि के परिचायक हैं । कलापक्ष का विवेचन करनेवाली उनकी उक्तियाँ छायावादी कला-दृष्टि की सुन्दर व्याख्या करती हैं -

कथ्य पक्ष पर आधारित पंतजी के विचार

पंतजी ने काव्य के कथ्य पक्ष के जिन विभिन्न तत्वों का अवलोकन अपनी कविता में किया है, उनमें काव्य के स्वरूप पर आधारित चिन्तन प्रमुख है ।

काव्य का स्वरूप - सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

"पल्लव" की भूमिका में अपने ही वाक्य का वे उद्धरण करते हैं - "हम कला का मूल्यांकन सत्यं, शिवं, सुन्दरं के मानों से कर सकते हैं ।"[1]

---

1. "पल्लव" - सुमित्रानंदन पंत - पृ: 19.

छायावादी कवियों में "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" की व्याख्या पंतजी ने ही प्रमुख रूप से की है । भारतीय साहित्यकारों ने प्राचीन काल से लेकर साहित्य या कला को अलौकिक धरातल पर खडा करने का प्रयास किया है । सर्जक ईश्वर के तुल्य है और उसकी दृष्टि ईश्वर के ही समान सत्य, शिव और सुन्दर की भावना पर आधारित है । "परिवर्तन" नामक कविता में यह भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है –

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार ;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार ;
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार ;
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार ।"[1]

अर्थात् समस्त सृष्टि के आधार रूप में जो सत्य या अखण्ड घन चैतन्य है, वही अपार प्रेम का रूप धारण करते हुए हमारे हृदयों में बहता है । इस अखण्ड सत्य का और एक रूप नयनों में अनुपम सौन्दर्य के रूप में झलकता है । वही चेतना "शिवं" की भावना स्वीकार करके लोक सेवा के रंग में उपस्थित है । यह मधुर, सुकुमार सत्य ही प्रेममय उद्गारों के रूप में स्वरों में अभिव्यक्त होता है । यह संसार तो उसके दिव्य सौन्दर्य से भरा है, इस संसार के रूप में वही प्रेम साकार हुआ है । इसीलिए मूलतः सत्य, सौन्दर्य और शिवं में कोई अन्तर नहीं है । सत्य ही सुन्दर है, वही शिव है ।

---

1. "पल्लव" – सुमित्रानंदन पंत – पृः 158.

काव्य और सत्य

पंतजी ने काव्य को स्थूल जगत् के आधार पर ही नहीं देखा, बल्कि काव्य-सृजन को सत्य की अभिव्यक्ति पर आधारित माना है । अपनी "शिल्पी" नामक कविता में उन्होंने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है -

"मैं जग-जीवन का शिल्पी हूँ,
जीवित मेरी वाणी के स्वर,
जन-मन के मांस-खण्ड पर मैं
मुद्रित करता हूँ सत्य अमर ।"[1]

कवि अपने को समष्टि में अंतर्लीन मानते हुए कहता है कि वे समस्त जगत् का शिल्पी हैं । मेरी इस वाणी का हर स्वर जीवित है । क्योंकि जन-जन के हृदय में वे अखण्ड, अमर सत्य की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं ।

उपनिषदों में शब्द या नाद ब्रह्म माना गया है । पंतजी ने भी वाणी या काव्य को उस अलौकिक, शाश्वत सत्य का प्रतीक माना है -

"वाणी, वाणी
मुझे सृष्टि की वाणी दो अविनश्वर ।
जो बहु वर्ण गंध रूपों में
करती सृजन निरन्तर,
जिस वाणी में अनुभव करते
चुपके निखिल चराचर ।

---

1. "युगवाणी" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ. 31.

-G4070-

जो वाणी चिर जन्म मरण
तुम औ" प्रकाश से है पर,
जो वाणी, जीवन की जीवन,
शाश्वत, सुन्दर, अक्षर ।
वाणी, वाणी,
मुझको दो घट घट की वाणी के स्वर ।"[1]

कवि नाद से प्रार्थना करते हैं कि मुझे समस्त सृष्टि का नाद दो, जो अमर है । इस नाद से हमेशा नाना प्रकार के वर्ण-गन्ध-रूपों में सृष्टि होती रहती है । इसी नाद में सभी चराचरों की चेतना का आधार महामौन विलीन है । यह वाणी जन्म-मरण, प्रकाश- अंधकार आदि द्वन्दों से परे है, जीवन का भी जीवन है और अमर, सुन्दर, अक्षर है । यही वाणी घट-घट में प्रकाशित होती है - मेरा स्वर इसी वाणी को प्रकाशित कर सके । इस नाद या महामौन की कल्पना उपनिषदों के अनुरूप लगती है । यहाँ वे अपनी वाणी को एक अलौकिक धरातल प्रदान करना चाहते हैं ।

काव्य के साथ चिरन्तन सत्य का संबन्ध दिखानेवाला और एक अंश "शंखध्वनि" में मिलता है -

"कौन भूमि वह' -
स्वप्नों के पाँवडे बिछाकर
जहाँ विचरते तुम
अंतर के तद्गत क्षण में -
जहाँ कला कल्पना तूलि से
सृजन सत्य को
सतत सँवारा करती
स्रष्टा के दर्पण में ।"[2]

---

1. "युगवाणी" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 117.
2. "शंखध्वनि" - वही - पृ 49.

कवि की अन्तश्चेतना "तद्गत क्षण" में ऐसी एक उदात्त भावभूमि में प्रविष्ट होती है जहाँ स्वप्नों के पाँवडे बिछाकर वह विचरण करती है । वहाँ कला स्रष्टा के बृहत् दर्पण में कल्पना की तूलिका से सृजन के सत्य को हमेशा सँवारा करती है । यहाँ इंद्रियों से परे एक अलौकिक समाधि में मग्न योगी से पंतजी कलाकार की चेतना की तुलना करते हैं । "गीतहंस" नामक काव्य-संग्रह में भी उन्होंने काव्य को सत्य से अभिन्न दिखाया है - "प्रेयसि कविते" पुकार कर ते कहते हैं -

"अभिव्यक्ति पाता तुममें
वह सत्य छन्द बन,
जिसे संवार न पाता
जग जीवन संघर्षण ।
बहिर्भ्रान्त जग के कर्दम में
खोया हृद् धन
सहज सुलभ तुममें,
तुम हृदय सत्य की दर्पण ।"[1]

कविता में वही अमर सत्य छन्द के रूप में अभिव्यक्ति पाता है जो बाह्य जगत् के संघर्षमय जीवन में अप्राप्य है । हृदय का वह सत्य रूपी धन तो बाह्य जगत् के संघर्षों के कर्दम में खो गया है । लेकिन कविता में वह सहज रूप में सुलभ है । कविता तो उसी हृदय-सत्य की दर्पण है । इस काव्यांश में भी पंतजी काव्य का संबन्ध समस्त जगत् के आधार रूपी सत्य से मानते हैं ।

---

1. "गीतहंस" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 93.

शिवं की भावना

"शिवं" या लोक मंगल को काव्य और कला का सर्वस्व मानने की रीति बहुत प्राचीन काल से ही मिलती है । संस्कृत में कहा गया है -

"काव्यं यशसे ऽर्थकृते शिवेतरक्षतये ।"[1]

अर्थात् काव्य कीर्ति, अर्थप्राप्ति और अमंगलों के विनाश के लिए होता है । यहाँ काव्य का लक्ष्य लोकमंगल को मानते हैं । सुमित्रानंदन पंत ने भी छायावादी कविता की लोकमंगल की भावना को अपनाया है । कवि का कर्म इतना पवित्र है कि वह "शिवं" या मंगल प्रदान करनेवाला है । वह संसार का अंधकार दूर करके नया प्रभात जगाता है -

"गा सके खगों सा मेरा कवि,
विश्री जग की संध्या की छवि ।
गा सके खगों सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात, - फिर आवे रवि ।"[2]

प्रकृति के विराट् राज-दरबार में संध्या-समय में पक्षियों का मंगल - गान हम सुनते हैं । उसी प्रकार श्रीहीन इस जग की साँझ में मेरा कवि मंगल-गीत गाये । इस श्रीहीन जगत् में एक नये प्रभात का उदय हो, नये सूरज का प्रकाश फैले जिसमें मेरा कवि प्रभात-गीत गाये सभी अमंगलों का नाश करके मंगल की प्रार्थना करना ही कवि का लक्ष्य है ।

---

1. "काव्य प्रकाश" (मम्मट) 2/2 - पृ: 2 - द्वि. संस्करण 1959.
2. "युगान्त" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 32.

जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में भगवान् कृष्ण ने धर्म और अधर्म के बीच के महायुद्ध में पांचजन्य के शंखनाद से जग को अनुबुद्ध किया, उसी प्रकार कवि भी नव प्रबोध देनेवाला शंखनाद सुनाता है –

"शंखनाद कर सके काव्य
जग जीवन रण में,
पांचजन्य बन
नव प्रबोध दे सके मनुज को ।

कहाँ आज वह शक्ति काव्य में
मनुज बृत्ति को
तूर्य दिशा दे सके –
भेद कर तमस हृदय का ।
विद्युत् स्पर्श न भाषा में
सौन्दर्य भाव में,
नवोन्मेष भर सके
रूढि जर्जर जग में जो ।"[1]

पंतजी की अभिलाषा है कि काव्य भगवान कृष्ण का पांचजन्य बनकर जीवन रूपी रणक्षेत्र में नया प्रबोध दे सके । लेकिन कवि का मन तुरन्त ही उस अभिलाषा की अर्थहीनता समझ सकता है । क्योंकि मनुष्य जीवन में हृदय के अंधकार को दूर कर सूरज के समान प्रकाश फैलाने की शक्ति आज के काव्य में नहीं है । उसके अनुकूल विद्युत् स्पर्श या सौन्दर्य आज की काव्य-भाषा में नहीं है जो इस जीर्ण – शीर्ण जग जीवन में नया उत्साह फैला सके । लेकिन कवि जग को उत्साहित करने का यह नया दायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार है । वे विश्वास करते हैं कि उनकी लेखनी में यह मंगल-दायिनी शक्ति प्रवाहित हो सकती है –

---

1. "आस्था" (सुमित्रानंदन पंत) – पृ: 76.

"इस अमर लेखनी से प्रतिक्षण
मैं करता मधुर अमृत वर्षण,
जिससे मिट्टी के पुतलों में
भर जाते प्राण, अमर जीवन ।"[1]

वे कहते हैं कि उनकी लेखनी अमृत की वर्षा करेगी जिससे जग-रूपी मिट्टी की मूर्तियों में प्राण आ जाएंगे । ये मृण्मय मूर्तियाँ अमर हो जायेंगी । जगत् की इस निर्जीव मूर्ति को चिरन्तन बनाने का लक्ष्य बहुत उदात्त है । यहाँ कवि काव्य को मंगल या शिवं की भावना पर आधारित मानते हैं ।

उपनिषदों में बताया गया है कि "सत्य" हिरण्मय पात्र से आवृत है । उसे अनावरण करके सत्य का चेहरा दिखा देना कवि का कर्तव्य है । "गीतहंस" में कविता को "प्रेयसि" पुकारकर नये भविष्य का अनावरण करने का वे आह्वान करते हैं -

"प्रेयसि, कवि चेतने,
हिरण्मय पात्र हटाकर
भावी का मुख
नव सर्जन हित
करना तुम्हें अवगुण्ठित ।"[2]

हिरण्मय पात्र के अन्दर छिपे हुए भविष्य का मुख कवि को ही अनावृत करना है जिससे नया सर्जन अवतरित हो । इसी भावना को आधारित करके "अतिमा" में वे अपने गीतों को भविष्य का आधार मानते हैं -

---

1. "युग वाणी" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 31.
2. "गीतहंस" - वही - पृ: 4.

"तो मेरे गीतों में देखी
नव भविष्य की झाँकी,
निःस्वर शिखरों पर उडता
गाता सोने का पाँखी ।"[1]

आनंद-गान करते हुए सत्य के शिखरों पर विहार करनेवाले, सोने के पंखोंवाले पक्षी की कल्पना उपनिषद में मिलती है । यहाँ सत्य के आधार भूत निःस्वर शिखरों में उडनेवाला स्वर्ण-पंखवाला पक्षी कवि स्वयं हैं । वे नये भविष्य का मंगल-गान करना चाहते हैं ।

इस प्रकार अपनी अनेक सुन्दर पंक्तियों द्वारा पंतजी ने काव्य या सृजन को मंगल की भावना से ओत-प्रोत साबित किया है ।

सुन्दरं की भावना

काव्य की भारतीय कल्पना है कि काव्य सत्य, शिव और सुन्दर भी होता है । काव्य अथवा कला के मनोनीत तत्वों में सौन्दर्य-चेतना महत्वपूर्ण है । श्री पंतजी ने काव्य के इस सौन्दर्याधिष्ठित रूप का सूक्ष्म, व्यापक विश्लेषण किया है । वे सौन्दर्य को इतना व्यापक और आत्मनिष्ठ मानते हैं कि कवि में कूरूपता को भी सौन्दर्य में परिवर्तित करने की अपूर्व सौन्दर्य दृष्टि होती है । जैसे वे लिखते हैं -

---

1. "अतिमा" - {सुमित्रानंदन पंत} - पृः 13.

"कलाकार के पास हृदय का यौवन चाहिए, जिसे धरती पर उँडेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है ।"[1] "पल्लव" की एक पंक्ति में पंतजी की सौन्दर्य दृष्टि अपना उदात्त भाव दिखाती है -

"अकेली सुन्दरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्यों की सन्धान ।"[2]

जग के सभी ऐश्वर्यों को वे सौन्दर्य में अंतर्लीन मानते हैं । जगत् और जीवन में सर्वत्र सौन्दर्य का प्रभुत्व देखकर कवि सौन्दर्य को ही समस्त श्री और ऐश्वर्य का केन्द्र स्थापित करते हैं ।

पंतजी के अनुसार सौन्दर्य सृजन आत्मास्थित सौन्दर्य का ही बाह्य प्रक्षेपण है । कभी कभी वे इस सौन्दर्य-सृजन का स्रोत ढूँढना चाहते हैं जैसे -

"चित्रिणि । इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता निज सौन्दर्य - सृजन ?
वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर -
क्या कहती यही, सुमन चेतन ?"[3]

हे चित्रिणि । जिस आनंद या सुख से सौन्दर्य की सृष्टि होती है उसका स्रोत कहाँ है ? - वह स्वर्ग तो हृदय के अन्दर ही छिपा हुआ है । वही "सुमन-चेतना" कहलाती है । और एक कविता में पंतजी ने कवि के अनुभूतिमय अंतर्जगत् से इस सौन्दर्य - चेतना का संबन्ध दिखाया है ।

"गद्यपथ" (सुमित्रानंदन पंत) पृ: 204.

2. "पल्लव" - वही - पृ: 118.

3. "युगपथ" - वही - पृ: 53.

"क्या है यह सौन्दर्य चेतना ? जग जीवन की
अंतरतम स्वर संगति जो अब अन्तर्नभ के
शिखरों से उतर रही स्वर्णिम प्रवाह से
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को ।"[1]

यहाँ सौन्दर्य - चेतना की व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि उसका एक छोर "जग-जीवन की अंतरतम स्वर संगति" से संबद्ध है तो दूसरा छोर कल्पना के स्वर्णिम प्रवाह से शोभित है । कल्पना के स्वप्निल पंखों के द्वारा कवि के "अन्तर्नभ के शिखरों से", अर्थात् कवि के अन्तर्जगत् से उतरकर सौन्दर्य चेतना वसुधा को उर्वर करती है ।

कवि का अन्तर्मन सौन्दर्य की स्वर्णिम अनुभूतियों से इतना ओत-प्रोत है कि वे निखिल सृष्टि में सौन्दर्य का नर्तन ही देखते हैं -

"भाव बोध, रस संवेदन -
ये केवल शोभा के हृत्स्पन्दन,
निखिल सृष्टि सौन्दर्य - सुरा -
उन्मत्त - रभसे गति करती नर्तन ।"[2]

काव्य का भाव - बोध और रस-संवेदन जो कहलाया जाता है वह केवल सौन्दर्य के ही हृत्स्पन्दन हैं । सौन्दर्य की सुरा पीकर निखिल सृष्टि उन्मत्त भाव में नृत्य कर रही है । अर्थात् कवि अन्दर और बाहर दोनों में सौन्दर्य-दर्शन की उन्मत्तता ही देख पाता है । "चिदंबरा" की एक कविता में पंतजी ने बहुत काव्यात्मक ढंग से मानसिक या आध्यात्मिक सौन्दर्य का स्वरूप निर्धारित किया है -

---

1. "शिल्पी" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 107.
2. "गीतहंस" - वही - पृ: 221.

"ज्यों झरते हर सिंगार झर-झर
ज्यों हिम फुहार कण फहर फहर,
मेरे मानस से सुन्दरता,
नि:सृत होती त्यों निखर निखर ।"[1]

जिस प्रकार हरसिंगार के फूल झर झर के मनोहर स्वर में झरते हैं और जिस प्रकार ओस की नन्ही नन्ही बून्दें उतर पडती हैं उसी प्रकार कवि के मन से सौन्दर्य कण कण में नि:सृत होता है । इस प्रकार सौन्दर्य बाहय जगत् की वस्तुओं पर आधारित नहीं है, बल्कि कवि के अन्तर्मन से सौन्दर्य-कण फूट पडते हैं जिसके स्वप्निल स्पर्श से सृष्टि का कण कण सुन्दर हो जाता है । इसीलिए यह माना जाता है कि सुन्दर को सुन्दर कहना एक साधारण से साधारण व्यक्ति का काम है जबकि एक सच्चा कवि असुन्दर में भी सुन्दरता का दर्शन करता है । जैसे शैली ने अपने लेख **"A Defence of Poetry"** में लिखा - **"Poetry turns all things to loveliness, it exalts the beauty of that which is most beautiful, and it adds beauty to that which is most deformed."**[2] कविता सुन्दर को सुन्दरतम बना देती है और असुन्दर में भी सौन्दर्य ला सकती है । पंतजी ने भी इस तत्व का प्रतिपादन किया है -

"कला क्या? कहता हरि सोन्मेष,
असंगति में संगति भर नव्य,
असुन्दर में सुन्दर को खोज
रस गढना जन भू का भव्य"[3]

---

1. "चिदंबरा" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 62.
2. 'Poets on Poetry' (Edited by Charles Norman) - p.208.
3. "लोकायतन" (सुमित्रानंदन पंत) - पृ: 278.

कवि का कथन है कि असंगति में संगति भरना, असुन्दर में सुन्दर की खोज करना कला का धर्म है । और एक कविता में सौन्दर्य के साथ कुरूपता को भी स्वीकार करने का विचार मिलता है -

"चयन मत करो, चयन मत करो,
वरण करो, -
सुन्दर कुरूप को . कमल कीच को ।"[1]

उनका मत है कि चयन करना उचित नहीं है । सुन्दर और कुरूप दोनों का वरण करना चाहिए । कमल के साथ ही उसके आधार कीचड को भी हमें स्वीकार करना पडेगा । सबको समेटनेवाली यह सौन्दर्य दृष्टि उसीमें होती है जो सौन्दर्य को स्थूल धरातल से परे सूक्ष्म आध्यात्मिक धरातल पर देखता है । यही रावीन्द्रिक सौन्दर्य बोध है जिसका प्रभाव पंतजी में हम पाते हैं ।

लेकिन सूक्ष्म, इन्द्रियातीत सौन्दर्य की वायवी कल्पना में उडानें भरते हुए कवि इस जगत् से पलायन करना नहीं चाहते । कवि के अनुसार सौन्दर्य चेतना लोक मंगल की भावना पर आधारित है । "युगवाणी" में पंतजी ने कला को सामाजिक सौन्दर्य से मंडित किया है -

"सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल,
जग जीवन से हो एक प्राण ।

---

1. "वाणी" (पंत) - पृ: 22.

मानव -स्वभाव ही
बन मानव - आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण,
असुन्दर को सुन्दर ।"[1]

कला के कल्पित मान जो "सत्य शिव सुन्दर" है वे स्थूल जग जीवन से एकत्व पा गये । मानव का आदर्श बनकर वह अपूर्ण को पूर्ण करता है, असुन्दर को सुन्दर बना देता है । यहाँ सौन्दर्य की कल्पना उनकी प्रगतिशील दृष्टि से रंगी हुई है । अपनी "परिवर्तन" शीर्षक कविता में भी पंतजी ने सौन्दर्य को "शिव" या लोक मंगल की भावना पर केन्द्रित माना है -

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार ।"[2]

एक ही तत्व प्रज्ञा में सत्य का स्वरूप लेता है, हृदय में अपार प्रेम बन जाता है, लोचनों में सौन्दर्य हो जाता है और वही शिव या लोक सेवा का तत्व हो जाता है । इस सामाजिक सौन्दर्य - चेतना से जग जीवन का अंधकार दूर होकर नया प्रभात उदित हो सकता है । कवि को लगता है कि उनके मन में ही इस उदात्त सौन्दर्य का स्रोत है -

"सुन्दरता का आलोक स्रोत है फूट पडा मेरे मन में
जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में ।"[3]

---

1. "युगवाणी" (पंत) - पृ: 15.
2. "पल्लव" वही - पृ: 158.
3. "युगान्त" वही - पृ: 27.

अर्थात् कवि के मन में अब सौन्दर्य का दिव्य आलोक फूट पडा है जिससे जग का अंधकार दूर होकर, इस जग के आंगन में नया प्रभात हो जाएगा ।

इसी सौन्दर्य से कवि भू को स्वर्ग बना सकता है । पंतजी ने "ग्राम्या" में इस भावना को अभिव्यक्त किया है -

"आज भी सुन्दरता के स्वप्न
हृदय में भरते मधु गुंजार,
वर्ग कवियों ने जिनको गूँथ
रचा भू स्वर्ग, स्वर्ण संसार ।"[1]

अर्थात् सुन्दरता के स्वप्न हृदय में मधुर गुंजन करते हैं । कवि-गण सौन्दर्य के स्वप्नों को गूँथकर संसार को स्वर्गीय या स्वर्णिम आभा प्रदान करते हैं । कलाकार का दायित्व जन-मन में सौन्दर्य का संगीत भर देना है -

"कलाकार साहित्यकार का
क्या दायित्व भला हो सकता
इससे सुन्दर ? -
शोभा की अंगुलि से छूकर
वह संगीत पिरोता जन भू-मन में ।"[2]

कलाकार या साहित्यकार सौन्दर्य की अंगुली के स्पर्श से जन-मन में संगीत भर देता है । उससे बढकर दूसरा सुन्दर दायित्व नहीं होता । इसी कविता में वे एक पग भी आगे बढकर कलाकार के कर्तव्य को और भी उदात्त दिखाते हैं । उनके अनुसार, कलाकार केवल सौन्दर्य का संगीत भर देता ही नहीं, बल्कि इन सबसे परे एक अलौकिक धरातल में हमें पहुँचा भी देता है -

---

1. "ग्राम्या" (पंत) - पृ: 93.
2. "शंखध्वनि" - वही - पृ: 112.

"वह सौन्दर्य, प्रकाश, प्रेम,
आनंद लोक के द्वार खोलकर
आत्मा से साक्षात् कराता
निखिल क्षुद्रताओं से ऊपर,
सुख दुःख के सागर तर ।"[1]

कलाकर जन-मन में सौन्दर्य, प्रकाश, प्रेम तथा आनंद की दुनिया का द्वार खोल देता है, जहाँ पहुँचकर वह आत्मा से साक्षात्कार पा सकता है जो सभी प्रकार की क्षुद्रताओं से ऊपर है, सुख - दुःख के सागर के पार है । अर्थात् कलाकार का लक्ष्य इस सूक्ष्म, आध्यात्मिक सौन्दर्यानुभूति से दुनिया को एक अलौकिक आनन्द प्रदान करना है । इस प्रकार पंतजी ने काव्य की सौन्दर्य चेतना पर जो चिन्तन प्रस्तुत किये हैं वे विशेष रूप से प्रभावात्मक हुए है ।

आनंद

यह बात प्राचीन काल से ही स्वीकृत है कि कला या काव्य का लक्ष्य आनंद की उपलब्धि है । एक ओर सर्जक अपनी सृजन प्रक्रिया के द्वारा एक अलौकिक आनंद प्राप्त करता है तो दूसरी ओर पाठक भी उस कृति के आस्वादन से अपने में आनन्द का अनुभव करता है । इस प्रकार कविता में आनंद के क्षणों की अनुभूतियों का अंकन होता है । काव्य और आनंद के इस संबन्ध के बारे में पंतजी यों लिखते हैं -

---

1. "शंखध्वनि" (पंत) - पृः 112.

"कवि अन्तर
आनंद - स्रोत से प्रेरित
जीवन - कांक्षा को
करता रस - संस्कृत ।"[1]

अर्थात् जब कवि के अन्दर आनंद स्रोत बहने लगता है तब उससे कविता निकल पडती है जो जीवन कांक्षाओं को रसाप्लावित करती है, जिनमें जीवन की अनुभूतियों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है ।

रचनाधर्मिता पर आधारित विचार

रचनाधर्मिता को अलौकिक रंग देने की प्रवृत्ति भारत में अनादि काल से ही वर्तमान है संस्कृत में तो कवि को स्वयंभू माना है जो ब्रह्मा के सदृश है ।

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"[2]

कवि-कर्म को अलौकिक भूमिका देने की प्रवृत्ति सुमित्रानंदन पंत ने भी स्वीकार की है । अपनी एक कविता में उन्होंने सृजन को जड-चेतन से परे माना है ।

"तुम जड-चेतन की सीमाओं के आर-पार
इंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ।"[3]

---

1. "आस्था" (पंत) - पृः 104.
2. शुक्लयजुःसंहिता (अ. 40. म. 8).
3. "ग्राम्या" (पंत) - पृः 103.

अपनी ही वाणी से वे कहते हैं कि तुम जड-चेतनमय जगत् की सीमाओं से परे है । तुम भविष्य के सत्य को स्वर दे सकती हो जिसके लिए तुम्हें किसी अलंकार की जरूरत नहीं है । उसमें स्वतः एक आत्मीय शक्ति बहती है जो कविता को आकर्षक बना देती है । यह शक्ति प्रयत्न से संबन्धित नहीं है । इसीलिए पंतजी कहते हैं कि जो स्वयं ज्योतिर्मय है वही कला को व्यक्तित्व प्रदान करता है -

"मुझको लगता
वही कला को देता निज व्यक्तित्व
स्वयं व्यक्तित्ववान्
ज्योतिर्मय जो ।"[1]

अर्थात् जो ज्योतिर्मय है और स्वयं व्यक्तित्ववान् हैं वही कला को अपने ज्योतिर्मय व्यक्तित्व से अनुगृहीत करता है । जो एक अलौकिक प्रतिभा से अनुगृहीत है वही काव्य रचना कर सकता है । यही बात "शंखध्वनि" की एक कविता में वे कहते हैं -

"लघु हिम-कण या गीति - पंक्ति रचना क्या संभव
यदि न आत्मा तन्मयता में हो कला निछावर[1]
कहाँ खोजते शाश्वत में, अव्यय, अनन्त में
एक ओस कण, एक पूर्ण क्षण में भी ईश्वर ।"[2]

कलाकार के चरणों पर आत्म समर्पण न करती तो कवि गीति-रचना नहीं कर सकता । इसीलिए रचना-धर्म को वे देवकर्म कहते हैं -

---

1. "शखध्वनि" (पंत) - पृः 36.
2. वही - पृः 38.

"देवकर्म है रचना कर्म
डूबाओ मन के
राग द्वेष भय,
तुच्छ स्वार्थ जीवन सागर में
सृजन कर्म का ज्वार
उल्लसित उठता जिसमें ।"[1]

रचनाधर्मिता एक ईश्वरीय कार्य है । इसलिए रचनाकार को मन के राग-द्वेष, भय आदि भावनाओं का त्याग करना चाहिए । यह जीवन एक ऐसा सागर है जहाँ तुच्छ, स्वार्थ-भावनाओं का जल भरा हुआ है । इसमें कभी कभी सृजन-कर्म का ज्वार उठता है जो सब कहीं उल्लास की लहरें उठाता है । कवि की राय में तुच्छ भावनाओं के द्वन्द्वों के बीच दैवी शक्ति ही सृजन-कार्य के रूप में उल्लास और उन्मेष प्रदान करती है । इसीलिए पंतजी कवियों को ऋषियों की कोटि में रखना चाहते हैं -

"भगवद् द्रष्टा होते कवि
भगवत् स्रष्टा भी,
सृष्टि चाहती
ईश्वर जीवन में हो विकसित ।"[2]

कवि इतना तपः पूत है कि वह भगवान का द्रष्टा है । भगवान का वह स्रष्टा भी है । क्योंकि सृष्टि यही चाहती है कि जीवन में ईश्वरीय तत्व विकसित हो जाय । काव्य का यह ईश्वरीय धरातल पाश्चात्य कवियों द्वारा भी पहचाना गया है । शैली कहते हैं -

---

1. "आस्था" (पंत) - पृः 165.
2. वही - पृः 13.

"Poetry is not like reasoning, a power to be exerted according to the determination of the will. A man cannot say 'I will compose poetry".[1]

सृजन की इस अलौकिक प्रेरणा के बारे में पंतजी यों कहते हैं -

"सृजन कर्म मैं रोक न सकता
वह मेरे स्वभाव का दर्पण,
मैं हँसता जब कहते सुनता
लिए हुए मैं उनका आसन ।"[2]

पंतजी के मत में सृजन कर्म में वे जान - बूझकर लगते नहीं है । बल्कि वह उनके स्वभाव का ही प्रतिबिंब देनेवाला आईना है । जिस प्रकार आइने में हमारा प्रतिबिंब मिले बिना नहीं रहता, उसी प्रकार कवि मन का स्वभाव ही उनकी कविता में स्वत: प्रतिबिंबित होता है । यही नहीं,

"मैं क्या लिखता नहीं जानता,
बिना लिखे मानता नहीं मन,
मुझे लाँघ आते जीवन
प्रेरित शोभा-पंख सृजन - क्षण ।"[3]

कवि ही नहीं जानते कि वे क्या लिख डालते हैं । लिखे बिना उनका मन तृप्त नहीं होता । यद्यपि उनके पक्ष से कोई प्रयत्न नहीं, फिर भी स्वयं उन्हें ही लाँघकर सृजन के क्षण आ पहुँचते हैं जो सौन्दर्य के पंखों में, जीवन के प्रति अदम्य प्रेरणा लिए हुए हैं ।

---

1. 'Poets on Poetry' - p.206 (Edited by Charles Norman).
2. "शंखध्वनि" (पंत) - पृ: 102.
3. वही - पृ: 139.

इसलिए कविता का अर्थ खोजना निरर्थक है । क्योंकि वह स्वर्गिक अभिव्यक्ति है -

"अर्थ खोजते हो कविता का ?
सृष्टि - सृजन का ?
अभिव्यक्ति वह स्वर्गिक
आत्मोल्लास की महत् ।"
सुरधनुओं के मसृण
सुरंग तृणों से कल्पित
नीडों से मणि पंख खोल
सपने उडते जब
कविता लेती जन्म
मनोनभ में तब नि:स्वर ।"[1]

कविता - रचना में आत्मोल्लास की स्वर्गिक अभिव्यक्ति होती है । कविता के जन्म लेने की स्वप्नमय स्थिति को कवि मधुर शब्दों में प्रस्तुत करते हैं । यहाँ सपनों की सुन्दर उडान होती है । इन्द्रधनुओं के मनोहर सुरंग-तृणों से कल्पित नीडों से सपने जब अपने मणिमय पंख खोलकर उडने लगते हैं तब मनोरूपी नभ में निश्शब्द कविता जन्म लेती है । कवि को लगता है कि कविता उनकी प्रेयसी है जो कभी कभी स्वर्ण-नूपुर झंकार के साथ अवतरित होती है -

"विवश मुझे करती कविता जब
उसे उतारूँ,
ले लेखनी लेकर मैं
कुछ काल प्रतीक्षा

---

1. "आस्था" (पंत) - पृ: 166.

करता रहता तब नि:स्वर
स्वर्णिम नूपुर ध्वनि
स्वर - लय नर्तित,
मुग्ध हृदय को करती सहसा ।"[1]

ऐसा नहीं होता कि वे अपनी तुष्टि के लिए जान -बूझकर कविता को जन्म देते । बल्कि ऐसा होता है कि कविता उनसे यह प्रार्थना करती हुई विवश करती है कि उसे उतारें और उन्हें विवश होकर उसकी प्रार्थना सुननी पडती है । तब वे पत्र और लेखनी लेकर कुछ क्षणों तक उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, तो धीरे धीरे उसके नूपुरों की झंकार सुनाई पडती है, जो नि:स्वर है । उस नि:स्वर ध्वनि में स्वर्णिम भंगिमा है जो स्वर-लय में नृत्य करती है और कवि-हृदय को सहसा मोहित कर डालती है । इस प्रकार अपनी प्रेयसी कविता के आगमन से सब कुछ भूल जाते हैं ।

कवि जब अपनी कविता का स्रोत खोजने लगते हैं तब उनको लगता है कि कविता - जगत् में वे एक शिशु हैं और उसे अनजान ही कविता मिल गयी है । "गुंजन" में वे अपने गान की इस अपार्थिव प्रेरणा को व्यक्त करते हैं -

"आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान
खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश ;
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिये भेद भरे संदेश

---

1. "आस्था" (पंत) - पृ: 226.

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गयी प्रभात ;
गूढ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात ;
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गये अपना गान ।
दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गयी नील संसार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार ।"[1]

कवि को लगता है कि प्रकृति के कण कण से अनजान ही उन्हें अपना गान मिल गया है । कोमल कलियों ने अपने हृदय के द्वार खोलकर उन्हें सौन्दर्य का संपूर्ण जगत् समर्पित किया है । भ्रमरों ने अपने मधुमय गुंजनों के द्वारा कितने ही गूढ संदेश सुनाये । सोची पडी चिडिया को अचानक प्रभात ने मानों जगा दिया । हवा में हिलनेवाले पत्ते मानो गूढ संकेतों द्वारा कवि से कुछ कह रहे थे । कवि के चिर चंचल प्राण अब प्रकृति के कोने कोने से अपना गान पाकर आनंदित हुआ है । अब कवि को लगा कि दूर क्षितिज के पार, स्वर्ग की परियों का सुकुमार छाया-वन छिपा हुआ है । इन सारी पंक्तियों में कवि ने यह बात साबित की है कि उनका काव्य अज्ञात स्रोत से अनजान ही बह पडता है ।

"कला और बूढा चाँद" की एक कविता में पंत ने प्रकृति और मनुष्य का समीकरण प्रस्तुत किया है ।अंतमें कवि-मन की भावनाओं के प्रेरणा-स्रोत के रूप में प्रकृति का उल्लेख हुआ है -

---

1. "गुंजन (पंत) - पृ: 73.

"वन फूलों में
मैं ने नये स्वप्न रँग दिए,
कल देखोगे ।
कोकिल कंठ में
नयी झंकार भर दी
कल सुनोगे ।"[1]

यहाँ वे वन-फूलों में नये स्वप्नों का रंग देखकर यही बताना चाहते हैं कि ये रंग उन्हींके दिये हूए हैं । कोकिल के कंठ में नयी मधुर झंकार कवि ने ही भर दी है । कवि का भाव-रंग और उन्हींका आनंद- गान प्रकृति में हम पाते हैं । प्रकृति के भावों से तादात्म्य स्थापित करते हुए पंतजी अनुभव करते हैं - उनके मन का भाव-प्रसार ही प्रकृति में दिखायी देता है ।

सुकुमार चेतना के कवि होते हुए भी पंतजी ने कवि के हृदय को कमजोर या अस्वतंत्र नहीं माना है । उनकी दृष्टि में कलाकार दृढ स्वभाव और असीम शक्ति रखता है -

"कवि स्वभाव से सौम्य
किन्तु निःशक्त न किंचित्
एक निष्ठ, बहु प्रेमी,
आत्म विभक्त न निश्चित ।"[2]

स्वभाव से सौम्य होते हुए भी कवि शक्तिहीन नहीं है । उसका मन एकनिष्ठ और एकाग्र प्रेम से ओतप्रोत है, किन्तु वह आत्म विभक्त नहीं है, निश्चित है ।

---

1. "कला और बूढा चाँद" (पंत) - पृ: 45.
2. "गीतहंस" (पंत) - पृ: 75.

यह स्वतंत्र चेतना अपनी कला सृष्टि में भी वह प्रकट कर सकता है । शुष्क नियमों की सीमा में कवि-हृदय के उद्गारों को बाँधा नहीं जा सकता । इसके बारे में पंतजी का स्पष्ट मत है -

"कलाकार को नैतिकता सिखलाते हो तुम ?
शुष्क नियम पालेगा क्या वह आत्म शुद्धि के
बिना लीक चलने ही में जिसका गौरव है ?"[1]

कलाकार को हम नैतिकता नहीं सिखला सकते । आत्मशुद्धि के शुष्क नियमों का पालन करना उसका कार्य नहीं है । उसका गौरव ही बिना लीक चलने में ही है । कला की गरिमा उसकी स्वतंत्रता में है ।

स्वप्तिल संसार के स्वर्णिम पंखों से उडकर इंद्रियातीत सौन्दर्य की अनुभूति खोजते हुए भी कवि स्थूल जगत् के प्रति अपना कर्तव्य नहीं भूल सकता । क्योंकि काव्य का लक्ष्य लोक मंगल पर अधिष्ठित है । पंतजी ने बार बार इस लोक-मंगल की भावना को स्पष्ट किया है -

"सच कहना ही जग में कवि का धर्म है,
उसे नहीं कोई माने या पहचाने,
बाहर का जनघोष नहीं कवि की वाणी,
भीतर स्वर जगने पर वह लगता गाने ।"[2]

शब्द नहीं है जहाँ, भाव भी झूक जहाँ,
वह अवाक् नीखता को देता वाणी, -
सोई रहती जग के कोलाहल में जो
निराकार की प्रतिमा गढता कल्याणी ।"[2]

---

1. "सौवर्ण" (पंत) - पृ: 61.
2. "शंखध्वनि" - वही - पृ: 39.

अर्थात् कवि का धर्म तो सच कहना है, चाहे कोई माने या न माने । बाहर के जनघोष का कवि से कोई संबन्ध नहीं है, भीतर स्वर जगने पर ही वह गा सकता है । क्योंकि उसे कोलाहल के बीच में निराकार, नि:स्वर काव्य की प्रतिमा गढनी चाहिए ।

"लोकायतन" में भी कवि के इस कर्तव्य के बारे में उन्होंने अपना मत प्रकट किया है –

"कविर्मनीषी का कर्तव्य सनातन
जीवन मंगल का करना सुख सर्जन
श्री, सुषमा, रस महिमा, स्वर गरिमा से
कुसुमित कूजित रखना
जन – भू – प्रांगण ।
लक्ष्य कवि का न मात्र आनंद,
न रस ही उसकी अंतिम सिद्धि,
उभय अनुभूति जनित परिणाम
अर्थ – गौरव की करते वृद्धि ।
काव्य का तत्व अनिर्वचनीय
हृदय – प्रज्ञा से संभव भोग,
व्यक्त करता अंत: सौन्दर्य
भावना तन्मय कवि का भोग ।"[1]

प्राचीन कल्पना के अनुसार कवि तो सचमुच मनीषी हैं । उसका कर्तव्य जीवन को मंगलमय बनाना है । श्री की सुषमा, रस की महिमा और स्वर की गरिमा से जन–जीवन के प्रांगण को हमेशा कुसुमित रखना है, वसन्त कोकिल के समान उसे

---

1. "लोकायतन" (पंत) – पृ: 254.

कूजित रखना है । काव्य का रस या आनंद उसका अर्थ-गौरव बढाने के लिए है । भावना में तन्मय कवि की तपस्या से अन्तः सौन्दर्य उद्घाटित होता है । काव्य का तत्व अनिर्वचनीय ही है ।

व्यर्थ भटकना या कल्पना में विचरना नहीं, बल्कि नये जीवन का वसन्त खोजने की आकुलता ही कवि का धर्म है । कवि की आन्तरिक प्रेरणा ही सबसे महत्वपूर्ण है -

"व्यर्थ भटकना
ह्रास निराशा के
अंधकार में
नहीं मनीषी
प्राज्ञ जनों को भाता
अभिव्यक्ति पाने को
प्राणों का अन्तर्जग
अन्तर्द्रष्टा कलाकार
कवि के मन में अकुलाता ।
संयम धर्मा कला
उसे कढ धूल धुंध से
पतझर में खोजना
नये जीवन वसन्त का आगम -
"।

ह्रास के अंधकार में व्यर्थ भटकना प्राज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है । जो अन्तर्द्रष्टा कलाकार है उसके मन में अपने अन्तर्जग की अभिव्यक्ति करने की आकुलता होती है । इस आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर वह ह्रास के पतझर में ही नये जीवन का वसन्त खोजने में निमग्न हो जाता है ।

---

1. "गीतहंस" (पंत) - पृ: 82.

हृदय खोलकर गा लेनेवाला कवि परम सत्य की अभिव्यक्ति करता है । कुछ न बोलकर भी सब कुछ कह लेना भी चरम सीमा की कला है । शब्दों और भावों से परे अभिव्यक्ति की चरम सीमा में सच्चा कलाकार पहुँच जाता है -

"गाते जाओ, गाते जाओ
गाते जाओ,
(वे मुझको सिखलातीं)
शब्दों में न रमाओ,
भावों में न समाओ,
हृदय खोलकर
गा लेना ही
सत्य है परम,
कुछ न बोल कर
कह लेना ही
कला है चरम ।"[1]

गाते गाते कवि को शब्दों की सीमा से, भावों की सीमा से ऊपर उठना चाहिए । इस प्रकार हृदय खोलकर गाना ही सत्य का परम स्वरूप है । कला की चरम अवस्था में कलाकार मौन में भी सक्षम अभिव्यक्ति कर सकता है ।

काव्य का प्रेरणा - स्रोत - वेदना

पंतजी काव्य में करुणा या वेदना तत्व को इतना महत्वपूर्ण स्थान देते है कि उनकी दृष्टि में करुणा काव्य की प्रेरणा देती है । काव्य की इस वेदना-मूलकता के बारे में उनकी ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं -

---

1. "गीतहंस" (पंत) - पृ: 118.

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
उमडकर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ।"[1]

वियोगी पुरुष ही कवि बन जाता है । उसकी करुण आह से गान निकलता है । आँखों से नि:स्वर उमडनेवाले आँसुओं के साथ कविता अनजान ही बही होगी । क्योंकि पंत की राय में दु:खी मन ही काव्य रचना कर सकता है । उस हृदय की दु:ख स्वाभाविक रूप से एक गान के रूप में निकलने लगता है । आदिकवि वाल्मीकि के प्रसंग में यह बिलकुल सच है ।

"पल्लव" में ही और एक जगह वे वेदना की व्यापकता के बारे में लिखते हैं -

"आह । यह मेरा गीला गान ।
वर्ण वर्ण है उर की कंपन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण अरुण अथाह,
बून्द में है बाडव का दाह ।"[2]

वे अपने गान को गीला पाते हैं । उनकी कविता के वर्ण वर्ण में हृदय की कंपन है उसके शब्द-शब्द में स्मृतियों की दंशन है, कविता के हर चरण में गहन करुणा मिलती है । उसकी हर एक बून्द में दु:ख की बाडवाग्नि जलती है । सच कहें तो वह करुणा का शब्द-रूप है ।

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृ: 65.
2. वही - पृ: 64.

कभी कभी उनको व्यथा वरदान प्रतीत होती है -

"विरह है अथवा यह वरदान ।
कल्पना में है अथवा यह वरदान ।
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ।"[1]

विरह की असहनीय वेदना सहते हुए भी उन्हें वह वेदना वरदान सी लगती है । कवि की कल्पना में कसकती वेदना है, पर आँसुओं में सजीव गान ही निकलता है, अपनी आहों में उन्हें मधुर छन्द की लय मिलती है । इस रुदन में एक मोहक लय का, अनन्त रूप से वे आस्वादन करते हैं । इस करुणा-भरी वाणी का महत्व स्वर्णधूलि में वे व्यक्त करते हैं -

"निःस्वर वाणी,
नीरव मर्म कहानी ।
अन्तर्वाणी ।
नव जीवन सौन्दर्य में ढलो,
सृजन व्यथा गांभीर्य में गलो,
चिर अकलुष बन विहँसो हे
जीवन कल्याणी
निःस्वर वाणी ।"[2]

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृः 65.
2. "स्वर्णधूलि" - वही - पृः 102.

कवि की नि:स्वर वाणी में अन्तर्व्यथा की मर्म कहानी छिपी है । इस अथाह करुणा को नव जीवन के सौन्दर्य के रूप में बदलाना चाहिए । इस व्यथा को गंभीर सृजन में परिणत कर देना है । इससे जीवन को मंगल देनेवाली वाणी स्वच्छ हास करेगी जो अमर है ।

काव्य की सामाजिक भूमिका

प्रगतिवादी विचार धारा से आकर्षित होते होते पंतजी ने काव्य को सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है । उनकी परवर्ती रचनाओं में काव्य और समाज का यह संबन्ध बार बार अभिव्यक्त हुआ है - "उत्तरा" की भूमिका में पंतजी ने यह संबन्ध स्पष्ट रूप से उद्घाटित किया है -

"लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए ।"[1]

"युग संघर्ष" नामक कविता में कवि की इस सामाजिक चेतना पर वे बल देते हैं -

"गीतक्रान्त रे इस युग के कवि का मन,
नृत्यमत्त उसके छन्दों का यौवन ।
वह हँस हँसकर चीर रहा तम के घन,
मुरली का मधु रव कर भरता गर्जन ।"[2]

---

1. "उत्तरा" (पंत) - पृ: 6.
2. वही - पृ: 7.

इस युग के कवि का मन गीत से आक्रान्त है । उसके छन्दों का यौवन नृत्य से उन्मत्त है । वह तो हँसता हुआ अंधकार का भेदन कर, मुरली की स्वर-माधुरी से युक्त गर्जन करता है । यहाँ हम ऐसे एक कवि का चित्र पाते हैं जो अपनी कविता द्वारा क्रान्ति का शंखनाद सुनाता है ।

कवि के लिए समाज की मुक्ति ही अपनी मुक्ति है । वह सामूहिकता में "अपना" सब कुछ खो लेता है -

"सर्वमुक्ति हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व जीवन की स्वर लिपि
जन मन कर्म कहानी ।
कवि की वाणी ।"[1]

प्रगति चेतना की भूमिका में कवि यहाँ सामाजिक अभिव्यक्ति पर बल देते हैं । कवि के लिए मुक्ति का तत्व अब आत्मनिष्ठ नहीं है, सभी लोगों की मुक्ति पर आधारित है । - "सामूहिकता" में अपनेपन को खो देना कवि का कर्तव्य है । कवि की वाणी जन-मन की मर्म-कहानी होगी और विश्व-जीवन की संपूर्ण स्वराभिव्यक्ति होगी ।

"ग्राम्या" में वे कवि को समाज का किसान मानते हैं -

"जोतो हे कवि, जित प्रतिमा के
फल से निष्ठुर मानव अंतर,
चिर जीर्ण विगत की खाद डाल,
जन भूमि बनाओ सम सुन्दर ।

---

1. "युगवाणी" (पंत) - पृ: 20.

बोओ, फिर जन मन में बोओ,
तुम ज्योति पंख नव बीज अमर,
जग जीवन के अंकुर हँस हँस
भू को हरीतिमा से दे भर ।"[1]

कवि को समाज का किसान बनना चाहिए । समाज का खेत तो अब जीर्ण-शीर्ण हो गया है । प्रतिभा के हल से निष्ठुर मानव-मन को जीत लेना है । समाज-रूपी इस भूमि को अतीत की खाद डालकर संपुष्ट करना चाहिए । फिर जन-मन में ज्योति के बीज बोने चाहिए । तब जग-जीवन के अंकुर-हँस हँसकर उग जायेंगे । भूमि हरी-भरी हो जाएगी ।

आज तो जीवन का क्षेत्र इतना संघर्षमय है कि कवि को अपने आदर्शों के लिए लडना पडता है । वह समाज में योद्धा के रूप में है -

"मैं चुप रहता कहता मन में
सब ज्ञात मुझे भय का कारण
शस्त्रों से समधिक शब्दों से
कवि लडता जग जीवन का रण ।"[2]

कवि के हाथ में शब्दों के सशक्त हथियार हैं जिनसे वह जग-जीवन का रण लड सकता है । उस पर निष्ठुर मानव-अंतर के संघर्षों से लडने का महान् दायित्व है ।

भविष्य की क्रान्त-दृष्टि से कवि जन-व्यथा दूर करता है -

---

1. "ग्राम्या" (पंत) - पृः 102.
2. "शंखध्वनि" - वही - पृः 58.

"कवि रे भविष्य की क्रान्त दृष्टि,
देखता जग के आर पार,
स्वर स्पर्श सुधा से जन मन का
जीवन का हरता व्यथा - भार ।"[1]

कवि अन्तर्दृष्टि के बल पर भविष्य की क्रान्त दृष्टि हो सकता है । जग के आर पार अवलोकन करता है और अपने स्वर के अमृत स्पर्श से जीवन का दुःख दूर करता है । कवि की वाणी में व्यथा हटानेवाली शीतलता मिलती है । इसीलिए पाश्चात्य कवि जॉन ड्रै ने कहा - **"But poets do not write for poets alone, but for men".**[2] कवि अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए लिखता है ।

समाज की विसंगतियों और असंगतियों को देखकर कभी कभी कवि के मन का द्वन्द्व आक्रोश में परिणत होता है । इसके बारे में पंतजी लिखते हैं -

"कवि उर का आक्रोश
महत् वाणी में फूटे,
मज्जित कर दे महती करुणा
भू जीवन तट -
ओ विराट् जीवन के प्रतिनिधि
सहृदय भूमा,
नयी चेतना से अभिषिक्त
करो जन अंतर ।"[3]

---

1. "शंखध्वनि" (पंत) - पृ: 60.
2. **"Poets on Poetry" (Edited by Charles Norman) - p.150.**
3. "आस्था" (पंत) - पृ: 82.

पंतजी आशा करते हैं कि जीवन के विषम वातावरण के प्रति कवि के मन में जो आक्रोश होता है वह महत् शब्दों के रूप में फूट पडे । वह भू-जीवन में करुणा को प्रवाहित करे । कवि विराट् जीवन के प्रतिनिधि है जो जनजीवन में नयी चेतना का अभिषेक करे ।

"लोकायतन" की भूमिका में पंतजी ने कवि और समाज के इस घनिष्ठ संबन्ध को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है - "यदि मेरा कवि प्रयास इस संक्रान्ति काल की युग गाथा के भीतर से विकास गामी मानवता के जीवन सत्य की झाँकी प्रस्तुत कर सका तो मैं अपने सृजन-कर्म को सफल समझूँगा ।"[1]

कवि युगवाणी को अभिव्यक्त करने में अपने को कृतार्थ मानता है -

"स्वर्ण-सूत्र में कविते, गूँथो जन-मन
युग-वाणी में नव मानस कर निर्मित,
हो कृतार्थ जन जीवन मन का अनुभव
निज भाषा में भाव कोष पा अतुलित ।"[2]

पंतजी कविता को उपदेश देते हैं कि हे कविते, तुम जन-मन के रत्नों को स्वर्ण सूत्र में गूँथो । नव युग के मन को, उनके अनुभवों को अपनी भाषा में अभिव्यक्त करते हुए तुम्हें कृतार्थ होना चाहिए ।

शब्द और अर्थ से संबन्धित चिन्तन

छायावादी कवियों ने शब्द और अर्थ के संबन्धों को सूक्ष्म रूप से पहचान लिया है । पंतजी ने अपनी कुछ कविताओं में शब्द, अर्थ आदि पर आधारित सूक्ष्म चिन्तन अभिव्यक्त किये हैं ।

---

1. "लोकायतन" (पंत) - भूमिका
2. वही - पृ: 6.

कभी कभी पंतजी को शब्दों की भावव्यंजना की क्षमता में संदेह होने लगता है । उन्हें लगता है कि शब्द अपने अधीन नहीं हैं, वे भावों के प्रकाशन में कमज़ोर है –

"शब्द खोखले
स्थूल मनः स्थितियों के द्योतक ।
सूक्ष्म भाव अनकहे
समझ में आ जाते नित ।
उन्हें चाहने पर भी
नहीं कहा जा सकता ।

इसलिए निःस्वर संकेत
सबल हैं ।
जीवनप्रद, प्रेरक है
मुखर शब्द से ।"[1]

छायावादी कवि ने यह अनुभव किया था कि स्थूल भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते होते शब्दों का भाव तो घिस गया है । इसलिए सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में वे सक्षम नहीं हैं । पंतजी कहते हैं कि शब्द स्थूल मनःस्थितियों का द्योतन करते हुए खोखले हो गये हैं । इसलिए सूक्ष्म अनुभूतियाँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहने पर भी वे अभिव्यक्त नहीं हो पातीं हैं । कमज़ोर शाब्दिक अभिव्यक्तियों से नीरव संकेत में ही

---

1. "शंखध्वनि" (पंत) – पृः 64.

अधिक बल या शक्ति है, वे ही [illegible] शब्द से ज़्यादा प्रेरणादायक हैं, जीवन दायक हैं । क्योंकि मुखर होने पर कविता की अनुभूति मन्द पड जाती है । और एक प्रसंग में भी पंतजी ने काव्य के इस सूक्ष्म धरातल को समझाया है –

"संभव और असंभव
दोनों के उस पार
सत्य के उस अंबर में
शब्द अर्थ से परे
कहीं कविता रहती है ।
सूक्ष्म भाव कविता के
होते स्फुरित हृदय में ।"[1]

कविता की भूमिका शब्द और अर्थ से परे है – वह संभव और असंभव दोनों से परे, सत्य के आकाश में कहीं रहती है । कविता के ये सूक्ष्म भाव हृदय में स्फुरित हो जाते हैं । इसकी केवल अनुभूति ही हो सकती है ।

"गीतहंस" में वे शब्दों को जडत्व से ऊपर उठने का आह्वान करते हैं –

"ओ रहस्य,
तुम बनो नये मन,
बनो नये जन ।
जीर्ण शब्द अर्थों के जड शव
भावों में वह रहा न वैभव,
तुम रहस्य,
इससे चिर अभिनव, –
सृजन – स्पर्श सुख – संभव ।"[2]

---

1. "आस्था" (पंत) – पृ: 167.
2. "गीतहंस" वही – पृ: 128

पंतजी रहस्य से नये नये मनों और नये नये जनों के रूप में प्रकट होने का उपदेश देते हैं । अब तो अर्थों के स्थान पर केवल उनके जीर्ण-शीर्ण शव ही मिलते हैं । आज तो भावों में तनिक भी पुट नहीं मिलता । इसलिए कवि आशा करते हैं कि सृजन के जगत् में अभिनव रहस्यों का उदय हो ।

"पल्लव" की भूमिका में शब्द और अर्थ के संबन्ध को पंतजी ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है - "कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न भिन्न आकारों में कटी छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी संधियाँ एकाकार हो जाती हैं "।[1]

कविता में आकर शब्द और अर्थ की विभिन्न सत्ताएँ समाप्त हो जाती हैं । राग में वे दोनों एकाकार होकर भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं ।

कल्पना - तत्व

छायावादी कवियों ने काव्य में कल्पना को समुन्नत स्थान दिया है । कल्पना की जादू से कवि कितने ही विराट् सौन्दर्य-जगत् की सृष्टि करता है । जैसे जॉन ड्रैडन ने कल्पना के बारे में लिखा -

"Imaging is, in itself the very height and life of Poetry".[2] छायावादी कवियों ने कल्पना के स्वर्णिम पंखों से उडते हुए

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृ: 33.
2. **'Poets on Poetry' (Edited by Charles Norman) - p.87.**

स्वर्णिम सौन्दर्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों में अवगाहन किया है । प्रसाद, निराला की अपेक्षा पंतजी ने कल्पना की असीम का आवाहन किया है, इतना तक कि उन्होंने अपने को "कल्पना-पुत्र" भी कहा है ।

"कवि अल्प, उडुपमति, भव-तितीर्षु, दुस्तर अपार ।
कल्पना - पुत्र मैं, भावी द्रष्टा, निराधार ।"[1]

पंतजी की यही धारणा है कि कल्पना के कोमल स्पर्श से ही कविता कविता बन जाती है । उनकी राय में - मैं कल्पना के सत्य को सबसे बडा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ ।"[2]

वास्तविक अनुभूति कल्पना की सुगन्ध से मोहक होकर ही काव्यमय रूप धारण करती है । कवि का यह दृढ मन्तव्य है कि भ्रान्तियों से भरे युग में कवि की कल्पना से उद्भूत सत्य ही निर्भ्रान्त है -

"कवि कपोल-कल्पना नहीं, अनुभूत सत्य यह -
और भ्रान्तियों के युग का निर्भ्रान्त सत्य यह ।"[3]

कवि की कल्पना निराधार नहीं, बल्कि कवि का अनुभूत सत्य है । दुनिया तो भ्रान्तियों से पूर्ण है, कवि का अनुभूत सत्य निर्भ्रान्त है ।

"रजत शिखर" में पंतजी ने कल्पना को निरर्थक सत्य के रूप में स्वीकार किया है -

---

1. "ग्राम्या" (पंत) - पृ: 58.
2. आधुनिक कवि - वही - पृ: 39.
3. "चिदंबरा" - वही - पृ: 294.

" नहीं सुना, साधक, कवि, प्रेमी, पागल
वायवीय तत्वों के बने हुए होते हैं ;
विधि ने उनका हृदय सूक्ष्म कल्पना द्रव्य से
स्वप्न ग्रथित है किया नित्य वे स्वर्ग -धरा के
मध्य भावना पंख मारते रहते निष्फल ।"[1]

कवि, प्रेमी, पागल और साधक की दुनिया वास्तविक दुनिया से भिन्न है । वे तो वायवी तत्वों से निर्मित हैं । उनका हृदय तो सूक्ष्म कल्पना से बनाया है जो स्वप्न से ग्रथित है । इसी कारण वे भावना के पंखों से स्वर्ग और धरती के बीच हमेशा उडते रहते हैं ।

लेकिन इस कल्पना की उडान को पलायन का अर्थ देना उनके लिए स्वीकार्य नहीं है । क्योंकि पंतजी कहते हैं कि छायावादी कविता में कल्पना का एक ऊँचा अर्थ मिलता है जो पलायन से भिन्न है ।

वे वन के स्वतंत्र विहग के समान कल्पना के पंखों से उडना चाहते हैं -

"मैं खग सा फिरता नीरव भाव गगन में,
उड मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण में कन में"[2]

यहाँ पंतजी अपनी अभिलाषा यों प्रकट करते हैं कि निशब्द भावाकाश में वे मृदुल, कोमल, कल्पना के पंखों में उडना चाहते हैं । बिखरे तृण से, कन से वे गाने चुग लेंगे । कल्पना के स्वर्णिम पंख लेकर सपनों की दुनिया में उन्मुक्त विचरना उनके लिए बहुत प्रिय है । पंतजी ने छायावादी कवियों की कल्पना को "मुक्त कल्पना" नाम दिया है । बाद में इसीको उन्होंने प्रगल्भ कल्पना भी कहा है -

---

1. "रजत शिखर" (पंत) - पृ: 19.
2. "चित्रांगदा" - वही - पृ: 12.

"छायावादी मुक्त कल्पना
गद्यबद्ध बन गल्प जल्पना,
शब्दिक रांगोली सँवार कर
फूल बेल बूटे उतारकर,
अनगिन बिंबों को उभार कर
रचती नव कल्पना
शारदा के आँगन में ।"[1]

यहाँ छायावादी कवियों की मुक्त कल्पना का स्वभाव वे समझाते हैं । यह कल्पना गद्यबद्ध होकर कभी प्रकट होती है तो कभी शब्दों से रंगोली सँवारती है, तो कभी फूल बेल-बूटे उतार कर, असंख्य बिंबों को उभारकर, शारदा के आँगन में नव कल्पना रचती है । इसी "मुक्त कल्पना" को "प्रगल्भ कल्पना" के रूप में उन्होंने यों समझाया है -

"सब कुछ संभव है प्रगल्भ कल्पना के लिए
जो विद्युत् गति से, अणु जव से वेगवती है ।"[2]

प्रगल्भ कल्पना सब कुछ कर सकती है । वह विद्युत् गति से भी, अणु जव से वेग रखती है ।

पंतजी की प्रारंभिक कविताओं में कल्पना नारी पर आधारित है । बाद में व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना पर उसे आधारित किया है । "फूलों का देश" नामक अपने काव्य-रूपक में कल्पना को इसी आधार पर दिखाया है -

---

1. "वाणी" (पंत) - पृ: 87.
2. "सौवर्ण" (पंत) - वही - पृ: 21.

"यह फूलों का देश, ज्योति मानस का रूपक,
जहाँ विचरते अन्तर्द्रष्टा कलाकार, कवि
निभृत कल्पना पथ से नित, भावोन्मेषित हो ।"[1]

फूलों के इस देश में अन्तर्द्रष्टा कवि और कलाकार विचरण करते हैं । अपने भावों के उन्मेष में उल्लसित होते हुए, एकान्त कल्पना के मार्ग से वे पर्यटन करते हैं । पंतजी ने वास्तविक जगत् और काल्पनिक जगत् का अन्तर सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया है ।

"यह छाया का देश, कल्पना का क्रीडा-स्थल,
वस्तु जगत् अपना धनत्व खोकर इस जग में
सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भाव द्रवित हो ।"[2]

कल्पना की क्रीडाभूमि तो छाया का देश है । यहाँ वस्तु जगत् का धनत्व नष्ट होता है, वह सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है जो भावमय है । डा. कुमार विमल ने पंतजी की कल्पना - संबन्धी इस धारणा और शैली की धारणा में साम्य देखा है । जैसे वे लिखते हैं - "पन्त के कल्पना - संबन्धी विचार अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों के बीच शेली के कल्पना - संबन्धी विचारों से बहुत दूर साम्य रखते हैं । शेली के अनुसार भी कल्पना वस्तु जगत् से प्राप्त सामग्रियों का मानसिक पुनः सृजन करती है ।"[3] पंतजी यह मानते हैं कि वस्तु जगत् का एक छाया-रूप कवि अपनी कल्पना में निर्मित करता है जो सूक्ष्म, वायवी होता है । पंतजी की सुकुमार चेतना ने कल्पना को अपने काव्य में आत्यन्तिक महत्व दिया है, जो स्वाभाविक ही है ।

---

1. "रजतशिखर" (पंत) - पृः 49.
2. वही - पृः 51.
3. "छायावाद का सौन्दर्य ...स्त्रीय अध्ययन" (डा. कुमार विमल) - पृः 126.

शिल्प-पक्ष पर आधारित चिन्तन

छायावादी कविता भाव तथा शिल्प दोनों के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर रही थी । छायावादी कवि भाव पक्ष के समान शिल्प-पक्ष के प्रति भी अपना नया दृष्टिकोण प्रकट करना चाहते थे । पंतजी ने अपनी कविता में यत्र तत्र शिल्प पक्ष पर आधारित अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है ।

छन्द

छन्द के क्षेत्र में मुक्त छन्द छायावादियों द्वारा किये गये नवीन परिवर्तनों में प्रमुख था । पंतजी ने मुक्त छन्द के बारे में अपना स्पष्ट विचार "पल्लव" की भूमिका में प्रस्तुत किया है - "यह "स्वच्छन्द छन्द" ध्वनि अथवा लय पर चलता है । उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व दीर्घ हो सकते हैं ।"[1] यहाँ छायावादी कविता का यह दृष्टिकोण प्रकट है कि भाव छन्द से बद्ध नहीं बल्कि छन्द भाव के अनुकूल चलते हैं । "युगवाणी" में पंत ने अपने इस विचार को कविता में भी अभिव्यक्त किया है -

"खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश,
अब गीति मुक्त
औ" युगवाणी बहती अयास ।"[2]

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृ: 44.
2. "युगवाणी" - वही - पृ: 21.

कवि की वाणी युग की वाणी है जो अनायास बहती है । अब तो छन्द के बन्धन खुल गये हैं । कविता प्रासों के पंाश से मुक्त हो गयी है । वह मुक्त गीत हो गया है । "पल्लव" की भूमिका में वे लिखते हैं -

"कविता तथा छन्द के बीच बडा घनिष्ठ संबन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है "[1]

छन्द का बन्धन नहीं होने पर भी कविता गद्य नहीं बनती । पंतजी इस विशेषता को यों स्पष्ट करते हैं -

"छन्द बन्ध खुल गए
गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँतें ?
सोना पिघल कभी क्या
पानी बनता ? कैसी बातें ।
गीत गल गया सही,
मधुर झंकार नहीं पर खोई,
सूक्ष्म भाव के पंख खोल
अब मन में गंध समोई ।"[2]

छन्दमुक्त होने पर भी कविता गद्य नहीं बनती । उदाहरण के लिए सोना पिघलने पर भी पानी न बनता । कविता की मधुर झंकार नहीं खो गयी है । अब तो मन के सूक्ष्म भावों के पंख खोल गये हैं, नया गंध मन में समा गया है ।

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृ: 33.
2. "अतिमा" - वही - पृ: 102.

अलंकार

छायावादी कवि की दृष्टि में अलंकार केवल भाषा की सजावट के लिए नहीं, बल्कि भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए है । कवि पंत ने भी अलंकारों को यही स्थान दिया है । जैसे –

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ।"[1]

पंतजी की वाणी के लिए अलंकार की ज़रूरत नहीं । वह जन-मन में उनके विचार वहन कर सकती है । वही उस वाणी का उद्देश्य है ।

कभी कभी अलंकार कविता के लिए भार बन जाते हैं – जैसे पंतजी कहते हैं –

"शब्द अर्थ
ध्वनि अलंकार
सब व्यर्थ –
कला की हार,
सृजन के लिए भार ।"[2]

तुक

पंतजी ने तुक को भी काव्य का सौन्दर्य बढानेवाले माध्यम के रूप में स्वीकार किया है । तुक के बारे में उनके विचार "पल्लव" की भूमिका में मिलते हैं –

---

1. "ग्राम्या" (पंत) – पृ: 103.
2. "गीतहंस" – वही – पृ: 118.

"तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पडता है ।"[1]

"अतिमा" की एक कविता में उन्होंने व्यक्त किया है कि तुक तो कविता के लिए भार नहीं हो -

"तुक १ शुक मुक्त हुआ
स्वर की रट के पिंजर से सहसा,
मन की डाल डाल पर गाता
वह किंशुक सा मुँह बाड ।"[2]

तुक रूपी शुक अब स्वतंत्र हुआ है । पहले वह स्वर की रट में बद्ध था । अब वह मन की डालों पर बैठकर स्वतंत्र रूप से गा रहा है ।

प्रतीक

प्रतीक भोजना छायावादी कविता में एक समुन्नत स्थान रखती है । प्रतीकों की अभिव्यक्ति - कुशलता का परिचय पंतजी ने अपनी एक कविता में दिया है -

"कैसे रंग उभरते ये
आँखों के सम्मुख -
रंगों के थक्के
प्रतीक भर

---

1. "पल्लव" (पंत) - पृः 41.
2. "अतिमा" - वही - पृः 102.

दृग लेते हर, -
कहीं न इनके
आँख कान मुख ।
केवल हँसते रंग
हृदय को करते मोहि. ।"[1]

रंगों की दुनिया आँखों के सम्मुख प्रकट होती है । प्रतीक आँखों, कानों, मुख से रहित हैं जो हमेशा हँसते हुए हृदय को आकर्षित करते हैं ।

और एक कविता में उन्होंने लिखा है -

"मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंद कर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा ।"[2]

शब्दों की इकाइयों को कवि प्रतीकों के रूप में बदल डालना चाहते हैं । शब्दों की इकाइयाँ इन संकेतों में बदलने पर वे रौंद जाते हैं । शब्दों की इकाइयों का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, वे प्रतीकों में समा जाती हैं ।

पंतजी की कविताओं में जो काव्य-विषयक चिंतन उपलब्ध है वह परिमाण की दृष्टि से अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक है । पंतजी ने भी प्रसाद के समान "सत्यं, शिवं सुन्दरं" - आदि काव्य के अपने चिंतन का प्राण-तत्व माना है । कवि-कर्म को उन्होंने देव-कर्म माना है । कवि-मन की

---

1. "शंखध्वनि" (पंत) - पृ: 129.
2. "कला और बूढा चाँद" - वही - पृ: 191.

मार्मिक संवेदना की पहचान पंतजी की कविताओं में मिलती है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती । "छायावादी मुक्त कल्पना" को उन्होंने काव्य में विशेष महत्व दिया है । पंतजी ने काव्य की सामाजिक भूमिका की ओर ध्यान दिया है । छायावादी कवियों में पंतजी ने ही काव्य के शिल्प- पक्ष की भंगिमा पर विशेष बल दिया है । अलंकार, छन्द, तुक, प्रतीक आदि विविध तत्वों पर आधारित उनके विचार अमूल्य हैं ।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और सुमित्रानंदन पंत के साथ साथ छायावाद के अग्रणी कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का नाम भी आता है । छायावादी रंग से रंगी हुई लगने पर भी महादेवी की कविता अपना एक अलग अस्तित्व रखती है । छायावादी काव्य-संसार में महादेवी की कविता का अपना एक अनोखा काव्य क्षेत्र मिलता है जो एक अलौकिक प्रेम-संसार प्रतीत होता है । उनका समस्त काव्य अपने "चिरन्तन प्रिय" के प्रति आत्म-निवेदन है । अलौकिक प्रेम, रहस्य-भावना और विरह-पीडा उनके गीतों की प्राण-सत्ता है । इसलिए अन्य तीन छायावादी कवियों के समान महादेवीजी ने काव्य के तत्वों के विचार-विश्लेषण में अपना मन नहीं लगाया है । फिर भी "रश्मि", "सांध्यगीत", "दीपशिखा" आदि अपनी काव्य-कृतियों की भूमिका में उन्होंने यत्र-तत्र अपने काव्यपरक दृष्टिकोण का परिचय दिया है । इसके अलावा उनकी कविताओं में भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काव्य-रचना की सूक्ष्म अनुभूतियों और उससे संबन्धित गहन तत्वों का उद्घाटन करनेवाली उक्तियाँ थोडी मात्रा में मिलती हैं । उनका हम इस प्रकार अवलोकन कर सकते हैं ।

काव्य के प्रति महादेवीजी का दृष्टिकोण आद्यन्त एक आध्यात्मिक भावबोध से संबन्धित है । प्रसादजी ने "कामायनी" तथा अन्य काव्य कृतियों में सत्य और सौन्दर्य के विराट् स्वरूप का साक्षात्कार किया है, निराला और पंतजी ने भी परमात्म तत्व की गहरी, सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है । लेकिन विराट् सत्य की यह अभिव्यक्ति उनकी काव्य-चेतना का एक अंश मात्र है । उन तीनों की

कविता में सूक्ष्म, अलौकिक और व्यापक धरातल के साथ ही स्थूल, लौकिक और सीमित धरातल का भी उद्घाटन हुआ है । लेकिन महादेवीजी ने अपनी कविता में केवल अलौकिक, आध्यात्मिक प्रेम-साधना को एकमात्र विषय बनाया है । उनका जीवन उस प्रेम-साधना का मूर्त रूप है । अपने अपार्थिव प्रेम से संबन्धित सूक्ष्म, गहरी अनुभतियों , उनसे संबन्धित मिलन और विरह की मधुर कल्पनाओं और आकांक्षाओं का, उनकी कविता में सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं । काव्य के प्रति उनकी दृष्टि भी इसी रंग से रंगी हुई है ।

काव्य और सत्य

महादेवीजी के लिए सत्य का साक्षात्कार परम लक्ष्य है । वही वे काव्य में भी स्पष्ट करती हैं । "दीपशिखा" की भूमिका में वे लिखती हैं - "सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है ।"[1] महादेवीजी की राय में बाहर और अन्दर व्याप्त विराट् सत्य की अभिव्यक्ति करने के लिए ही कला और काव्य का आविष्कार किया गया होगा । स्वयं महादेवीजी की कविता सत्य की खोज पर आधारित है । लेकिन इस सत्य को वे एक सौन्दर्यमयी कल्पना के द्वारा अमर प्रेम में अभिषिक्त करती है । चिरन्तन सत्य तो उनका प्रियतम है और वे उस प्रियतम के प्रेम में स्वयं घुल मिटनेवाली प्रेमिका है । उनकी कविता प्रियतम के प्रति उनका आत्म समर्पण है । "सांध्यगीत" की भूमिका में वे लिखती हैं - "मेरे गीत मेरा आत्मनिवेदन मात्र है - उनके विषय में कुछ कह सकना मेरे लिए संभव नहीं । इन्हें मैं अपनी अकिंचन भेंट के अतिरिक्त कुछ नहीं मानती ।"[2]

---

1. "दीपशिखा" (महादेवी) - पृ: 1.
2. "सांध्यगीत" (महादेवी) - पृ: 9.

इस प्रकार महादेवीजी अपनी कविता को अपने प्रियतम के प्रति की हुई भेंट मानती है । यही भावना उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में अभिव्यक्त की है –

"मेरा प्रतिपल छू जाता है
कोई कालातीत,
स्पन्दन के तारों पर गाती
एक अमरता गीत ।"[1]

अर्थात् उनका काव्य सिर्फ काव्य नहीं, बल्कि वह अमरता का गीत है । क्योंकि वह प्रतिपल देश-काल के अतीत सत्य का स्पर्श करती है । उसीकी अनुभूति का स्पन्दन काव्य में मिलता है ।

महादेवीजी अपने जीवन को उस विराट् सत्य रूपी प्रियतम के हाथ में रहनेवाली वीणा मानती हैं । इस वीणा से जो स्वर निकलते हैं, वे उन्हींके गाए हुए हैं –

"पल में रागों को झंकृत कर,
फिर विराग का अस्फुट स्वर भर,
मेरी लघु जीवन-वीणा पर
क्या यह अस्फुट गाते

लय में मेरा चिर करुण घन
कम्पन में तपनों का स्पन्दन,
गीतों में भर चिर सुख चिर दुःख
कण कण में बिखराते ।"[2]

---

1. "सांध्यगीत" (महादेवी) – पृः 80.
2. "रश्मि" (महादेवी) – पृः 17.

अपने अपार्थिव प्रेम की अभिव्यक्ति करती हुई कवयित्री कहती हैं कि उनके गीत प्रियतम की वीणा का नाद है । राग और विराग की विभिन्न झंकार उससे निकलती है । उसमें करुणा की लय है, सपनों का स्पन्दन है ।

कभी कभी महादेवी को लगता है कि वे प्रियतम के चरणों पर पड़ी हुई पायल है और उनके गीत तो नूपुरों की मधुर ध्वनि है –

"साथ गति के भर रही हूँ विरति या आसक्ति के स्वर,
मैं बनी प्रिय-चरण-नूपुर ।"[1]

वे अपने प्रियतम के चरणों की नूपुर हैं । उससे राग और विराग दोनों के स्वर निःसृत होते हैं जो उनकी गीत-लहरी बन जाते हैं । यहाँ भी वे अपने काव्य के मूल प्रेरक तत्व के रूप में प्रियतम की ओर संकेत करती हैं ।

और एक संदर्भ में महादेवीजी कहती हैं कि समस्त संसार जिस अचंचल सत्य पर आधारित है और सारा जग मौन रूप से जिस सत्य का आह्वान करता है, वही सत्य उनमें बोलता है ।

"मैं किसीकी मूक छाया हूँ न क्यों पहचान पाता ।

बोलता मुझमें वहीं जग मौन में जिसको बुलाता ।"[2]

वे उसी सत्य की छाया हैं जो मूक हैं । मौन-भाषा में सत्य ही उनमें अभिव्यक्ति पाता है ।

---

1. "सांध्यगीत" (महादेवी) – पृः 33.
2. वही – पृः 43.

कला का सूक्ष्म, व्यापक स्वरूप

कला के प्रति जो भारतीय दृष्टिकोण है वह अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है । भारतीय कला का प्राण तत्व है "नाद" । नाद केवल स्थूल दृष्टि से नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि की आधार चेतना के रूप में माना जाता है । यही नाद-तत्व परम सत्य का प्रतीक है और संगीत में नादोपासना के द्वारा सत्य का ही साक्षात्कार होता है । संगीत के सूक्ष्म से सूक्ष्म धरातलों का स्पर्श करने में महादेवी सफल हुई है । अपनी समस्त सत्ता में संगीत की अनुभूति उनको मिलती है । संगीत के प्रति यह सूक्ष्म दृष्टिकोण उनकी कुछ पंक्तियों में अभिव्यक्त होता है -

"मेरा पग पग संगीत भरा,
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय-बयार पली ।"[1]

अर्थात् उनको क्षण क्षण में संगीत का आनन्द मिलता है । उनके श्वासों में स्वप्नों का पराग झरता है ।

चित्र और संगीत के द्वारा वे अपने और प्रियतम के संबन्ध को दिखाती हैं -

"चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,"[2]

---

1. "सांध्यगीत" (महादेवी) - पृ: 49.
2. "नीरजा" (महादेवी) - पृ: 32.

कवयित्री को लगता है कि वे रेखाओं का क्रम है और उनका प्रियतम चित्रित राग है । यही नहीं वे स्वयं स्वर-संगम हैं तो प्रियतम मधुर राग हैं । इस प्रकार अपना सीमायुक्त स्वरूप और प्रभु की असीम सत्ता स्थापित करते समय वे कला का भी आध्यात्मिक और सूक्ष्म रूप स्पष्ट करती हैं । चित्र-भंगिमा तथा राग-रागिणियों की नाद-भंगिमा में असीम तत्व की छाया मिलती है ।

महादेवीजी के लिए, काव्य, कला या काव्यगत भावों का अर्थ साधारण स्तर से बहुत ऊपर है । वे अपनी कविता को मनुष्य से संबद्ध मानती हैं । लेकिन वह मनुष्य संसार या समष्टि से एकता की अनुभूति प्राप्त करता है । "दीपशिखा" की भूमिका में वे लिखती हैं -

"प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष सत्य नहीं, अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है, उसका स्वप्न, वर्तमान ही नहीं, अनागत को भी रूपरेखा में बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नहीं संभाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है ।"[1]

अर्थात् महादेवी की कविता सत्य के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पहलुओं में भिन्नता नहीं रखती । वह वर्तमान के साथ ही भविष्य का भी स्पर्श करती है । व्यष्टि और समष्टि को अपने में समेटनेवाली इस कविता-दृष्टि के कारण ही वे "सांध्यगीत" में यों लिखती हैं -

"फैलते हैं साँध्य-नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले,"[2]

---

1. "दीपशिखा" (महादेवी) - पृ: 35.
2. "सांध्यगीत" (महादेवी) - पृ: 35.

कवयित्री सांध्य-नभ में अपने ही रंगीले भावों का सौन्दर्य देखती हैं । प्रकृति की दीपावली तो उनके ही पुलकित रोम हैं । यहाँ कवयित्री को लगता है कि उनके भाव संपूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं ।

महादेवीजी के काव्य संसार का अवलोकन करते समय हमें आदि से अन्त तक एक अज्ञात शक्ति की प्रेरणा और सान्निध्य मिलता है । वे यह बार बार बताती है कि अपने प्रियतम की उंगलियों के ऐन्द्रजालिक स्पर्श से उनकी हृदय-वीणा झंकृत हो उठने लगी । उन्हीं प्रियतम ने एक अज्ञात प्रेरणा देकर मधुमय गान सिखा दिये । "रश्मि" में अपनी कविता के अज्ञात स्रोत के बारे में वे इस प्रकार बताती हैं ।

"विश्व वीणा में कब से मूक,
पड़ा था मेरा जीवन-तार,
न मुखरित कर पाई झंकझोर-
थक गयी सौ सौ मलय बयार ।
तुम्हीं रचते अभिनव संगीत,
कभी मेरे गायक इस पार,
तुम्हीं ने कर निर्मम आघात
छेड दी यह बेसुर झंकार -
औ उलझा डाले सब तार ।"[1]

वे अपने जीवन को विश्व वीणा का एक तार मानती हैं । असंख्य मलय बयारों ने बार बार प्रयत्न किया, तो भी इन तारों को मुखरित न कर पायी । लेकिन जब अलौकिक गायक का स्पर्श हुआ तो यह तार झंकृत हो उठा । यहाँ कवयित्री स्पष्ट करती हैं कि उनकी कविता प्रियतम प्रभु की कृपा और प्रेम से उद्भूत है ।

---

1. "रश्मि" (महादेवी) - पृ: 59.

कभी कभी कवयित्री की ओर से भूल-चूक हुआ करती है । कभी कभी वे सीखे राग भूल जाती हैं और कभी उनके कर बिछल जाते हैं । लेकिन प्रभु उनपर करुणा ही बरसाते हैं । उनके स्वर क्षीण होते समय वे अज्ञात शक्ति से पुनः प्रेरणा पाकर, अपनी काव्य माधुरी बहाती हैं ।

"भूलती थी मैं सीखे राग
बिछलते थे कर बारम्बार,
तुम्हें तब आता था करुणेश ।
उन्हीं मेरी भूलों पर प्यार ।

गए तबसे कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्वाण ।
नहीं पर मैंने पाया सीख
तुम्हारा सा मनमोहन गान ।

नहीं अब गाया जाता देव ।
थकी अंगुली, हैं ढीले तार
विश्व वीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार ।"[1]

प्रभु ने ही कवयित्री को राग सिखाया था । लेकिन वे बार बार गलती करती थीं । फिर भी प्रभु ने प्यार ही बरसाया । इस प्रकार युगों के बीतने पर भी कवयित्री ने उस अलौकिक गायक का सा मनमोहन गान नहीं सीखा । अब तो उन्हें लगता है कि वे थक गयी हैं । आगे गाया नहीं जाता । इसलिए उनकी

---

1. "नीहार" (महादेवी) - पृः 10.

सत्ता का यह अस्फुट वीणा-नाद विश्व-वीणा में मिला लेना चाहिए । इन पंक्तियों में कवयित्री अपने गीतों को उस अपार्थिव गायक की देन मानती हैं ।

अपने प्रियतम से कवयित्री को यह प्रेरणा अप्रत्यक्ष रूप से मिलती है । वे सूक्ष्म रूप से आकर, तुरन्त अन्तर्धान भी होते हैं । "रश्मि" में वे लिखती हैं -

"रश्मि बन तुम आए चुपचाप,
सिखाने अपने मधुमय गान ,
अचानक दीं वे पलकें खोल,
हृदय में वेध व्यथा का बाण-
हुए फिर पल में अन्तर्धान ।"[1]

वह अज्ञात शक्ति रश्मि के रूप में चुपचाप आयी थी । उन्होंने अपने मधुमय गान कवयित्री को सिखाना चाहा था । अपनी पलकें खोलकर हृदय में वेदना का बाण चलाया और उसी क्षण अप्रत्यक्ष हो गये । कवयित्री से यही वेदना काव्य के रूप में बहने लगी ।

और एक कविता में भी महादेवीजी ने इस अलौकिक काव्य-स्रोत के बारे में स्मरण किया है -

"सजनि कौन तम में परिचित सा,
सुधि सा, छाया सा आता
सूने में सस्मित चितवन से जीवन-दीप जला जाता ।
छू स्मृतियों के बात जगाता,
मूक वेदनाएँ दुलराता,
हत्तंत्री में स्वर भर जाता
बन्द दृगों में घूम सजल सपनों के
चित्र बना जाता ।"[2]

---

1. "रश्मि" (महादेवी) - पृ: 58.

कवयित्री को लगता है कि कभी कभी तम में एक छाया के रूप में, परिचित-सा प्रियतम आ जाता है । वे अपने चितवन से दीप जलाते हैं, स्मृतियों के बालों को जगा देकर वे मूक वेदनाओं को दुलराते हैं । यही नहीं, हृदय में स्वर-संगीत भर देते हैं । बन्द नयनों में सपनों के चित्र बनाते हैं । यहाँ कवयित्री को लगता है कि अपनी हृदय-तंत्री अलौकिक प्रियतम के स्पर्श से ही गा उठती है । इन सारी पंक्तियों में कवयित्री अपने काव्य को किसी अलौकिक, अपार्थिव सत्ता से निकला हुआ स्थापित करती हैं । उनके लिए अपार्थिव, अखण्ड सत्ता ही काव्य में प्रत्यक्ष होती है । जैसे वे "दीपशिखा" की भूमिका में लिखती हैं - "कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है ।"[1] यही अखण्ड सत्य उनका प्रियतम है । यही उनकी कविता की प्राण-सत्ता है ।

रचना प्रक्रिया

महादेवी के लिए काव्य रचना तो अपनी रहस्य साधना का एक माध्यम है । अपने अपार्थिव प्रणय की अनुभूति में गीत स्वतः निःसृत हो जाते हैं । अपनी रचना प्रक्रिया की इस विशेषता को महादेवी ने अपनी कविता में स्पष्ट किया है । "नीहार" में एक जगह वे लिखती हैं -

"पल पल के उडते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर -
मैं अपने ही बेसुध मन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती ।"[2]

---

1. "दीपशिखा" (महादेवी) - पृः 10.
2. "नीहार" (महादेवी) - पृः 43.

कवयित्री क्षणों के उडते पृष्ठों पर श्वासों के अक्षर लिखती हैं । लेकिन वे जान-बूझकर नहीं लिखतीं, बेसुधमन में लिख जाती हैं । क्योंकि तीव्र अनुभूतियों की चरम सीमा में गीत उनसे अनायास ही फूट पडते हैं जो काव्य के रूप में हो जाते हैं । उनकी रचना का पथ अनन्त है -

"मैं अनन्त पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें,
उनको कभी न धो पायेंगी,
अपने आँसू से रातें ।"[1]

अर्थात् उनकी रचना अनन्त पथ की है जो अनन्त मुसकानवाले सपनों का जगत् है । अर्थात् उनकी रचना प्रक्रिया अनन्त, अपार्थिव स्तर की है ।

कवि के लिए हर क्षण अद्वितीय है । अपनी रचना-प्रक्रिया में कवयित्री इस "अद्वितीय-क्षण" की अभिव्यक्ति ही करती हैं । "नीहार" में ही वे अपने लघु क्षण के इस महत्व को यों समझाती हैं -

"एक करुण अभाव में चिर -
तृप्ति का संसार संचित ,
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत शत ,"[2]

---

1. "नीहार" (महादेवी) - पृ: 14.
2. वही

उनके अन्तस्थल में एक करुण अभाव का संसार है, लेकिन उसमें चिर-तृप्ति का माधुर्य है । एक छोटे से क्षण में उन्हें शत शत निर्वाण की अनुभूति का वरदान मिलता है । निर्वाण की यह अद्वितीय अनुभूति ही उनकी रचना-प्रक्रिया में हमें मिलती है । इसलिए महादेवीजी की कविता का संसार और रचना शैली भी अद्वितीय होती है ।

कविता कवि के हृदयगत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है । लेकिन यह अभिव्यक्ति हमेशा स्थूल नहीं होती । कवि अपनी अभिव्यक्ति में स्थूलता से जितना दूर हो जाता, उतना वह सफल हो जाता है । आश्चर्य की बात यह है कि मौन में ही अभिव्यक्ति की चरम सफलता मिलती है । महादेवीजी ने भी इस नीरव भाषण की शक्ति पहचानी है ।

"गिरा जब हो जाती है मूक
देख भावों का पारावार,
तोलते हैं जब बेसुध प्राण
शून्य से करुण कथा का भार,
मौन बन जाता आकर्षण
नहीं मिलता नीरव भाषण ।"[1]

अर्थात् भावों का पारावार बढते देखकर वाणी मूक हो जाती है । तब प्राण करुणा की गहराई में बेसुध हो जाते हैं । इसी मौन में भावों का आकर्षण मिलता है । नीरव भाषण की यह शक्ति असीम है । भारतीय दर्शन में भी मौन की शक्ति बता दी गयी है ।

---

1. "नीहार" (महादेवी) पृ: 74.

अपने और एक गीत में भी महादेवी ने मौन में सोये हुए संगीत के बारे में कहा है -

"चुराया अन्तस्थल में भेद
नहीं तुमको वाणी की चाह,
भस्म होते जाते हैं प्राण
नहीं मुख पर आती है आह,
मौन में सोता है संगीत -
लजीले मेरे छोटे दीप ।"[1]

अपने मन रूपी दीप से कवयित्री कहती है कि हे मन । तुमने अपने अन्दर कितने ही भावों को छिपा रखा है, तुम्हें वाणी नहीं चाहिए । प्राण इस स्थिति में विलीन हो जाते हैं । इस मौन में एक अमूल्य, अलौकिक संगीत भरा हुआ है ।

इस प्रकार महादेवीजी ने अपनी अनुभूतियों के अभिव्यक्ति-पक्ष पर सूक्ष्म रूप से चिन्तन किया है । अनुभूति की चरम अवस्था में, मौन ही सफल अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम लगता है ।

कल्पना

महादेवीजी ने माना है कि छायावादी काव्य प्रकृति प्रेम पर आधारित होने से उसमें कल्पना का वैविध्य मिलता है । जैसे उन्होंने लिखा - "छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌गीथ है, अतः उसकी कल्पनाएँ बहुरंगी और विविधरूपी हैं ।"[2]

---

1. "नीहार" (महादेवी) - पृः 68.
2. "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य" (महादेवी) - पृः 94.

कल्पना को महादेवी वर्मा ने सैद्धान्तिक दृष्टि से वास्तविकता से संबद्ध माना है । वे कल्पना में केवल सौन्दर्य ही नहीं, वास्तविकता की प्रतिष्ठा भी चाहती हैं । लेकिन उनकी अनेक कविताओं में, व्यावहारिक दृष्टि से कल्पना इससे थोडी बहुत भिन्न है । उनकी अधिकांश कविताओं में जो विस्मय और जिज्ञासा का भाव मिलता है, वह कल्पना को विपुल बनाता है । "रश्मि" में उन्होंने कल्पना का विपुल रूप स्वीकार किया है -

"मिलन इन्दु बुनता जीवन पर
विस्मृति के तारों से चादर,
विपुल कल्पनाओं का मन्थर
बहता सुरभित वात ।"[1]

अर्थात् मिलन का इन्दु जीवन पर विस्मृति के तारों से चादर बुनता है और विपुल कल्पनाओं की हवा मन्थर गति से बहकर जीवन को सुन्दर, सुरभित बना देती है ।

काव्य और दुःखवाद

महादेवीजी ने मनुष्य को अपनी संपूर्णता में स्वीकार किया है और उसकी संपूर्ण सत्ता को काव्य का विषय भी बनाया है । लेकिन जैसे वे लिखती हैं - "मेरे लिए तो मनुष्य एक सजीव कविता है । कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्द चित्र मात्र है जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है ।"[2]

---

1. "रश्मि" (महादेवी) - पृ: 41.
2. वही - पृ: 3.

लेकिन महादेवीजी का काव्य जगत् मनुष्य के समस्त भावों और रसों की अभिव्यक्ति नहीं करता । महादेवी ने सभी भावों में केवल दुःख या करूणा को सबसे अधिक महत्व दिया है । उनका यह दुःख इस पार्थिव जगत् की वास्तविकताओं से उत्पन्न नहीं है । यह दुःखवाद उनके अलौकिक प्रेम का दूसरा पहलू है । अपने जीवन को अलौकिक प्रियतम के चरणों में अर्पित करके, कवयित्री पल-पल उस प्रियतम की विरह-पीडा में तडपती रहती है । यही पीडा उनकी कविता का प्राण-तत्व है । इस अपार्थिव प्रेम की पीडा में वे सबकुछ भूलकर एक मधुर, तीव्र अनुभूति पा जाती हैं । अपने इस दुःखवाद और काव्य का संबन्ध महादेवीजी ने "रश्मि" की भूमिका में स्पष्ट किया है -

"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक में बाँध रखने की क्षमता रखता है । विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है ।"[1]

कवयित्री यह मानती हैं कि दुःख मात्र स्थूल जगत् से संबन्धित एक क्षणिक भाव नहीं है । बल्कि वह समस्त संसार से एकत्व देनेवाली एक अनुभूति है । अपने जीवन को, अपनी वेदना को विश्व भर में व्याप्त देखना ही कवि का धर्म है । जैसे वे बाद में लिखती हैं -

"उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सबके बन्धन का,

---

1. "रश्मि" (महादेवी) - पृः 6.

संसृति के सूने पृष्ठों में
करुण काव्य वह लिख जाता ।"[1]

दुःख में ही जीवन का मर्म छिपा हुआ है । वह सबको बाँधनेवाला सूत्र है । वह सृष्टि के सूने पृष्ठों में लिखा जानेवाला करुण काव्य है ।

अपने अमर प्रियतम के विरह-दुःख में गलना उनके लिए एक अलौकिक आनन्द प्रदान करता है । इस दुःख में उन्हें अपूर्व माधुर्य मिलता है - "सांध्यगीत" में वे लिखती हैं -

"प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती ।
श्वासों में सपने कर गुंफित,
बन्दनवार वेदना - चर्चित,
भर दुःख से जीवन का घट नित,
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती ।"[2]

कवयित्री अपने गीले नयनों को आरती बनाती हैं । वेदना के बन्दनवार बनाकर, जीवन रूपी घट वे दुःख से भरती हैं । इस प्रकार दुःख भरी वाणी से मूक क्षणों की अभिव्यक्ति करना चाहती है । इस प्रकार कवयित्री अपने दुःख से भारती को मधुर बनाना चाहती है ।

कवयित्री मानती हैं कि अपने विरह-दुःख में नूपुर शिथिल हो गये हैं । उन शिथिल नूपुरों की करुण रुनझुन ही उनका संगीत है -

---

1. "रश्मि" (महादेवी) - पृः 18.
2. "सांध्यगीत" (महादेवी) - पृः 19.

"शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन,
विरह का इतिहास कहती. जो कभी पाते सुभग सुन, "[1]

अपने काव्य का स्वभाव समझाते हुए वे यही कहना चाहती हैं कि वह विरह का इतिहास है । विरह से शिथिल चरण-नूपुरों की करुण झंकार कविता होकर बहती है । इस प्रकार अपनी कविता का आधार वे अपने अपार्थिव प्रेम और विरह से उत्पन्न मधुर वेदना मानती है ।

महादेवीजी की कविताओं का अध्ययन करते समय यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अन्य कवियों के समान छायावादी काव्य चेतना को अपनी कविताओं द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास नहीं किया है । अपनी काव्य कृतियों की भूमिकाओं में उनका काव्य-चिन्तन स्पष्ट हुआ है । लेकिन उनकी कविताओं में उनका काव्यपरक दृष्टिकोण और मन्तव्य अत्यन्त अस्पष्ट मिलता है । फिर भी परोक्ष रूप से उन्होंने बहुत कुछ पंक्तियों में अपनी सूक्ष्म काव्य दृष्टि का परिचय दिया भी है, जिनका हम यहाँ अवलोकन कर चुके हैं ।

---

1. "सांध्यगीत" (महादेवी) - पृ: 32.

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावादी प्रतिनिधि इन चारों कवियों की कृतियों में काव्य चिन्तन परक विचार-कण बिखरे पडे हैं । अपनी काव्य साधना के बीच में भी इन कवियों ने काव्य-मार्ग से संबद्ध विचार स्थान-स्थान पर प्रकट किये हैं । प्रौढ काव्य चिन्तन के सूक्ष्म तथा उदात्त रूप की साक्षी हैं उनकी कविताएँ । वे जितने उदात्त कवि हैं, उतने ही उदात्त काव्य-मर्म के उद्घाटक विचारक हैं । पन्तजी ने काव्य चिन्तन सर्वाधिक मुखर रूप में और परिमाण की दृष्टि से प्रचुर मात्रा में किया है । प्रसाद का काव्य चिन्तन भी प्रौढ और गंभीर है । निराला का चिन्तन मौलिक तथा मार्मिक है ।

अध्याय - तीन

छायावादोत्तर कविता में काव्य-चिन्तन

सन् 1935-36 तक आते आते हिन्दी कविता में छायावादी काव्य अपने अन्तिम चरण में आ गया था । अतिशय भावुकता और कल्पना के पंखों में उडते हुए छायावादी कवियों ने वायवी संसार की सृष्टि की थी । अतिशय आत्ममोह और रहस्यमयता के कारण उसमें एक कृत्रिमता छाने लगी थी । इसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवादी दर्शन से प्रभावित काव्य का आविर्भाव हुआ, जो स्वाभाविक ही था । प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित कुछ कवियों ने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के भी गीत गाये । इस प्रकार छायावाद युग के अंतिम चरणों में हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक ऐसी वैयक्तिक काव्यधारा फूट पडी जो छायावाद से भिन्न थी, लेकिन प्रगतिवाद की सीमा में भी नहीं आती थी । इस व्यक्तिपरक काव्यधारा को डा. नगेन्द्र ने "छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा"[1] माना है । इसमें यद्यपि व्यक्तिपरक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है, फिर भी वह छायावाद की व्यक्तिवादिता से भिन्न और विकसित है । इसमें जो सामाजिक चेतना मिलती है, वह प्रगतिवादी कविता में अभिव्यक्त सामाजिकता से भी भिन्न है । इस प्रकार छायावाद की विकसित श्रृंखला के रूप में हिन्दी में व्यक्तिपरक कविता बहने लगी जो प्रगतिवादी कविता के उदय तक चलती रही । हिन्दी कविता के इतिहास में इस संक्रान्तिकाल की काव्यधारा का अपना अलग योगदान है । हरिवंशराय बच्चन और रामधारी सिंह दिनकर, नरेन्द्र शर्मा,

---

1. "आस्था के चरण" (डा. नगेन्द्र) - पृ: 252.

रामेश्वर शुक्ल "अंचल" आदि विभिन्न प्रतिभावान् कवियों की रचनायें इस काल खण्ड के अन्तर्गत आती हैं । इनके अलावा श्री भगवती चरण वर्मा जैसे अन्य कुछ कवियों ने भी इस काव्य धारा को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है । यद्यपि हिन्दी काव्य-क्षेत्र में व्यक्तिपरक कविता का स्वर अल्प-काल तक ही गूँज सका, फिर भी यह स्वर अन्य संक्रान्तिकालीन स्वरों से सबसे तीव्र और महत्वपूर्ण था ।

श्री. नरेन्द्र शर्मा

व्यक्तिपरक काव्यधारा के प्रतिनिधि कवियों में श्री नरेन्द्र शर्मा का एक विशिष्ट स्थान है । साहित्यिक आन्दोलनों से अप्रभावित होते हुए भी उनकी कविता उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करती आयी है । उनकी जीवन-दृष्टि की यही विशेषता है कि वह परंपरा के प्रति आस्था रखते हुए भी विकास के नये पथ की ओर अग्रसर है । श्री नरेन्द्र शर्मा का काव्य-संसार इतना व्यापक है कि उसमें एक ओर वैयक्तिक अनुभूतियों की सूक्ष्मता है तो दूसरी ओर विराट् सामाजिक चेतना का स्वर मुखरित है । एक ओर उसमें भौतिक जीवन की सच्ची वास्तविकता का समावेश है तो दूसरी ओर उसमें प्रकृति, संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म पर आधारित सूक्ष्म और उदात्त भावभूमि मिलती है । किसी वाद या परंपरा की संकुचित सीमा में बंदे रहे बिना श्री नरेन्द्र शर्मा ने काव्य को स्वतंत्र दृष्टि से देखा है । अपने इस स्वतंत्र काव्य विषयक चिन्तन को उन्होंने अपनी विभिन्न कविताओं के द्वारा सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया है ।

श्री नरेन्द्र शर्मा की, काव्य विषयक स्वस्थ दृष्टिकोण पर आधारित उक्तियों का हम इस प्रकार संकलन कर सकते हैं -

रचना-प्रक्रिया

श्री नरेन्द्र शर्मा काव्य की रचना प्रक्रिया के बारे में एक स्वस्थ दृष्टिकोण रखते हैं । उनके मत में काव्य की रचना के पीछे कवि के अन्तर्मन की अनुभूतियों की तीव्रता ही काम करती है । वे भटठी से कवि-जीवन की तुलना करते हैं -

"हलवाई की भटठी दुनिया,
अणु-भटठी है कवि का जीवन ।
उसको काठ-कबाड चाहिए,
अपना आपा इसका ईंधन ।"[1]

हलवाई की भटठी में काठ-कबाड ही ईंधन है तो कवि की भटठी में उनका व्यक्तित्व या उनकी अपनी अनुभूतियाँ ही ईंधन हैं । आगे उसको स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -

"जिसे काव्य कहते आलोचक,
है वह अन्तर्सिद्धि रसायन ।
स्वयंताप से तपता अन्तस्
जैसे स्वयं सूर्यनारायण ।
भस्मकाम कवि यशःकाय हैं,
पूर्णकाम हों सब कामी जन ।"[2]

नरेन्द्र शर्मा मानते हैं कि जो आलोचक के लिए काव्य है, वह कवि के लिए रसायन है जो अन्तःसिद्धि का अपूर्व परिणाम है । सूर्यनारायण के समान कवि का अन्तस् स्वयं तपता ही रहता है । सभी प्रकार की क्षुद्र कामनाओं को उसने इस अलौकिक ताप में भस्म कर दिया है । उसकी काया तो यश की

---

1. "बहुत रात गये" (नरेन्द्र शर्मा) - पृः 37.
2. वही - पृः 38.

मूर्ति है । उसकी तपस्या सभी को पूर्णकाम बनाने के लिए है ।

काव्य और सत्य

भारतीय परंपरा काव्य की रचना प्रक्रिया को इतना उदात्त रूप देती है कि भारतीयों की दृष्टि में काव्य का सच्चिदानंद से ही संबन्ध है । श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी सृष्टि के आधारभूत शाश्वत सत्य के साथ काव्य का अभिन्न संबन्ध माना है । वे सर्वेश्वर की सृष्टि और कवि की रचना प्रक्रिया की तुलना करते हैं । "सच्चिदानंद कवि" शीर्षक कविता में परमेश्वर और कवि का - पूर्ण-अंश-सा संबन्ध मान लेते हैं ।-

"परमपुरुष सच्चिदानंद कवि
जगती जिसका छन्द
अंश रूप में दोहराता हूँ
छन्द वही सानंद ।
जगती छन्द, स्वयंभू कवि की
प्रतिभा छन्दातीत ;
जगतीगत कवि जीव पुजारी,
अर्पित गीत अगीत ।
महत् अहं का क्षुद्र अहं मैं,
अंश सच्चिदानंद ।"[1]

---

1. "बहुत रात गये" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 145.

परम कवि सच्चिदानंद तो अपनी जगती के द्वारा जो छन्द रचता है, उसीको मानव कवि अंश रूप में अपने छन्दों में दोहराता है । सयमुच कवि की प्रतिभा भी परमेश्वर से संबद्ध है, वह स्वयंभू है । अपने गीतों से सयमुच कवि पूजा करता है । सच्चिदानंद या महत् अहं का अंश है कवि । यहाँ नरेन्द्र शर्मा काव्य का सत्य से अभिन्न संबन्ध मानते हैं ।

"परिणति का फल" शीर्षक कविता में कवि ने काव्य और विराट् सत्य के संबन्ध को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है -

"वर्णों की क्वणित किंकणी
छन्दों की छम छम छागल
धारण कर, कविता मेरी,
तुम नाचो कर मन पागल ।

अधरों पर ललित गीति बन,
प्राणों में ज्वलित प्रीति बन,
नाचो नस, नस निर्झरिणी
बन सुधा, सुरा, हलाहल ।
ओ मुग्ध हृदय की देवी ।
लय और प्रलय की देवी।
नाचो तुम जन्म मरण में
बन बन कर परिणति का फल ।"[1]

कवि प्रलय के नर्तन को, अपनी कविता में आवाहित करना चाहते हैं । वर्णो की किंकणी क्वणित करती हुई, छन्दों की छागल धारण करती हुई कविता नाचती है । संसार की नस-नस में प्रीति को ज्वलित करती हुई सुधा की निर्झरिणी बहानेवाली कविता का नृत्य वे देखना चाहते हैं । कविता तो लय और प्रलय की देवी है । जन्म-मरण की परिणति का फल होकर उस

---

1. "अग्निशस्य" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 97.

कविता को नाचने का आदेश वे देते हैं । यहाँ कवि कविता को संसार के काल-चक्र की चिर परिवर्तनशील गति से संबद्ध करते हैं । प्रलय का ताण्डव नृत्य और उसकी लय अपनी ही कविता में वे अनुभव करते हैं ।

"देन" नामक कविता में भी काव्य को आध्यात्मिक उत्स से उत्पन्न माना है ।

"वेणु को तुमने दिया स्वर,
रेणु को कर दिया भास्वर ।
भावना को भी तुम्हीं ने
काव्यमय दी देह साक्षर ।"[1]

परम सत्यस्वरूप ने वेणु को स्वर दिया है अर्थात् नाद तत्व उसी सत्य से उत्पन्न होता है । समस्त सृष्टि के हर रेणु को उन्होंने अपने ही चैतन्य से भास्वर बनाया है । अर्थात् समस्त सृष्टि में प्रकट होनेवाला जीव चैतन्य उन्हींका अंश है । इसी प्रकार मनुष्य की भावनाओं को काव्यमय, साक्षर देह भी इस सत्यस्वरूप से मिला है । इस प्रकार काव्य का अखण्ड सत्य के साथ ही अटूट संबन्ध है ।

"व्यर्थ प्रतिध्वनि" शीर्षक कविता में कवि के अन्तर्जग को ध्वनि सर्जक मानकर समष्टि के तत्व का व्यष्टि में समावेश किया है ।

"जा कर जहाँ, न आए निर्झर,
सागर है सब नदियों का घर ।
नीड नहीं चंचल चिडियों का,
ध्वनि - सर्जक कवि का अन्तरतर ।

---

1. "अग्निशस्य" (नरेन्द्र शर्मा) - पृः 113.

अश्रु बिन्दु बन कर, अन्तर्ध्वनि
युगारंभ पर हुई निछार ।"[1]

प्रसाद ने विराट् चिति की जो कल्पना कामायनी में की है वह आध्यात्मिक क्षेत्र का महानतम रहस्य है । इस समस्त सृष्टि में एक ही चैतन्य व्याप्त है जो सत्, चित् और आनंद है - वही व्यष्टि का भी आधार है । यह अखण्ड सत्य ही काव्य का भी आधार है । ऐसी ही कल्पना श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी की है । "कदली बन" में व्यष्टि और समष्टि पर आधारित काव्य चेतना को कहीं कहीं उन्होंने समझाने की कोशिश की है । "मेरे गीत" शीर्षक कविता इस प्रकार की है -

"मेरे गीत बडे हरियाले ।
मैं ने अपने गीत
सघन - वन - अन्तराल से खोज निकाले ।
मैं ने इन्हें जलधि में खोजा,
जहाँ द्रवित होता फीरोज़ा ।
मन का मधु वितरित करने को
गीत बने मरकत के प्याले ।"[2]

नरेन्द्र शर्मा बताते हैं कि उन्होंने अपने गीतों को अपने अन्तराल की गहराइयों से खोज निकाला है । जलधि की व्यापकता में भी इन गीतों का आधार है । इस प्रकार मिले हुए गीत तो मरकत के प्यालों के रूप में मन का मधु वितरित करते हैं, जीवन के सार तत्व रूपी मधु इसमें छलकता है ।

---

1. "प्यासा निर्झर" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 119.
2. "कदली वन" - वही - पृ: 7.

काव्य के विराट् रूप को उन्होंने "कदली वन" की ही और एक कविता में अभिव्यक्त किया है -

"जीवन - सागर से ले कर जल
बादल जग पर बरसाता है ।
इसीलिए तो कवि गाता है ।

जीवन बरस बरस जीवन पर,
कुछ रह जाता है हृत् बन कर,
कुछ बन बन कर, नदी और नद
फिर सागर में बह जाता है ।
इसीलिए तो कवि गाता है ।"[1]

अर्थात् बादलों के समान कवि अपना धर्म निभाता है । बादल जिस प्रकार सागर से जल लेकर जग पर बरसाता है उसी प्रकार कवि भी जीवन-सागर से जिन तत्वों को स्वीकार करता है उसीको कविता के रूप में अर्पित करता है ।

"प्रवासी के गीत" में वे समस्त प्रकृति में अपनी प्रतिध्वनि सुनते हैं -

-सुन कोकिल की पागल पुकार,
पूछा कवि ने, यह कौन ज्वाल
पक्षी-उर में ? क्या वही
लदी जिससे पलाश की डाल डाल ?
बोली पिक, मैं कवि की प्रतिध्वनि ।
कवि के उर में वह कौन ज्वाल

---

1. "कदली वन" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 65.

जाने, किससे पागल है पिक,
जिससे पलाश की डाल लाल ? "[1]

कवि कोकिल से कहलाता है कि कवि के अन्दर जो ज्वाला है वही पिक को पागल बनाती है और पलाश की डालों को लाल बनाती है । अर्थात् समस्त प्रकृति को भी प्रभावित करने की शक्ति कवि की अन्तश्चेतना में है ।

काव्य का लक्ष्य

कवि श्री नरेन्द्र शर्मा की दृष्टि में विराट् सत्य पर अधिष्ठित काव्य का लक्ष्य लोक मंगल ही है । इस काव्य-लक्ष्य के बारे में उन्होंने बार बार अपना मत व्यक्त किया है । "हंसमाला" में "तिनके और तूफान" नामक कविता इसका उदाहरण है -

"तिनके चुन भाव विचारों के
निर्मित करता कवि स्वप्न-सदन
नित रुचिर कल्पना-नीड बनाता है
अशान्ति में शान्त प्रमन ।
कर अंश सत्य से समझौता,
मन स्वार्थों को देता न्यौता,
पर अवसर की सीमाओं में
कवि-मन जब जीवन-सुख खोता,
तिनकों की कारा में आते
तूफान - मुक्ति के साधन बन ।"[2]

---

1. "प्रवासी के गीत" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 53.
2. "हंस माला" - वही - पृ: 24.

अर्थात् कवि अशान्ति के बीच रुचिर कल्पनाओं का स्वप्न-सदन निर्मित करता है । अपने जीवन के समस्त सुखों को खोकर भी वह तूफान की शक्ति संगृहीत करता है और मुक्ति की ओर दुनिया को ले जाता है ।

और एक कविता में कवि की, किसान से तुलना करते हुए इस लोक मंगल के तत्व को समझाया गया है -

"हम किसान है ।
मनोभूमि में ज्योति बीज बोनेवाले हम,
कवि किसान हैं ।
हम किसान हैं ।
योद्धा को तलवार,
श्रमिक को मिलती छैनी,
कृषकों को हल, कवि को
मिली लेखनी पैनी ।
कहीं शस्य युत क्षेत्र,
कहीं उद्गीव गान हैं ।
हम किसान हैं ।
पंगु न्याय, बिन शक्ति ;
वस्तु बिन विश्व अविकसित ।
पतित अहल्या भूमि,
गीत के बिना रिक्त चित ।
जोतेंगे भव तिमिर
ज्योति - जिह्वा समान हैं ।
हम किसान हैं ।"[1]

---

1. "अग्निशस्य" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 58.

वे कवि को मनोभूमि में बीज बोनेवाला कृषक मानते हैं । कवि की लेखनी - योद्धा की तलवार, श्रमिक की छैनी और किसान के हल के समान है जो जीवन से लडकर मंगल की ओर ले जाती है । संसार रूपी अंधकार को हटाकर ज्योति की ओर वह ले जायेगी । इन सब पंक्तियों में कवि काव्य-कर्म को लोक मंगल पर अधिष्ठित मानते हैं ।

"प्यासा निर्झर" की भूमिका में अपने इस विचार को स्पष्ट रूप से उन्होंने समझाया है -

"मनोभूमि के कृषक के नाते, कवि-कर्म को मैं अपना लोकोपयोगी कर्तव्य-कार्य समझता हूँ और मानता हूँ कि मैं इस प्रकार समाज के मनोमय वैश्वानर की पूजा में नैवेद्य समर्पित करता हूँ ।"[1]

कवि-कर्म को विराट् प्रभु के सामने समर्पित नैवेद्य के रूप में मानते हुए नरेन्द्र शर्मा ने लोक मंगल की इस पवित्र भावना को आध्यात्मिक भाव प्रदान किया है ।

"मेरी कविता" शीर्षक कविता में इसी भाव को व्यक्त किया है -

"मेरी कविता अन्न-प्राण-मन की हो वाणी -
प्लावित करे धरा को वह गंगा कल्याणी ।"[2]

अपनी कविता को वे अन्न, प्राण और मन में व्याप्त मानने के साथ साथ समस्त धरा को पवित्र करनेवाली गंगा भी बनाना चाहते हैं ।

इसीलिए वे अपनी "वीणा" को "युग की वीणा" बनाना चाहते हैं -

---

1. "प्यासा निर्झर" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 5.
2. वही - पृ:13.

"फिर छेडो कवि, युग की वीणा,
फिर झंकृत हो युग की वाणी ।"[1]

काव्य और क्रान्ति

कवि लोक मंगल को अपनी कविता का लक्ष्य मानते हैं । यह लोक मंगल लाने के लिए वे कोई भी तरीका अपनाने के लिए तैयार हैं । क्रान्ति के सहारे जगत् की सारी जीर्णताओं से लडना भी उनका उद्देश्य है । "हंसमाला" में अपने स्वर को वे यह आह्वान देते हैं -

"तू नए सत्य के लिए नित्य कर मन-मंथन,
ओ स्वर मेरे । तू आगत की अनुगूँज न बन ।
बढता ही चले नित्य तेरा मानस - रथ
जिज्ञासा - पथ पर,
है ज्ञान विशद, अति-विशद ; कही संकीर्ण
न बन जाए अन्तर ।
सिद्धान्त - प्रयोजन साधन हैं, बन जायँ
न ममता के बंधन ।
ओ स्वर मेरे । तू आगत की अनुगूँज न बन ।
अपना न कभी कवि की लघु सीमाओं को तू,
ये अलंकार लघु भार मोह के बंधन हैं, दे तोड इन्हें ।
सब वाद-विवाद सामयिक हैं , तू मुक्त-हृदय कर
जग-दर्शन ।
ओ, स्वर मेरे । तू आगत की अनुगूँज न बन ।"[2]

---

1. "कदली वन" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ 48.
2. "हंसमाला" - वही - पृ: 13.

कवि आगत की आवृत्ति नहीं चाहते, बल्कि अपनी वाणी को नये सत्य का वाहक बनाना चाहता है । जिज्ञासा के मार्ग पर आगे बढता ही जाए जिससे ज्ञान की सीमा विस्तृत हो जाय । मुक्त हृदय से जग का दर्शन कर, वाद विवाद छोडकर उन्मुक्त हो जाना कवि का लक्ष्य है ।

"गीत का दीपक" शीर्षक कविता में इस भाव को दूसरे ढंग से व्यक्त किया गया है -

"गीत का दीपक संजो दो
दीप्त जागृति के स्वरों से ।
उर जलद-पट पर लिखो फिर
दामिनी के अक्षरों से ।"[1]

वे जागृति के स्वरों से गीत का दीपक संजो देने की इच्छा करते हैं । हृदय के मेघ-पट पर दामिनी के अक्षरों से लिखना भी चाहते हैं । अर्थात् कवि का हृदय क्रान्ति की बिजली से शक्ति-प्राप्त है ।

कवि भारती के बारे में कहते समय उन्होंने कवि को क्रान्ति के रथ का सारथी कहा है ।

"यश तुम्हारी वीर गाथा गा रहा ।
तपोबल उत्सर्ग गीत सुना रहा ।
प्रगति करती अनुगमन, हे क्रान्ति-रथ के सारथी ।"[2]

प्रगति की ओर अपना रथ चलानेवाला सारथी है कवि । कवि का यह पथ सीधा-सादा और सरल नहीं । बल्कि उसे टेढे-मेढे रास्ते पर, पल पल संघर्ष करते हुए चलना पडता है । कवि-जीवन के इस संघर्ष के बारे में "जग और कवि" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है -

---

1. "अग्निशस्य" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 51.
2. वही - पृ: 54.

"प्रणाली की जगह कवि को मिली है प्रेरणा नित नव ।
मिले सिद्धान्त जग को, किन्तु कवि को सिद्धि ही संभव ।
बहुत सों को दिखीं पगडंडियाँ
सीधी, सुगम, जानी हुई जग बीच,
मिली कवि को कँटीली राह
जो टेढी, कठिन, अनजान, पग-पग कीच ।"[1]

कवि प्रणालियों का अनुसरण करने के बदले नित्य नयी नयी प्रेरणा प्राप्त करता है । वह सिद्धान्तों को उसी प्रकार स्वीकार करने के बदले सिद्धि प्राप्त करना चाहता है । जीवन के सीधे, सुगम रास्ते पर, जग के मध्य चलने के बदले वह अनजान, कँटीली राहों पर चलता है । यही संघर्ष उसे जीवन को नये परिवर्तन की ओर ले जाने की शक्ति देता है ।

कल्पना

श्री नरेन्द्र शर्मा ने छायावादी कविता के समान वायवी कल्पना को अपनी कविता का आधार नहीं बनाया है । लेकिन उन्होंने कल्पना की पूरी अवहेलना भी नहीं की । यथार्थ की अनुभूतियों पर आधारित सुन्दर कल्पना वे चाहते हैं -

"कल्पना कलहंसिनी फिर
खोल पर उन्मुक्त विहरे ।
कर पास मधु छन्द का फिर
आपुलक अनुभूति सिहरे ।
फिर झरें नन्हीं फुहारे
चेतना के निर्झरों से ।"[2]

---

1. "हंसमाला" (नरेन्द्र शर्मा) - पृ: 26.
2. "अग्निशस्य" वही - पृ: 51.

उन्मुक्त विहरण करने पर भी कल्पना अनुभूति का पुलक सिहराती है । चेतना के झरनों से वह फूट पडती है ।

और एक कविता में भी नरेन्द्र शर्मा ने कल्पना की उडान का वर्णन किया है –

"कोमल कोंपल के पंख लगा
कल्पना डाल पर आती,
दिक्काल बाँधने के प्रयत्न में
इच्छा बन उड जाती"[1]

कल्पना अपनी इच्छा से दिशा और काल को बाँध लेने के लिए उडान भरती है ।

शब्द और अर्थ

शब्द और अर्थ तो काव्य के आधारभूत तत्व हैं । शब्द और अर्थ के इस संबन्ध को कवि ने कहीं कहीं अपनी कविता में प्रस्तुत किया है । "शब्द-फूल" नामक कविता में उन्होंने लिखा है –

"शब्द न हो आभरण,
शब्द बने आचरण,
शब्द तत्वमूल हो,
फूल हो उदाहरण ।

रंग रूप गंध ज्ञान
शब्द हो स्वयं प्रमाण ।
देवता प्रणम्य हो ;
शब्द फूल के समान ।

---

1. "अग्निशस्य" (नरेन्द्र शर्मा) – पृ: 123.

अर्थ हो कि परम अर्थ,
शब्द सिद्ध हो समर्थ ।
हेतु हो, हितू रहे -
शब्द - फूल हो न व्यर्थ ।"[1]

कवि शब्दों को अलंकरण के नहीं, आचरण के साधन मानता है । वह तत्व पर आधारित होता है । वे उसे फूल के समान मानते हैं जो रंग, रूप और गंध का ज्ञान देता है । इन्हीं शब्द-फूलों से देवता की पूजा होती है । अर्थ की प्राप्ति से शब्द सिद्ध होता है । वह कभी व्यर्थ नहीं होता ।

लेकिन वे शब्द की सीमा के बारे में खूब जानते हैं । कभी कभी अनुभूतियाँ भाषा के बंधन के परे होती हैं -

"अनुभूति इंद्रियों की सीमित,
भाषा की अक्षमताएँ हैं,
वर्णनातीत हैं पर वह छवि
जिसकी न कहीं सीमाएँ हैं ।"[2]

शब्द - अर्थ कभी कभी एक सीमा से पार नहीं जा सकते ।

काव्य के अर्थ या भाव पक्ष पर श्री नरेन्द्र शर्मा ने विचार किया है । "चूबक" शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है कि कवि के भाव कभी सूरज के समान हैं -

---

1. "प्यासा निर्झर" (नरेन्द्र शर्मा) - पृः 234.
2. "पलाश-वन" - वही - पृः 37.

"चेतना-रवि, किसी कवि के भाव-सा
जाने कहाँ से -
उदित हो मन - गगन में
लिखता पुनः इतिहास पिछला ।"[1]

प्रत्येक दिन सूरज का उदय पिछले दिन का इतिहास लिखता है । उसी प्रकार कवि के मन में नये नये भाव उदित होते हैं और इतिहास की रचना करते हैं ।

अभिव्यक्ति

नरेन्द्र शर्मा कविता में अनुभूति की गहनता को इतना मानते हैं कि उसे अभिव्यक्ति से परे मानना पडता है ।

"सब कुछ कहने पर भी जो कुछ रह जाता है कहने को,
उसे कह सकूँ, मेरी कविते, यदि तुम मेरे पास रहो ।
सब कुछ कह कह कर भी मैं कुछ भी कह न सकूँगा जीवन में,
यदि शब्दों की पद्म-नाभि में कस्तूरी की वास न हो ।"[2]

सब कुछ कहने पर भी कुछ ऐसी बातें होती हैं जो कही नहीं जातीं । कविता इन गहन भावों को अभिव्यक्त करती है । शब्दों की गहराई में भाव की कस्तूरी रहती है । उस अनकहे को कहने की बेचैनी कवि-मानस की अपनी विशेष दशा है जिसमें कविता का बीज वर्तमान है ।

---

1. "प्यासा निर्झर" (नरेन्द्र शर्मा) - पृः 9.
2. वही - पृः 10.

रामेश्वर शुक्ल "अंचल"

छायावादोत्तर वैयक्तिक काव्यधारा में श्री रामेश्वर शुक्ल "अंचल" अपनी स्वस्थ काव्यदृष्टि के कारण अलग स्थान पा सके हैं । एक सुन्दर काव्य शैली से अनुगृहीत "अंचल" जी ने जीवन, प्रकृति और साहित्य के बारे में अपनी कविताओं के द्वारा गहरा चिन्तन किया है । उनकी कविताओं का अनुशीलन करते समय, काव्य चिन्तनपरक पंक्तियाँ यत्र-तत्र, बहुत कम मात्रा में मिलती हैं जिनके आधार पर उनके काव्य-चिन्तन पर यह विचार किया गया है ।

सत्य

अन्य कवियों के समान श्री "अंचल" ने भी "सत्य" शब्द की गहराई को आँकने का प्रयास किया है । काव्यगत सत्य को "अंचल" एक विस्तृत अर्थ में लेना चाहते हैं, जैसे वे "अनुपूर्वा" की भूमिका में कहते हैं -

"मैं कवि - सत्य को इतना सीमित और लघु मानवीय नहीं मानता । कवि का व्यक्तिगत अर्जित सत्य होकर भी वह विश्व मन और विश्व प्रकृति की पूर्णतम, महत् यथार्थ सत्ता से अलग नहीं है । व्यक्तिगत अर्जन पर आग्रह करते हुए भी और अलग अलग होकर भी समस्त कवि - सत्य विश्व मानव और विश्व बोध की महत् कल्पना को आपूर्यमान कर रहे हैं ।"[1]

अंचल के मन्तव्य में किसी भी कवि को विश्व-सत्य से अलग रहने का अधिकार नहीं है । सीमित लघुमानवीय सत्य भी व्यापक विश्व सत्य को आत्मसात् कर सकता है । इसलिए कवि लघु व्यक्तित्व में सीमित रहकर भी विराट् विश्व को अपने में समाता है ।

---

1. "अनुपूर्ण" (अंचल) - पृ: 4.

इसीलिए वे संसार को स्वप्न मानकर उसकी उपेक्षा करना नहीं चाहते हैं । "पीयूष की भटकी किरण यायावरी" शीर्षक काव्य संग्रह में "स्वप्न और सत्य" शीर्षक कविता में अंचलजी ने इसपर विचार प्रस्तुत किया है ।

"स्वप्न है संसार, तो किस सत्य के कवि गीत गाए ;
तोडकर अपना हृदय किस सत्य की प्रतिमा बनाए ?
कौन-सा वह, कौन-सा सुख, फूल को जो फल बनाता ;
दूज का क्यों चाँद दौडा पूर्णिमा की ओर जाता ?
स्वप्न है ये सब अगर, किस सत्य के कवि गीत गाए ;
कौन सुषमा से बडा संदेश मानव को सुनाए ? "[1]

अगर संसार स्वप्न है तो कवि कैसे सत्य के गीत गाता ? वह तो अपना ही हृदय तोडकर कविता में सत्य की प्रतिमा बनाता है । संसार में फूल को फल बनानेवाला, पूर्णिमा के चाँद के द्वारा सौन्दर्य भरा देनेवाला वह आनंद कैसे स्वप्न हो सकता ? अगर ये सब सपने हैं तो मानव को सौन्दर्य के ये कमनीय संदेश कौन, कैसे सुनाता ?

वाणी की शक्ति

कवि रामेश्वर शुक्ल "अंचल" कवि की वाणी में शक्ति का अनन्त स्रोत पाते हैं । उनकी राय में कवि की वाणी में अंमगल को दूर करने की, अद्भुत विस्फोट-भरी शक्ति निहित है । "अपराजित" शीर्षक काव्य-संग्रह में उन्होंने यों लिखा -

---

1. "पीयूष की भटकी किरण यायावरी" (अंचल) - पृ: 71.

"विस्फोट भरी मेरी वाणी
मेरी अन्तर्ध्वनि कल्याणी
यह प्रखर पिपासा का पानी
मैं गीतों में भरने आया"[1]

कवि की आन्तरिक ध्वनि की अनुगूँज जो उसकी वाणी में सुनाई पडती है, वह सचमुच विस्फोट-भरी है । उसमें कल्याण या मंगल लाने की विशेष क्षमता है । मंगल के पुण्य-तीर्थ के लिए प्यासे रहनेवाले जग के लिए कवि अपने गीतों में पुण्य जल लेकर आता है । कवि अपनी वाणी के विस्फोट से एक नये विश्व का आवाहन कर सकता है ।

मौन

अंचल जी वाणी में ही नहीं, मौन में भी नये नये संदेश सुनना चाहते हैं । उनकी "कोई सुनता है" कविता इसका उदाहरण है ।

"अर्थ क्या रह गया उस शून्य बनी संज्ञा का
जिसके प्रतिकल्प का उच्छ्वास कोई सुनता है,
तुम न मानो, तुम्हें वाणी की धरोहर मेरी ।
मौन की बाढ में बार बार कोई सुनता है ।"[2]

संज्ञा कभी कभी शून्य बन जाती है जो अर्थहीनता की स्थिति तक पहूँचती है । उस शून्य का उच्छ्वास कोई सुनता है । कवि कहता है कि अपनी वाणी की धरोहर देकर वे निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मौन में भी बार बार कुछ सुनाई पडता है ।

---

1. "अपराजिता" (अंचल) - पृ: 70.
2. "अनुपूर्वा" (अंचल) - पृ: 54.

कलाकार का अहं

कवि "अंचल" कलाकार के अभिमान केलिए कुछ भी त्यागने को तैयार हैं । उनकी राय में कलाकार की बिक्री ऐसी है मानो माँ उल्का बनकर अपने इकलौते बेटे की मृत्यु देख रही हो ।

"तुम क्या समझोगे उसका दुःख उसके जलते मन की ज्वाला ।
जिसकी उडती ज्योति-शिखा का विष पीकर मर गया उजाल ।
वह विश्वास-सृजन की पीडा झेल जिसे कवि ने था पाया ।
जीवन भर संघर्षों में भी पाला जिसका गीत सुनाया ।
आज उसीकी अरथी सजती प्राण न जैसे धीरज धरता ।
उल्का बनकर देख रही है माँ इकलौता बेटा मरता ।।"[1]

सचमुच कवि के मन में एक ज्वाला जलती है जिसकी ज्योति-शिखाओं का विष पीकर उजाला भी मर जाता है । सृजन की पीडा उसके अन्तर्मन को बार बार सताती है । लेकिन जीवन भर संघर्ष करके उसी सृजन-पीडा को सहते हुए मन के गीत सुनाता है । आज वही ज्वाला बुझने जा रही है । यहाँ कलाकार का अस्तित्व ही अर्थशून्य हो जाता है ।

---

1. "विराम चिह्न" (अंचल) - पृ: 16.

श्री. हरिवंशराय बच्चन

कवि बच्चन ने यद्यपि युगीन चेतना को अभिव्यक्ति दी है, फिर भी उनकी अधिकांश कविताएँ अपने जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों और अनुभूतियों के आधार पर लिखी हुई हैं । बच्चन की कविता में कवि-हृदय की विशेष अनुभूतियों और मान्यताओं तथा काव्य-संबन्धी तत्वों का यत्र-तत्र विचिन्तन लक्षित होता है । शिल्प-संबन्धी चिन्तन उनकी कविता में विरले ही मिलता है । उनका व्यक्तिगत जीवन वेदना और आकुलता में भीगा हुआ था । इसलिए अधिकांश कविताओं में वेदना और आकुलता की अनुभूतियाँ वाणी पा सकी है ।

कवि बच्चन की कविता में काव्य चिन्तन के जो कण मिलते हैं, उनका अवलोकन हम इस प्रकार कर सकते हैं -

काव्य की रचना-प्रक्रिया से संबद्ध विचार

काव्य की रचना प्रक्रिया के संबन्ध में बच्चन का अपना विशेष दृष्टि-कोण है । "आकुल अन्तर" की भूमिका में रचना-प्रक्रिया की सूक्ष्म व्याख्या वे करते हैं - "कविता हृदय और मस्तिष्क की सम्मिलित, सामंजस्यपूर्ण प्रक्रिया का परिणाम है, हृदय अनुभव जनित भावना में विलीन होता है, मस्तिष्क विश्लेषण-मूलक शब्दों में उसे आकार देता है -

"रस डूबा स्वर में उतराया,
यह गीत नया मैं ने गाया ।"

§"आरती और अंगारे"§

अनुभवों से तटस्थ रहने पर अभिव्यक्ति सरल, निकटस्थ होने पर कठिन और एकात्म हो जाने पर असंभव हो जाती है ।"[1]

---

1. "आकुल अन्तर" §बच्चन§ - पृः ।।.

यहाँ कवि बच्चन काव्य की रचना प्रक्रिया के सूक्ष्म तत्वों का निरीक्षण करते हैं । रचना में हृदय के साथ साथ मस्तिष्क का भी अपना हाथ है । रस जब स्वर के आकार में, नये गीत में बदल जाता है तब यही दो तत्व उसके पीछे काम करते हैं । कवि अपनी अनुभूति में न तो एकात्म रह सकता है, न निकटस्थ हो सकता है, अपनी अनुभूति से तटस्थ रहने पर वह सफल अभिव्यक्ति कर पाता है । यहाँ काव्य की रचना प्रक्रिया में कवि के तटस्थ भाव पर बल दिया जाता है जो उसे अपनी अनुभूतियों को वाणी बद्ध करने की क्षमता देता है ।

"जाल समेटा" नामक संग्रह की एक कविता में काव्य-रचना का मूल तत्व उन्होंने समझाया है । एक चिडिया के साथ कवि का संवाद होता है -

"मैं ने चिडिया से कहा, मैं तुम पर एक
कविता लिखना चाहता हूँ ।"
चिडिया ने मुझसे पूछा, "तुम्हारे शब्दों में
मेरे परों की रंगीनी है?"
मैं ने कहा, "नहीं" ।
"तुम्हारे शब्दों में मेरे कंठ का संगीत है?"
"नहीं" ।
"जान है?"
"नहीं" ।
"तब तुम मुझपर कविता क्या लिखोगे?"
मैं ने कहा, "पर तुमसे मुझे प्यार है ।"
चिडिया बोली, "प्यार का शब्दों से क्या सरोकार है?"
एक अनुभव हुआ नया ।
मैं मौन हो गया ।"[1]

---

1. "जाल समेटा" (बच्चन) - पृ: 69.

कवि ने चिडिया से इस प्रकार के संवाद का जो चित्र दिया है, वह बहुत अर्थपूर्ण है । कवि तो प्रकृति की प्रतिकृति बनाना चाहता है, सौन्दर्य को समेटना चाहता है, लेकिन सौन्दर्य की, काव्य में अभिव्यक्ति मिलने पर उसका साक्षात् रूप नहीं मिलता । चिडिया यह जानना चाहती है कि क्या उसपर लिखी जानेवाली कविता में उसके परों की रंगीनी है, या उसके कंठ का संगीत है, या उसके डैनों की उडान है? कवि कहता है कि यह सब तो उसकी कविता में नहीं, पर उसे चिडिया से प्यार है । लेकिन चिडिया इससे तृप्त नहीं होती । क्योंकि प्यार और शब्दों का कोई सरोकार नहीं है । चिडिया के द्वारा कवि यही दिखाना चाहते हैं कि सौन्दर्य को आत्मसात् करना और उसे अभिव्यक्त करना अलग अलग है । इसलिए रचनाकार के मन में यह अहंकार नहीं होना चाहिए कि वह प्रकृति या सौन्दर्य को अपने काव्य द्वारा अभिव्यक्त करता है ।

और एक कविता में कवि-कल्पना की, गुब्बारों से तुलना की गयी है । कविता में कवि का आत्म विश्वास भरा रहता है –

"कवि भी छोडते हैं कल्पना के गुब्बारे,
पहाडों पर से होता है उसका श्लान,
खेलते हैं उनसे आँधी – तूफान,
बिजली और बादल देते हैं उनका साथ,
तारे करते हैं उनसे बात,
उल्का होते हैं उनके पास,
आसमान करता है उनका सम्मान,
ज़मीन होते हैं वे मेहमान,
और उन्हें छूकर
इंसान उठ जाता है ऊपर ।

इन गुब्बारों में भरने को
नहीं चाहिए साँस,
दमे के बीमार की,
उखडी हुई, टूटी,
अब छूटी कि तब छूटी ।
इनमें भरने को चाहिए
कवि के वक्षस्थल की साँस
लिए हुए आत्म विश्वास,
जो खिंचती है तो
खींच लेती है प्राण,
निकलती है तो
करती है अमरत्व प्रदान ।"[1]

यहाँ बच्चनजी की दृष्टि में कवि की कल्पनाएँ गुब्बारों के समान हैं । कवि की कल्पना समस्त प्रकृति से संपर्क पा सकती है । पहाडों से निकल आती हुई वह आँधी तूफान से खेलने लगती है । बिजली और बादल तो उनका साथ देते हैं । आसमान और ज़मीन उसका सम्मान करते हैं । तारों और उल्का से उनकी बातचीत होती है । इस प्रकार कवि-कल्पना के गुब्बारे प्रकृति के हर अंग के निकट हैं । आश्चर्य की बात यह है कि इन गुब्बारों में भरने के लिए कवि के आत्म-विश्वास की साँस ही चाहिए । कवि के वक्षस्थल की साँस में प्राण खींच लेने की क्षमता है, अमरत्व प्रदान करने की शक्ति है । यहाँ कवि यह बताना चाहता है कि कवि की कल्पना में शक्ति का अखण्ड स्रोत है ।

---

1. "बुद्ध और नाचघर - तथा अन्य कविताएँ" (बच्चन) - पृ: 88.

बच्चन के लिए रचना-प्रक्रिया का क्षण आत्म विस्मरण का क्षण है । "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" - में इस सृजन - प्रक्रिया के बारे में वे कहते हैं - "काव्य-सृजन में मेरा मन कुछ शांति, कुछ मुक्ति पाता है, जो अन्यथा उद्विग्न, उद्भ्रान्त अथवा अशान्त रहता है । शायद अब भी मनः शक्तियों का पूर्ण केन्द्रीकरण, तन्मयता, तल्लीनता, परिपूर्ण आत्म विस्मरण मैं काव्य-सृजन के ही क्षणों में जानता हूँ - जिसे अब मैं "समाधि" कहने लगा हूँ । जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना है - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ ।"[1]

कवि काव्य सृजन में एक प्रकार की समाधि-मग्न स्थिति का अनुभव करता है । अन्यथा व्याकुल, भटकनेवाला अशान्त मन काव्य रचना के क्षण में एक अपूर्व शान्ति और मुक्ति का अनुभव करता है । इतना ही नहीं, कला या काव्य में उनकी अनुभूतियाँ साधारण जीवन से अधिक तीव्र और गहरी भी लगती हैं । अनुभूति की इस तीव्रता में वे बाह्य संसार से पूर्णतः मुक्त होकर समाधि का अनुभव करते हैं ।

सृजन के क्षण में जो आत्म विस्मृति होती है, उसके बारे में "एकान्त संगीत" में बच्चन ने संकेत किया है -

"कोई गाता, मैं सो जाता ।
संसृति के विस्तृत सागर पर
सपनों की नौका के अन्दर
सुख-दुःख की लहरों पर उठ-गिर

---

1. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" (बच्चन) - पृः 265.

बहता जाता मैं सो जाता ।
कोई गाता, मैं सो जाता ।"[1]

कवि काव्य रचना के क्षण को एक अपूर्व कल्पना के सहारे यहाँ वर्णित करता है । काव्य-सृजन के क्षणों में ऐसा लगता है मानो कवि संसृति के विस्तृत सागर पर, सपनों की नौका में बहता रहता है जहाँ सुख-दुःख लहरों के रूप में चंचल रहते हैं । वह तो सोते हुए आगे बढता है, पर कोई गाता रहता है । अर्थात् कवि का व्यक्ति सोता है, जब अन्दर की कवि-चेतना जागृत होकर गीत गाती है ।

सर्जक इतना तल्लीन होता है कि उसे अपनी मनःस्थिति का भी ज्ञान नहीं है । इसको "बसेरे से दूर" में बच्चनजी वर्णित करते हैं -

"सृजन का क्षण सर्जक को अपनी सृष्टि में इतना डुबानेवाला होता है कि उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस मनः स्थिति में है । सृजन बड़ी पेचीली प्रक्रिया है और मन पारे से भी अधिक चंचल । सृजन आरंभ होते ही, माध्यम कोई भी हो, सर्जक अपनी सृष्टि का अंग बन जाता है, और मेरा ऐसा अनुभव है, वह अपने मन की स्थिति का न स्वामी रह जाता है, न दास, न भोक्ता ही ।"[2]

सृजन की प्रक्रिया में सच्चा कलाकार इतना डूब जाता है कि उसे अपने व्यक्तित्व और मनः स्थिति का भी विस्मरण होता है । वह स्वयं अपनी सृष्टि का अंग हो जाता है । यह स्थिति न स्वामी या दास या भोक्ता की स्थिति से इतनी भिन्न है कि उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते । सृजन की आत्म विस्मृति का अनुभव अवर्णनीय है ।

---

1. "एकान्त संगीत" - (बच्चन) - पृः 30.
2. "बसेरे से दूर" - वही - पृः 103.

कवि की दृष्टि

बच्चन ने कवि को एक व्यापक दृष्टि से देखा है । वे कवि की काव्य-दृष्टि को व्यापकता और महत्व के साथ देखते हैं । "प्रणय-पत्रिका" में एक कविता मिलती है जो इसका परिचय दिलाती है -

"कवि के उर के अन्तःपुर में
वृद्ध अतीत बसा करता है,
कवि की दृग कोरों के नीचे
बाल भविष्य उँसा करता है,
वर्तमान के प्रौढ स्वरों से
होता कवि का कंठ निनादित,
तीन काल पद-मापित मेरे,
क्रूर समय का डंक मुझे क्या ।
आज गीत मैं अंक लगाए, भू मुझको,
पर्यंक मुझे क्या ।"[1]

कवि को बच्चनजी त्रिकालदर्शी के रूप में देखते हैं - अतीत का वृद्ध, भविष्य का बालक और प्रौढ का वर्तमान - तीनों कवि के ही अन्दर है । समय ने तीन कालों से तीन पद माप लिये हैं । इसलिए कवि को डरने की आवश्यकता भी नहीं ।

---

1. "प्रणय-पत्रिका" (बच्चन) - पृ: 35.

एक जगह दार्शनिक की तुलना में बच्चनजी कवि की दृष्टि की विशेषता बताते हैं –

"दार्शनिक की दृष्टि में विश्व का छोटे से छोटा भाग, बडे से बडे के, निकट से निकट, दूर से दूर के भाग से इतना संबद्ध है कि वह किसी एक की सम्यक् व्याख्या तब तक उपस्थित नहीं कर सकता जब तक कि वह संपूर्ण विश्व की व्याख्या न कर ले । कवि की अन्तदृष्टि छोटे से छोटे भाग को परिपूर्णता प्रदान कर, इकाई मानकर, उसके साथ तादात्मय स्थापित कर, तत्क्षण उसकी व्याख्या कर देती है ।"[1]

दार्शनिक और कवि की तुलना करते हुए बच्चनजी बताते हैं कि दार्शनिक तो संपूर्ण विश्व के अंग के रूप में छोटे से छोटे भाग की व्याख्या करते हैं । लेकिन कवि की दृष्टि में इतनी व्यापकता है कि वह इस छोटी इकाई को भी संपूर्णता देकर उससे एकात्म हो सकता है ।

"मधु-कलश" में कवि-हृदय की व्यापकता का यों वर्णन है –

"डालता सब पर सदा कवि
निज हृदय की स्नेह छाया"[2]

कवि अपने हृदय को इतना व्यापक बना सकता है कि उसके स्नेह की छाया सब पर डाल सकता है ।

कवि हृदय का प्रकृति से जो संबन्ध है, उसके बारे में बच्चनजी यों कहते हैं –

---

1. "आकुल अन्तर" (बच्चन) – पृ: 8.
2. "मधु कलश" – वही – पृ: 58.

"स्वर्ग शोभन कल्पतरू औ"
देवप्रिय मन्दार सुन्दर
कर रहे निर्विघ्न शासन
आदि युग से कवि हृदय पर"[1]

जब से कविता का आरंभ हुआ, तब से लेकर कवि के हृदय पर स्वर्ग के कल्प तरू, मन्दार आदि प्रकृति के सौन्दर्य के विविध अंगों ने शासन किये हैं ।

और एक जगह उन्हेंने कवि हृदय को निःस्वार्थ बताया है -

"विश्व-सुख में भूलता कवि
आज निज दुःख का समय भी ।"[2]

अपने दुःख के समय में भी कवि विश्व के सुख में अपना सबकुछ भूलता है । इस प्रकार कवि का हृदय अपने स्वार्थ का तनिक भी ख्याल नहीं रखता ।

"मधुशाला" की भूमिका में कवि के हृदय को अलौकिक महत्व से युक्त बताया है -

"कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है । उसकी हृदय - गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीडा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है ।"[3]

बच्चनजी के अनुसार कवि हृदय असाधारण है । त्रिकाल, त्रिभुवन और प्रलय उसके लिए बच्चों की क्रीडाओं के समान है । उसका हृदय इतना अलौकिक स्वभाव रखता है कि अखिल विश्व की संपूर्ण लीलाएँ उसके अधीन हैं ।

---

1. "मधुकलश" - {बच्चन} - पृः 62.
2. वही - पृः 59.
3. "मधुशाला" - वही - पृः 18.

इसी कृति में बच्चनजी ने कवि को आनंद - रस का प्याला भरनेवाले के रूप में माना है -

"भावुकता अंगूर लता से
खींच कल्पना की हाला,
कवि साकी बनकर आया है
भरकर कविता का प्याला,
कभी न कण भर खाली होगा,
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ ।
पाठक गण हैं पीनेवाले,
पुस्तक मेरी मधुशाला ।"[1]

यहाँ कवि बच्चनजी ने काव्य के मंच पर मधुशाला की सुन्दर कल्पना की है । भावुकता की अंगूर लता से कवि कल्पना की हाला खींच लेता है और मधुपूर्ण प्याला लेकर साकी के रूप में वह आ जाता है । लाखों, करोडों लोगों के पीने पर भी यह प्याला कभी खाली नहीं होगा । इस मधु के हम पाठक ही पीनेवाले हैं । यहाँ कविता को एक मधुर नशे के आधार पर वे देखते हैं ।

"क्या भूलूँ क्या याद करूँ" नामक ग्रन्थ में कवि-दृष्टि को एक विशेष अर्थ में उन्होंने स्वीकार किया है -

"कवि का पंथ अनंत सर्प - सा
जो मुख में है पूँछ दबाए,
और मनीषी तीर सरीखी
सीधी अपनी लीक बनाए ।"[2]

---

1. "मधु-शाला" (बच्चन) - पृ: 31.
2. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" (वही) पृ: 256.

साधारण मनीषी "आदि चेतना" को केवल एक बिन्दु पर स्पर्श कर सकता है । लेकिन कवि उसे चारों ओर से घेर लेता है । कवि की प्रत्येक पंक्ति में, प्रत्येक कविता में, सर्प की काया के समान सुसंबद्धता होनी चाहिए ।

अनुभूति और कला

बच्चन की मान्यता है कि रचनाकार के लिए अनुभूति ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । कला-वैदग्ध्य भी अनुपेक्षणीय नहीं है । इसके संबन्ध में वे कहते हैं -

"साहित्य के क्षेत्र की तीव्रानुभूति वही है जो अभिव्यक्ति पा तीव्रानुभूति जगाने में समर्थ हो । इसीके दूसरे नाम आनंद और रस भी हैं । कुछ लोग कह सकते हैं कि इस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए तीव्रानुभूति नहीं, काव्यकला में विदग्धता की आवश्यकता है । इसमें संदेह नहीं कि काव्यकला की विदग्धता अनुभूति की क्षमता को भी बहुत बढा देगी, लेकिन अनुभूति की विदग्धता वक्ता और श्रोता के बीच जिन सूक्ष्म तंतुओं का सृजन करती है, अभिव्यंजन को जिस पूजन - अर्चन अथवा यजन का रूप देती है, वह वाणी की विदग्धता से संभव नहीं ।"[1]

यहाँ बच्चनजी इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि काव्य में अनुभूति की सूक्ष्म भूमिका का स्थान कला का वैदग्ध्य कभी नहीं ले सकता ।

वे कविता को हवा के झोंके के समान मानते हैं -

"कविता जीवन के आँगन में
एक हवा के
ताज़े झोंके - सी आती है ।"[2]

---

1. "प्रणय-पत्रिका" (बच्चन) - पृ: 10.
2. "बहुत दिन बीते" - वही - पृ: 69.

मन को काव्य की अनुभूति से इतना सुखद वातावरण मिलता है कि कविता जीवन के आंगन में आयी ताज़ी हवा के झोंके के समान है ।

"प्रणय पत्रिका" की भूमिका में भी उन्होंने कवि की आत्मानुभूति की महानता उद्घोषित की है -

"गीतकार के लिए आत्मानुभूति आवश्यक है । अनुभूति को स्थूल घटनाओं तक सीमित रखना ठीक नहीं । वह कल्पना में जो बीता, बरतता, रहता - सहता, सँजोता वह भी अनुभूति का सूक्ष्म रूप है ।"[1]

बच्चनजी गीतकार के लिए जीवन की अनुभूतियों को ही नहीं, सूक्ष्म, काल्पनिक अनुभूतियों को भी अनिवार्य मानते हैं । इन दोनों धरातल की अनुभूतियाँ कवि के गीत का आधार बन जाती है ।

इस प्रकार अनुभूति के बहिःस्फुरण में विशेष माप-तौल का स्थान नहीं है -

"सृजन वही है,
मानदण्ड - बटखरा स्वयं जो
जिसे नापने और तोलने को
पहले से बना हुआ
उपकरण नहीं है ।"[2]

सृजन की प्रक्रिया को नापने - तौलने का उपकरण अभी तक नहीं बना है । सृजन का मानदण्ड स्वयं वही है ।

---

1. "प्रणय पत्रिका" (बच्चन) - पृः 12.
2. "बहुत दिन बीते" - वही - पृः 16.

अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति को बच्चनजी एक विशेष अर्थ में व्यक्त करना चाहते हैं । उनके लिए वह केवल शब्दों का चमत्कार नहीं है । तीव्र अनुभूति से सांद्र हृदय जब बहि:स्फुरित होती है, वही काव्य बन जाता है - "मौन और शब्द" नामक कविता में इस गहन स्थिति को वे यों परिचित कराते हैं -

"एक दिन मैं ने
मौन में शब्द को धँसाया था
और एक गहरी पीडा,
एक गहरे आनंद में,
सन्निपात - ग्रस्त सा,
विवश कुछ बोला था,
सुना, मेरा वह बोलना
दुनिया में काव्य कहलाया था ।"[1]

यहाँ कवि अपने भावों को काव्यगत अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया स्पष्ट करते हैं । कवि एक बार ऐसी एक खास स्थिति में पहूँचे थे जब उन्होंने मौन में शब्द को धँसाया था । इतना ही नहीं, एक गहरी पीडा और गहरे आनंद से भरी हुई उस अनुभूति में वे सन्निपात ग्रस्त के समान हुए थे । इसी स्थिति में अनजाने, विवश होकर वे कुछ बोले थे । दुनिया ने यह सुना और उनका यह बोलना काव्य कहलाया।

---

1. "जाल समेटा" (बच्चन) - पृ: 70.

"आकुल अन्तर" की भूमिका में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है ।

"कविता घटनाओं का इतिहास नहीं है, घटनाओं से जिन भावनाओं की अनुभूति हुई है उन्हें जगाने का साधन है । इसके लिए कवि जिन उपकरणों का उपयोग करता है वह उसकी कला के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं - जीवन-इतिहास के अन्तर्गत नहीं । उसकी महत्ता अपने सच्चे होने में नहीं, उनकी महत्ता वंचित भावनाओं को जगाने की शक्ति में हैं ।"[1]

एक कविता में बच्चनजी ने कला की व्याख्या यों दी है -

"है कला क्या ?
अव्यवस्था में व्यवस्था ।"[2]

अर्थात् कला अव्यवस्था में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था उपस्थित करती है । अव्यवस्थित विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं को कला के माध्यम से एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति मिलती है ।

"बुद्ध और नाचघर" की भूमिका में इस व्यवस्था के बारे में वे यों लिखते हैं -

"कविता जब अभिव्यंजन मात्र नहीं प्रेषण और सहानुभूति (सह + अनुभूति) भी होती है तो उसके भाव-विचार उसकी अभिव्यक्ति को निर्धारित, निरूपित और अनुशासित करते हैं । अभिव्यक्ति में काव्य के अन्य उपकरणों के अतिरिक्त उसका छन्द भी सम्मिलित होता है ।"[3]

अर्थात् अभिव्यंजित होते ही कविता खतम नहीं होती । कविता में अभिव्यंजन के अलावा सह अनुभूति भी होती है ।

---

1. "आकुल अन्तर" (बच्चन) - पृ: 10.
2. "दो चट्टाने" वही - पृ: 169.
3. "बुद्ध और नाचघर" - तथा अन्य कविताएँ - वही - पृ: 9.

बच्चन मानते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति उनके अन्दर जो अज्ञात मौन का भार है उसको हल्का करने के लिए है । अपनी एक कविता में अभिव्यक्ति के इस लक्ष्य को वे स्पष्ट करते हैं –

"मैं बहुत गाता हूँ,
बहुत लिखता हूँ
कि मेरे अन्दर
जो मौन है,
बंद है, बंदी है,
जो सबके लिए
और मेरे लिए भी
अज्ञात है, रहस्यपूर्ण है,
वह मुखरित हो, खुले
स्वच्छन्द हो, छन्द हो,
गाए और बताए
कि वह क्या है, कौन है
जो मेरे अंदर मौन है ।"

मेरे दिल पर, दिमाग पर,
साँस पर
एक भार है –
एक पहाड है ।
मैं लिखता हूँ तो समझो
मैं अपने कलम की निब से
नोक से

उसे छेदता हूँ, भेदता हूँ,
कुरेदता हूँ,
उसपर प्रहार करता हूँ
कि वह भार घटे,
कि वह पहाड हटे,
कि पाप कटे
कि मैं आज़ादी से साँस लूँ,
आज़ादी से विचार करूँ,
आज़ादी से प्यार करूँ ।"[1]

कवि अनुभव करते हैं कि उनके अन्दर एक मौन बंदी रहता है जो अज्ञात है । इस मौन को वे मुखरित करना चाहते हैं, उसको छन्द का रूप देना चाहते हैं । यही नहीं, कवि के अन्दर दिल, दिमाग और साँस पर पहाड-सदृश एक भार है । जब कविता का सृजन होता है तो कलम की निब से इसी भार को वे छेदते हैं, भेदते हैं ताकि भार का वह पहाड हट जाय । उसके फलस्वरूप आज़ादी की साँस निकलेगी । यहाँ कवि अपनी काव्या भिव्यक्ति को मुक्ति की अभिलाषा और आज़ादी की चेतना से संपृक्त करना चाहता है ।

काव्य और जीवन

काव्य और जीवन का अभिन्न संबन्ध तो अनादि काल से ही माना गया है । बच्चनजी ने जीवन के साथ काव्य के अभिन्न संबन्ध को बार बार स्थापित किया है -

---

1. "बुद्ध और नाचघर तथा अन्य कविताएँ" - (बच्चन) - पृ: 161.

"यदि मेरा जीवन ही काव्य नहीं है तो कवित्व नाम की कोई चीज़ मेरे अन्दर नहीं है । कवित्व यदि कमल है तो जीवन जल है ।"[1]

बच्चनजी की दृष्टि में काव्य को जीवन से पृथक् करना असंभव है । कमल के लिए जल जिस प्रकार आधार है उसी प्रकार ही जीवन के आधार पर काव्य का अस्तित्व है ।

"एकान्त संगीत" में वे लिखते हैं -

"मेरे जीवन का खारा जल,
मेरे जीवन का हालाहल
कोई अपने स्वर में मधुमय कर बरसाता, मैं
सो जाता ।
कोई गाता, मैं सो जाता ।"[2]

अपने जीवन के खारे जल और हालाहल को मधुमय कर बरसानेवाली एक अपूर्व शक्ति बच्चनजी की कविता में पाते हैं । जब इस मधुमय संगीत में कोई गाता है तो कवि सब कुछ भूलकर सो जाता है ।

"बसेरे से दूर" में काव्य का जीवन से जो जो अभिन्न संबन्ध है, उसके बारे में बार बार कहा है -

"भाषा से संपृक्त होने का अर्थ मेरे लिए है समाज से संपृक्त रहना । भाषा यदि समाज के चिन्तन-मनन, गति-विधि, विकास का अपरिहार्य माध्यम है तो

---

1. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" (बच्चन) - पृ: 271.
2. "एकान्त संगीत" - वही - पृ: 30.

कोई भी सप्राण लेखक, चाहकर भी चूँकि वह भाषा के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है, समाज से असंपृक्त नहीं रह सकता ।"[1]

बच्चनजी की राय में भाषा और समाज एक दूसरे से अभिन्न है । भाषा सचमुच समाज की सप्राण अभिव्यक्ति का माध्यम ही है । इसलिए काव्य जीवन से ही अनुप्राणित है । वे दूसरे एक संदर्भ में जीवन और काव्य का यह आश्चर्यमय संबन्ध व्यक्त करते हैं –

"सृजन के क्षण जीवन को जिस गहराई, जिस ऊँचाई से देखते हैं वह सर्जक के लिए भी अज्ञेय और आश्चर्य का विषय है ।"[2]

सर्जक भी नहीं जानता कि सृजन-प्रक्रिया में सर्जक जीवन की कितनी गहरी पर्तों तक जाता है । कवि जीवन को उतना निकट अनुभव करता है ।

लेकिन बच्चनजी ज़रूर मानते हैं कि जीवन का सत्य शब्द के सत्य से अलग है । इसके बारे में वे कहते हैं – "जीवन का सत्य और शब्द का सत्य अलग अलग इकाइयाँ हैं । संसार का सारा साहित्य, जो शब्द का साहित्य है, जीवन को पकडने का एक बहुत निर्बल और निष्फल प्रयास है । जीवन की दृष्टि से शब्दों का सत्य एक बहुत बडा, लेकिन बहुत सुन्दर झूठ है । जो चीज़ रक्त से लिखी जाती है, वह स्याही से लिखी जा सकती है ।"[3]

अर्थात् कभी कभी बच्चनजी को लगता है कि सारे जीवन को सच्चे रूप से शब्द बद्ध करना असंभव है । जीवन के सत्य का केवल एक सुन्दर, झूठा रूप है काव्य का सत्य ।

---

1. "बसेरे से दूर" (बच्चन) – पृ: 256.
2. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" – वही – पृ: 323.
3. वही – पृ: 306.

इसी कारण वे कहते हैं कि कविता मरकर सचेत रहना है । "अहं के काटने के बाद जो चेतना शीश को उठाती है, उसपर पाँव धरती है, उसीका नाम कवि है । एक आइरिश कहावत है It is death to be a poet. इसे मैं अर्द्ध सत्य कहूँगा ; पूर्ण सत्य यह है It is living after death to be poet कवि मरना नहीं है - कवि मरकर सचेत रहना है ।"[1] कवि सृजनरत होता है तो इस संपूर्ण जगत् से भर जाता है । सांसारिक जीवन जीना और कवि होना - असंभव है ।

वेदना

बच्चन का जीवन वेदना और पीडा से भीगा हुआ था । यही वेदना और व्याकुलता उनके लिए काव्य का प्रोत्साहन भी देती रही । बच्चनजी ने वेदना का महत्व बार बार अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है -

"कवि वह है जिसके मन को
चोट पहुँचती है
जब होती जग में सुन्दरता की अवहेला,
अनजाने भी अपमान किसी को हो जाता,
अनजाने भी अपराध कभी हो जाते हैं ;"[2]

अर्थात् कवि का हृदय इतना मृदुल है कि जब जग में सुन्दरता की अवहेलना होती है तब उसके हृदय में चोट लगती है । अनजाने होनेवाले अपमान या अपराध के प्रति कवि का हृदय व्याकुल हो जाता है ।

---

1. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" (बच्चन) - पृ: 259.
2. "मिलन यामिनी" - वही - पृ: 56.

और एक संदर्भ में वे लिखते हैं कि कवि का गान आकुलता का ही बहिर्गमन है –

"गान गायक का नहीं व्यापार,
उसकी विकलता है ;
राग वीणा की नहीं झंकार,
उसकी विकलता है ;
भावनाओं का माधुर आधार
साँसों से विनिर्मित,
गीत कवि – उर का नहीं उपहार,
उसकी विकलता है ।"[1]

संगीत तो गायक का एक व्यापार नहीं, बल्कि उसकी आकुलता है । उसी प्रकार राग में वीणा की झंकार नहीं, उसकी विकलता है । साँसों से भावनाओं का मधुर आधार निर्मित है । गीत कवि के हृदय का उपहार नहीं, बल्कि उसकी विकलता है ।

"क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" नामक रचना में वेदना और काव्य के निकट संबन्ध को उन्होंने शब्दायित किया है । – "मैं जिस वेदना से गुज़रा हूँ या गुज़र रहा हूँ उससे कविता के बीज के लिए भूमि ही तो अपने अन्दर तैयार कर रहा हूँ । वेदना के बिना मनुष्य का अहं नहीं टूटता, और अहं के टूटे बिना एक मनुष्य के हृदय से दूसरे मनुष्य के हृदय तक पहुँच नहीं होती, सेतु नहीं बनता ।"[2]

---

1. "आकुल अन्तर" (बच्चन) – पृ: 20.
2. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" – वही – पृ: 258.

एक रचनाकार के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि अपने छोटे "अहं" की संकुचित भूमि से मुक्त हो जाय । यह मुक्ति उसे वेदना के अनुभव के द्वारा प्राप्त होती है । इस प्रकार वेदना की तडप से कवि का अहं व्यापक हो जाता है और उसका हृदय दूसरों के हृदय तक पहुँच पाता है । "मधुकलश" में उन्होंने लिखा –

"गीत कह इसको न, दुनिया,
यह दुःखों की माप मेरे ।"[1]

कवि अपनी कविता को कविता–नाम नहीं देना चाहते हैं । उनकी राय में वह दुःखों की माप ही है ।

"एकान्त संगीत" में कवि को स्वयं आश्चर्य होता है कि अश्रुधारा के बीच भी हृदय से गीत बहते हैं –

"उर व्यथा से आँख रोती,
सूज उठती, लाज होती,
किन्तु खुलकर गीत गाते हैं हृदय के घाव
मेरा भी विचित्र स्वभाव ।"[2]

असीम व्यथा से आँसू बहने पर भी हृदय के घाव गीत द्वारा प्रकट होते हैं । इसमें एक विचित्रता है । यही बच्चनजी की वेदना की विशेषता है । कभी कभी उनको अपने इस दुःख गायन से निराशा भी होती है –

---

1. "मधुकलश" (बच्चन) – पृः 63.
2. "एकान्त संगीत" – वही – पृः 88.

"मैं ने गाकर दुःख अपनाए ।
कभी न मेरे मन को भाया,
जब दुःख मेरे ऊपर आया,
मेरा दुःख अपने ऊपर ले कोई मुझे बचाए ।
मैं ने गाकर दुःख अपनाए ।"[1]

दुःख की अभिव्यक्ति गान द्वारा करते करते कभी उनको सुख नहीं मिला । बल्कि दुःख के गायन से उनको दुःख ही मिलता है । लेकिन इसपर भी बच्चनजी हटते नहीं । वे दुःख - गायन में ही मन रमाना चाहते हैं -

"चाहे सुने कोई नहीं,
हो प्रतिध्वनि न कभी नहीं ;
पर नित्य अपने गीत में निज वेदना कहता रहूँ
किसके लिए ? किसके लिए ?"[2]

कवि तो अपने गीतों में वेदना कहते रहते हैं । लेकिन वह कोई सुने या नहीं, वह प्रतिध्वनित हो या नहीं - इसके बारे में पर्वाह नहीं करते । वेदना के गायन की सफलता के बारे में वे चिन्तित नहीं हैं ।

काव्य और समाज

बच्चनजी कवि को समाज से दूर प्राणी नहीं मानते । कवि का अपने समाज से बडा गहरा दायित्व है । "एकान्त संगीत" की भूमिका में इस दायित्व को स्पष्ट करके यह धारणा गलत साबित की है कि वे आत्मकेन्द्रित हैं -

---

1. "एकान्त संगीत" (बच्चन) - पृः 44.
2. वही - पृः 51.

"कुछ लोगों के द्वारा आत्मकेन्द्रित घोषित किए जाने और अपने द्वारा भी अपने को एकाकी और निःसंग समझने के बावजूद मैं यह मानता हूँ कि मैं कभी भी ऐसा आत्मकेन्द्रित नहीं था जो समाज से दूर चला गया हो, या ऐसा एकाकी जिससे समाज दूर चला गया हो । मैं, जो बोलता था, वह बहुसंख्य लोगों के द्वारा पढा जाता था । मेरा व्यक्ति कभी एकाकी था भी तो मेरा कवि कभी ऐसा नहीं था ।"[1]

बच्चनजी के मत में आत्मकेन्द्रित या निःसंग रहना कवि के लिए, समाज से दूर चला जाना नहीं । व्यक्ति का अकेलापन और कवि का एकाकीपन दोनों भिन्न भिन्न हैं । कवि यद्यपि एकाकी है फिर भी उसकी अभिव्यक्ति बहुसंख्य कंठों की आवाज़ है । अपनी एक कविता में कवि मन को सामाजिक उत्तरदायित्व की याद दिलाते हैं ।

"क्या ध्येय निहित मुझमें तेरा ?
जन-रव में घुल-मिल जाने से,
जन की वाणी में गाने से
संकोच किया क्यों करता है यह
क्षीण, करुणतम स्वर मेरा ?
क्या ध्येय निहित मुझमें तेरा ?"[2]

कवि अपने क्षीण, करुणतम स्वर को जन की वाणी में घुल-मिल जाने की प्रेरणा देती हैं । उनकी कविता का ध्येय जन-रव में और जन-मन में घुल-मिल जाना है ।

"दो चट्टानें तथा अन्य कविताएँ" शीर्षक संग्रह में कवि का यह नया उत्तरदायित्व उन्होंने व्यक्त किया है -

---

1. "एकान्त संगीत" (बच्चन) - पृः 7.
2. वही - पृः 60.

"आज का युग,
आज का जीवन
नया कुछ अर्थ कवि से माँगता है,
जो कि अक्सर नए-शोधे - पुरातन से
है उभरता ।"[1]

कवि का उत्तरदायित्व इतना गहरा है कि वह अपने जीवन के प्रति कर्तव्य बद्ध है । पुरातन के शोध से नया कुछ उभारना उसका ही कर्तव्य है ।

बच्चन मानते हैं कि अपने शब्दों में जनता की आँहें गूँज उठती हैं -

"कवि हूँ
जो सब मौन भोगते - जीते
मैं मुखरित करता हूँ ।
मेरी उलझन में दुनिया सुलझा करती है -
एक गाँठ
जो बैठ अकेले खोली जाती,
उससे सबके मन की गाँठें
खुल जाती हैं ;
एक गीत
जो बैठ अकेले गाया जाता,
अपने मन का पाती
दुनिया दुहराती है ।"[2]

---

1. "दो चट्टाने तथा अन्य कविताएँ" (बच्चन) - पृ: 169-70.
2. "बहुत दिन बीते" - वही - पृ: 68.

कवि तो मौन होकर भोगता है, जीता है । लेकिन वह मुखरित कर सकता है । जब एकान्त घडियों में अपने मन की उलझन की गाँठ कवि खोलता है तब सभीके मन की गाँठें खुल जाती हैं । जो गीत कवि अकेले गाता, वह सभी के हृदय का स्पन्दन है । यहाँ भी बच्चनजी कवि-कर्म के सामाजिक पक्ष पर बल देते हैं ।

एक कविता में बच्चन ने कवियों की वायवी कल्पनाओं और भावनाओं की निंदा करके समकालीन यथार्थ के चित्रण की आवश्यकता पर बल दिया है -

"वायवी सब कल्पनाएँ - भावनाएँ
आज युग के सत्य से ले टक्करें
गायब हुई हैं ।
कुछ नहीं उपयोग उनका ।
था कभी संदेह मुझको ।
किन्तु आत्म प्रवंचना जो कभी संभव थी
नहीं अब रह गयी है ।"[1]

कवि के अनुसार वायवी कल्पनाओं और भावनाओं का उपयोग ही नहीं है, क्योंकि वे युग के यथार्थ और सत्य से टक्कर लेकर गायब हो गये हैं । यथार्थ से पलायन करके, वायवी कल्पनाओं में चरने की आत्म-प्रवंचना भी अब अप्रत्यक्ष हो गयी है ।

काव्य और समाज तो बच्चनजी की दृष्टि में इतना निकट संबन्ध रखनेवाले है कि काव्य क्रान्ति का भी प्रेरक है -

---

1. "दो चट्टाने तथा अन्य कविताएँ" (बच्चन) - पृ: 55.

"सृजन आज का विद्रोही है ;
जिस साँचे में ढलकर
वह बाहर आता है
उसको तोड दिया करता है,
सत्य आज का मरण - वरण कर
बार-बार
जिया करता है ।"[1]

कवि को सामयिक परिवर्तन की ओर दृष्टिपात करने में सफल होना चाहिए । आज का सृजन इतना विद्रोही है कि वह अपनी समस्त परंपरा और परंपरागत ढाँचे को तोडना चाहता है । आज का सत्य तो मरण स्वीकार करता है, बार बार जीना चाहता है ।

समाज में पुरानी जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं को दूर कर नवीनता की स्थापना करना, बच्चन के अनुसार, कलाकार का कर्तव्य है -

"कलाकार के नाते
जो प्रार्थना
मैं सबसे अधिक दुहराता हूँ
वह यह है
मेरी आँख
नये के प्रति
निरन्तर सजग रहे ।"[2]

---

1. "दो चट्टानें तथा अन्य कविताएँ" (बच्चन) - पृ: 84.
2. वही - पृ: 159-160.

बच्चनजी सृजन के क्षेत्र में नवीनता के प्रति इतना आग्रह रखते हैं कि कलाकार के लिए नवीनता का आकर्षण वे एक अनिवार्य गुण मानते हैं । इस गुण की प्राप्ति के लिए वे प्रार्थना भी करते हैं ।

"क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" में वे कला के संहार और नये सृजन की क्षमता के बारे में कहते हैं -

"कला की एकमात्र दुनिया ऐसी है कि यहाँ बिना संहार किये निर्माण करना संभव है । यहाँ का संहार ही, वास्तव में सशक्त सृजन है । नया सशक्त सृजन अपने आप ही जीर्ण, शीर्ण, काल-भुक्त पुरातन की अनुपयोगिता, अनावश्यकता सिद्ध करता आया है ।"[1]

भौतिक क्षेत्र का संहार और कलात्मक संहार में यही अन्तर है कि कलात्मक संहार सृजन का ही दूसरा रूप है । जीर्ण-शीर्ण, भुक्त पुरातन की अनुपयोगिता सिद्ध करने में नया सशक्त सृजन सक्षम है ।

शब्द

"शब्दों में जो भाव मचलते
उनपर क्या वश मेरा,
अपने को ही बहलाना है तो गा लूँ ,
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूँ ।"[2]

कवि जान-बूझकर शब्द प्रयुक्त नहीं करता । बल्कि शब्द स्वयं आ जाते हैं । उनपर कवि का वश नहीं । कवि गाना तो गाता है लेकिन उसमें उनका अपना कुछ नहीं है । शब्दों और भावों का संबन्ध, बच्चन की दृष्टि में स्वाभाविक है -

---

1. "क्या भूलूँ, क्या याद करूँ" (बच्चन) - पृ: 309.
2. "मिलन यामिनी" (बच्चन) - पृ: 141.

"भाव बन्दी हो गया,
वह तो नदी है ।
बाढ में उसके बहा जो
डूबता है ।"[1]

भाव तो नदी या बाढ के समान हम सबकों डूबा देता है । उसका बंध्न, सौन्दर्य को नष्ट कर देता है ।

छन्द

छन्द की परंपरागत कल्पना के अलावा बच्चनजी उसके सौन्दर्य-पक्ष पर बल देते हैं -

"छन्दों में जो लय लहराती
वह पदचाप तुम्हारी,
पायल की रुनझुन पर मेरा
राग मुखर बलिहारी ।"[2]

छन्द की लय में बच्चनजी काव्य-नर्तकी की पदचाप सुनते हैं । उसकी पायल की ध्वनि में कवि अपना राग बलि चढाते हैं ।

---

1. "बुद्ध और नाचघर तथा अन्य कविताएँ"- (बच्चन) - पृः 114.
2. "मिलन यामिनी" - वही - पृः 141.

श्री रामधारी सिंह "दिनकर"

छायावादोत्तर-काल में श्री रामधारी सिंह "दिनकर" की कविता ने हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में अमूल्य स्थान पाया था । कल्पना और विचार के समन्वय से स्वस्थ कविता की एक नयी भूमि उन्होंने तैयार की । "मिट्टी की ओर", "शुद्ध कविता की खोज", "काव्य की भूमिका" आदि गद्य-रचनाओं के द्वारा दिनकर ने साहित्य के संबन्ध में अपने मत प्रकट किये हैं । कविता और कला-संबन्धी ऐसे विचार उनकी कविपय कविताओं में भी ज़रूर मिलते हैं । उनका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है ।

कविता का उद्देश्य

क्या कविता का कोई उद्देश्य है, इस विषय पर अनादि काल से लेकर चिन्तकों ने विचार किया है । भारतीय आचार्यें के ऐसे विचार विभिन्न "संप्रदायों" के अन्तर्गत निरूपित हुए हैं । दिनकर की दृष्टि काव्य के उद्देश्य के बारे में बहुत कुछ भारतीय आचार्यों के मत से मिलती-जुलती है ।

"तुम क्यों लिखते हो" शीर्षक कविता में कवि अपना संदेह प्रकट करता है कि काव्य का उद्देश्य वास्तव में क्या है -

> "तुम क्यों लिखते हो ? क्या अपने अन्तरतम को
> औरों के अन्तरतम के साथ मिलाने को ?
> अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
> जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को ?"[1]

---

1. "नील कुसुम" (दिनकर) - पृ: 49.

कवि क्या इसलिए लिखता है कि अपने अन्तर्जगत् का दूसरों के अन्तर्जगत् से तादात्म्य पा सके । या शब्दों की पोशाक पहन कर जग से अपना रूप क्या कवि छिपाना चाहता है? यहाँ कवि संदेह करता है कि काव्य का लक्ष्य समष्टि से तादात्म्य है या पलायन है?

यह तो एक मानी हुई धारणा है कि कविता की सार्थकता तभी होती है जब वह पाठक तक संप्रेषित होती है । "चक्रवाल" की भूमिका में दिनकर का कथन है –

"लिखना ऐसी प्रक्रिया है जिसमें लेखक और पाठक दोनों भाग लेते हैं । लेखक लिखता है, किन्तु अपने जानते वह जिन पाठकों के लिए लिखता है, उनकी रुचि लेखक को बहुत दूर तक प्रभावित करती है ।"[1]

अर्थात् रचना- प्रक्रिया एकपक्षीय कार्य नहीं है । कवि को अपने पाठकों की अन्तश्चेतना से एकात्म होना चाहिए ।

"काव्य की भूमिका" में भी ऐसी मान्यता प्रकट होती है – "अच्छी कविता की पहचान यह है कि उसे पढकर मनुष्य के हृदय में एक प्रकार की बेचैनी या जागृति स्फुरित होती है और उसका मन भीतर ही भीतर किसी यात्रा या पर्यटन पर निकल पडता है ।"[2]

अर्थात् अच्छा काव्य पाठक के हृदय को बहुत प्रभावित करता है । पाठक का मन कवि के साथ ही साथ पर्यटन करता है ।

और एक जगह काव्य के इस प्रभाव को दिनकर कुछ अलौकिक अर्थ में देखते हैं –

---

1. "चक्रवाल" (दिनकर) – पृ: 57.
2. "काव्य की भूमिका" – वही – पृ: 1.

"कविता ज्ञान के लिए नहीं पढी जाती है । कविता हम पढते हैं आन्दोलित होने को, आवेश में आने को और वस्तुओं के उस रूप का साक्षात्कार करने को जो रूप न तो चर्मचक्षुओं से दिखाई देता है, न जिसका आख्यान ही कोरे तर्कों द्वारा किया जा सकता है ।"[1]

कविता का प्रभाव ऐन्द्रिय तल से परे है जो तर्कों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता । कविता एक आन्दोलन या आवेश प्रदान करता है जो लौकिक तल के ऊपर है ।

काव्य के द्वारा दिनकर "अगेय-गेय-संगम" पर पहुँच जाना चाहते हैं -

"पहुँच अगेय गेय संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय,
फूट रहा जो सत्य सनातन
कविर्मनीषी के स्वर - स्वर से ।

गीत बनी जिनकी झाँकी,
अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन ।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वप्न का श्रोता मन ।"[2]

दिनकर जी अगेय और गेय के संगम पर पहुँचना चाहते हैं । कवि मनीषी है जो सनातन सत्य उद्घाटित करता है । गायक के गीत में अगेय स्वप्न का अंजन है । यहाँ दिनकरजी यही सूचित करते हैं कि कवि का लक्ष्य लौकिक सीमा से परे है । "मिट्टी की ओर" में वे इस अदृश्यता को काव्य का लक्ष्य मानते हैं -

---

1. "काव्य की भूमिका" (दिनकर) - पृ: 117.
2. "चक्रवाल" - वही - पृ: 125.

"सफल कवि दृश्य और अदृश्य के बीच का वह सेतु है जो मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है ।"[1] अर्थात् कवि दृश्य को अदृश्य से जोडने में सहायक होता है या मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है । अन्य शब्दों में इसी बात को वे यों कहते हैं -

"कला सुन्दर के साथ सत्य भी होती है और सत्य के साथ उपयोगी भी , अन्यथा इसका अस्तित्व ही विलीन हो जाय । कोई भी कला तब तक पूजनीय नहीं हो सकती जब तक वह मनुष्य की आत्मा पर कोई स्थायी प्रभाव न डालती हो ।"[2]

यहाँ भी दिनकरजी कला को सत्य पर अधिष्ठित मानते हैं । मनुष्य की आत्मा पर स्थायी प्रभाव डालना ही उसका आत्यन्तिक लक्ष्य है ।

कविता की श्रेष्ठता

दिनकरजी ने अपनी कविताओं और निबंधों में काव्य की श्रेष्ठता और महत्व के बारे में बार बार बल दिया है । "नर्तकी" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"कला आनंद की स्रोतस्विनी, इस स्रोत के पीछे
बहुत से फल होंगे, दूब होगी, चाँदनी होगी ।"[3]

कला में आनन्द का अक्षय स्रोत है । फूल, चान्दनी, दूब आदि से भरा हुआ समस्त प्राकृतिक वैभव इस कलात्मक आनन्द के आधार हैं -

---

1. "मिट्टी की ओर" (दिनकर) - पृ: 42.
2. वही - पृ: 41.
3. "नील कुसुम" - वही - पृ: 29.

"उर्वशी" की भूमिका में श्रेष्ठ कविता को भौतिकोत्तर सौन्दर्य पर आधारित बताया है । "कला, साहित्य और विशेषतः काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा अखण्ड है । फिर भी श्रेष्ठ कविता, बराबर भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, फिज़िकल को लाँघ कर मेटा-फिज़िकल हो जाती है ।"[1]

दिनकरजी कला और साहित्य में भौतिक सौन्दर्य की पूरी अवहेलना नहीं करते हैं । लेकिन जब भौतिक सौन्दर्य से ऊपर उठने की क्षमता काव्य को मिलती है तभी वह श्रेष्ठ कविता कहने योग्य हो जाता है ।

उनकी दृष्टि में कविता कवि की आत्मा से निःसृत होती है -

"कवि की अनुभूतियाँ और कवि के ज्ञान जीवन के तपस्या-कुंज से आते हैं । कविता और कुछ नहीं होकर कवि की आत्मा का प्रस्वेद होती है ।"[2]

कवि को दिनकर तपस्वी के समान मानते हैं । कवि अपनी तपस्या से जो अनुभूतियाँ प्राप्त करता है, जो ज्ञान पाता है, उसे वाणी देता है । इसलिए कविता उसकी आत्मा का प्रस्वेद ही है ।

"उर्वशी" की कुछ पंक्तियाँ इससे मिलती - जुलती हैं -

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्यों कि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है ।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं,
चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है,
वह सूझों से नहीं, पत्र-पाषाणों में आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रूधिर से ।"[3]

---

1. "उर्वशी" (दिनकर) - पृः ङ.
2. "काव्य की भूमिका" - वही - पृः 141.
3. "उर्वशी" - वही - पृः 55.

दिनकरजी की राय में बुद्धि या ज्ञान की अपेक्षा रक्त, अर्थात् अनुभव की महत्ता है । चित्र, प्रतिमा आदि कला-निर्मितियों में कलाकार की आन्तरिक वेतना ही प्राण भर देती है ।

और एक जगह भी वे इसी बात को स्पष्ट करते हैं -

"वपु तो केवल ग्रन्थ मात्र है, क्या हो काय-मिलन से ?
तन पर जिसे प्रेम लिखता, कविता आती वह मन से ।"[1]

जीवन तभी सार्थक होता है जब उसमें प्रेम का काव्यमय संगीत उभरता है । वही काव्य की भी श्रेष्ठता है ।

इसलिए कविता नियम के अधीन नहीं है । "मिट्टी की ओर" में वे लिखते हैं -

"सच्ची कविता किसी नियम को मानकर लिखी
नहीं जा सकती । यह किसी के वश की चीज़ नहीं है ।"[2]

नियम के अनुसार जब कविता रची जाती है तब वह कविता नहीं रह जाती है । सच्ची कविता नियमों या शास्त्रों के बंधनों से उन्मुक्त है ।

काव्य में वे भगवान का निवास मानते हैं -

"अक्षर चाहे जो भी उगें,
कलम के भीतर
भगवान मौजूद रहते हैं ।"[3]

सच्ची कविता में परम सत्य स्वरूप ईश्वर का सान्निध्य होता ही है । लेकिन वे जानते हैं कि कविता सबसे बडी नहीं है । फिर भी वह एक अच्छा वरदान तो है ।

---

1. "उर्वशी" (दिनकर) - पृ: 36.
2. "मिट्टी की ओर" - वही - पृ: 41.
3. "संचयिता" - वही - पृ: 155.

"कविता सबसे बडा तो नहीं,
फिर भी अच्छा बरदान है,
मगर मालिक की अजब शान है,
जिसे भी यह वरदान मिलता है
उसे जीवन-भर पहाड ढोना पडता है ।
एक नेमत के बदले
अनेक नेमतों से हाथ छोना पडता है ।"[1]

कविता चुने हुए व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाला एक वरदान है । इस वरदान की यह विशेषता है कि इसको पाने पर जीवन-भर संघर्ष करना ही पडता है ।

कवि का महत्व

दिनकर ने कविता के समान ही उसके स्रष्टा कवि को भी महत्व दिया है । कवि तपोनिष्ठ साधक है जो काव्य-सृष्टि रूपी तपस्या में लीन है - कवि का आदर समाज की उन्नति के लिए अनिवार्य मानते हैं -

"कवि कोविद, विज्ञान - विशारद, कलाकार, पण्डित, ज्ञानी,
कनक नहीं, कल्पना, ज्ञान उज्जवल चरित्र के अभिमानी,
इन विभूतियों को जब तक संसार नहीं पहचानेगा,
राजाओं से पूज्य जब तक न इन्हें वह मानेगा,
तब तक पडी आग में धरती, इसी तरह अकुलाएगी ।"[2]

इसका तात्पर्य यही है कि कल्पना और ज्ञान की विभूतियों के धनी, पण्डित या कलाकार का जब तक उचित सम्मान न होता तब तक धरती दुःखी होगी । कवि सभी शास्त्रों के पंडित और ज्ञान का सागर और उज्जवल चरित्रवाला है । वह राजाओं से भी पूज्य है । इनका सम्मान न होने पर धरती का विनाश ही होगा ।

---

1. "संचयिता" (दिनकर) पृः 156
2. "रश्मि रथी" - वही - पृः 15.

"रश्मि लोक" में दिनकरजी कवि को सुरतरू के समान मानते हैं -

"रच फूलों के गीत मनोहर, चित्रित कर लहरों के कंपन,
कविते । तेरी विभवपुरी में स्वर्गिक स्वप्न बना कवि-जीवन ।
छाया सत्य चित्र बन उतरी, मिला शून्य को रूप सनातन,
कवि-मानस का स्वप्न भूमि पर बन आया सुरतरू-मधु-कानन ।"[1]

कविता का साम्राज्य फूलों-जैसे मनोहर गीतों से भरा है जहाँ लहरों का कंपन सुनाई पडता है । कविता की इस विभव पुरी का स्वर्गिक स्वप्न है कवि-जीवन । यहाँ छाया भी सत्य बन जाती है, शून्य को भी सनातन रूप मिलता है । कवि मानस का स्वप्न ही भूमि पर सुरतरु बन आता है ।

दिनकर के अनुसार कवि जीवन मधुर ही नहीं, सुकुमार भी है -

"मधुर कविता आँसू से भरी,
विपंची की रोती झंकार ।
मधुर है अन्तराल की जलन
मधुर है कवि-जीवन सुकुमार ।"[2]

आँसू से भरी हुई कविता मधुर है जिसमें विपंची की रोती झंकार सुनाई पडती है । कवि के अन्तस्तल की जलन भी मधुर है । माधुर्य से ओत-प्रोत यह कवि-जीवन सुकुमार भी है ।

कभी कभी उनको लगता है कि कवि कर्मठता का प्रतीक भी है ।

---

1. "रश्मि लोक" (दिनकर) पृ: 16.
2. "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ" - वही - पृ: 96.

"कवि का ही दृष्टान्त दिया क्यों? निखिल महीमंडल में
कवि प्रतीक है उस अजस्र, मनमोहक कर्मठता का

कवि हो रहता जिस प्रकार एकान्त लीन रचना में
किसी लाभ के लिए नहीं, केवल अदृश्य में धँसकर"[1]

समस्त संसार में, कवि कर्मठता का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है । क्यों कि अदृश्य में लक्ष्य करता हुआ, कवि रचना में एकाग्र रहता है जिसके पीछे कोई कामना नहीं है । कलाकार की इस एकान्त लगन की वे बार बार प्रशंसा करते हैं ।

"कला कर्म का चरम रूप है, जिस एकान्त लगन से
कलाकार अपनी रचनाओं में खोया रहता है,
वही आत्म-विस्मृति मिलती है कहाँ अन्य कर्मों में?
और मिले, तो वह मनुष्य भी श्रमिक नहीं, स्रष्टा है ।"[2]

दिनकर की राय में, कला कर्म का चरम उत्कर्ष है । कलाकार रचना में इतना तल्लीन है कि वह आत्म विस्तृत हो जाता है । ऐसी तल्लीनता और किसी भी कर्म द्वारा प्राप्त नहीं है । अगर प्राप्य है तो वह मनुष्य भी स्रष्टा के पद तक पहूँचता है ।

कवि को दिनकरजी त्याग का प्रतीक मानते हैं । उसे सब कुछ देना है, चाहे कुछ मिले या नहीं । "नील कुसुम" में वे लिखते हैं -

---

1. "शुद्ध कविता की खोज" - दिनकर - पृ: 263.
2. वही - पृ: 264.

"जाओं कवि, जाओ मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है ।
चुन चुनकर हम तोडते वही टहनी केवल
जिसपर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है ।

कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है ।"[1]

अर्थात् कवि अन्य दानियों के समान ही त्याग की मूर्ति है । उसे किसी से भी कुछ नहीं मिलता है । संसार की यही रीति है कि दानी को हमेशा त्यागी रहना पडता है । कवि संसार को अपने निष्कपट गीत देकर संतृप्त हो जाता है ।

प्रायः कवि के बारे में धारणा है कि कवि स्वप्नजीवी होता है । लेकिन दिनकरजी इस गलत धारणा का विरोध करते हैं । उनकी दृष्टि में कवि संसार में शक्ति का वाहक है ।

"मैंन बोला, किन्तु मेरी, रागिणी बोली,
चाँद । फिर से देख, मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?
मैंन वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और इस पर नीव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ ।"[2]

---

1. "नील कुसुम" (दिनकर) - पृः 34.
2. "सामधनी" - वही - पृः 15.

कवि चाँद से अपनी शक्ति के बारे में बताता है । कवि की कल्पना कोरे स्वप्न नहीं हैं । बल्कि उनमें आग की - सी ज्वाला धधकती है । कवि स्वप्नों को आग में गलाकर लोहा बनाता है । इसी दृढ आधार पर नये घर की नीव रखता है ।

कवि के मन में जो द्वन्द्व चलता है उसके बारे में दिनकर ने एक कविता में लिखा है -

"कवि के मन में देवता और प्रेत दोनों बसते हैं ।
प्रेत जब कलम में घुसकर कविता लिखता है, देवता हँसते हैं ।
देवता की राह हिंसा नहीं
अहिंसा की राह है ।

लेकिन प्रेत कहता है,
जीवन से युद्ध करो,
मारो, मारो, इंद्रियों को मारो
और अपने को शुद्ध करो ।"[1]

कवि का अन्तर्जग एक बडे संघर्ष का स्थान है । वहाँ देवता और प्रेत का एक साथ अधिकार है । जब प्रेत कवि की लेखनी पर अपना स्थान पाता है तो देवता उसकी हँसी उडाता है । क्योंकि प्रेत जीवन से युद्ध करने का आह्वान देता है तो देवता अहिंसा के पथ पर चलना चाहता है ।

दिनकरजी मानते हैं कि कवि स्वतंत्र चिन्तन करनेवाला है । आँख बन्दकर दूसरों की बात नहीं मानता ।

---

1. "संचयिता" (दिनकर) - पृ: 150.

"कवि हो कि नेता हो कि छात्र हो,
या कि ठेला हाँकता हो, करुणा का पात्र हो ,
एक बात में सभी समान हैं,
दूसरों की बात पै न देते कभी कान है ।"[1]

कवियों में कोई नेता होता है, कोई छात्र होता है, कोई ठेला हाँकनेवाला होता है । इस प्रकार कवियों में जीवन के स्तर में तरह तरह की भिन्नताएँ होती हैं । लेकिन उन सब में स्वतंत्र चिन्तन की दृष्टि से एकता होती है । कोई भी कवि किसी दूसरे के चिन्तन पर ध्यान नहीं देता ।

क्योंकि कवि की सृष्टि उसकी वैयक्तिकता की छाप से ही महान होती है । "रश्मि लोक" की भूमिका में इस मौलिक देन की बात दिनकर व्यक्त करते हैं -

"छन्द, शब्द, प्रयोग, अर्थ, रस और अलंकार का निर्वाह कर देना काफी नहीं है । प्रत्येक कविता पर कवि की वैयक्तिकता की छाप होनी चाहिए । कवि कहलाने का अधिकार उसे प्राप्त होता है, जो प्राचीन और समकालीन, सभी कवियों से भिन्न है, जिसने अपने लिए कोई ऐसा रास्ता निकाला है, सभी रास्तों से कुछ न कुछ अलग है, जिसकी आवाज़ दूसरों की आवाज़ों में मिलकर लुप्त नहीं हो सकती ।"[2]

काव्य के आवश्यक तत्वों के अलावा कवि की वैयक्तिकता भी काव्य में महत्वपूर्ण है । प्रत्येक कवि को अपना एक रास्ता बनाने की क्षमता होनी चाहिए । दूसरों की आवाज़ में लुप्त होने के बदले, उसकी आवाज़ अपनी विशिष्टता के साथ विशेष, अलग सुनाई पडती है । तभी कवि कर्म सार्थक होता है ।

---

1. "परशुराम की प्रतीक्षा" (दिनकर) - पृ: 63.
2. "रश्मि लोक" वही - पृ: ए (भूमिका).

दिनकरजी यह भी मानते हैं कि काव्य रचना के समय कवि अहं-बोध से मुक्त होकर एक प्रकार की समाधि का अनुभव करता है ।

"कविता में एक स्थिति वह भी आती है, जब कवि को अपने अहं का लोप करना पडता है अथवा समाधि की स्थिति में देर तक टिके रहने से कवि के अहं का आपसे आप लोप हो जाता है ।"[1]

जिस प्रकार योगी की आत्मा शरीर-मन और बुद्धि से परे समाधि की स्थिति में लीन होती है उसी प्रकार कवि भी सब कुछ भूलकर एक साधि में लीन हो जाता है । यही स्थिति श्रेष्ठ कविता के उद्‌भव का आधार है ।

कवि की कविता का आधार कवि के हृदय के रस का स्रोत है -

"कवि के अन्तर में जब तक रस का स्रोत बह रहा है, जब तक हृदय की कोंपल जीवन अथवा प्रकृति के रस ग्रहण करने की ओर चैतन्य है तब तक बहाना मात्र से उसकी प्रतिभा चमत्कार दिखलाती रहेगी । काव्य भी कवि के हृदय से ही आता है, बाहर से नहीं ।"[2]

कवि की प्रतिभा तभी उत्तरोत्तर उज्ज्वल होगी जब कवि का हृदय रस से आप्लावित होता है और उसमें जीवन और प्रकृति से रस ग्रहण करने की भी शक्ति होती है ।

कवि और समाज

दिनकरजी कवि को समाज के विकास के लिए काम करने को बाध्य मानते हैं । समाज के प्रति कवि का उत्तरदायित्व व्यक्त करनेवाली कई कविताएँ हैं -

---

1. "रश्मिलोक" (दिनकर) - पृ: - त-थ
2. "मिट्‌टी की ओर" - वही - प: 112.

"नंदन-निकुंज में तो ज्वाल जलती है आज,
कैसे दे रहे हो श्रेय कंज-कमलेश को ?
मूलक्षय होता जा रहा है तरू का सदैव,
सींच सींच पाओगे क्या शाखा पत्र-देश को ?
शेष न शरीर में है रक्त-मांस का भी लेश,
सुन्दर बनाते हो क्या खाक निज वेश को ?
काव्य का सँवार लेना सुभग स्वतंत्रता में,
आओ, आज मिलकर संभाल ले स्वदेश को ?"[1]

देश-रूपी नंदन-वन आज जल रहा है । वृक्ष और पेड पौधे आग से सूख रहे हैं । इस स्थिति में सौन्दर्य के जगत् में कवि कैसे बंधे रह सकेगा ? जब शरीर रक्त-मांस के बिना निर्जीव होता है तो उसकी साज-सजावट करने से क्या फायदा होती है ? इसलिए कवि को आज स्वदेश के लिए अपना कर्तव्य निभाना चाहिए ।

"कवि और समाज" नामक कविता में समाज की जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं पर वे आग लगाना चाहते हैं ।

"गीतों से फिर चट्टान तोडता हूँ साथी,
झुरमुटें काट आगे की राह बनाता हूँ ।
है जहाँ-तहाँ तमतोम सिमट कर छिपा हुआ,
चुन चुन कर कुंजों में
आग लगाता हूँ ।"[2]

---

1. "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ" (दिनकर) - पृ: 76.
2. "नील कुसुम" - वही - पृ: 79.

समाज की चट्टानों जैसी रूढियों और जर्ण-शीर्ण मान्यताओं को कवि अपने आग-भरे गीतों से तोड डालता है । कहीं कहीं कुंजों के समान जटिल कुरीतियों और विसंगतियों पर कवि अपनी ओजमय वाणी से आग लगाता है ।

दिनकरजी "प्रलय का उन्माद" लिए चलना चाहते हैं -

"अरे उर्वशीकार ।
कविता की गरदन पर धर कर पाँव खडा हो ।
हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,
अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बडा हो ।"[1]

काव्य-महिमा के बंधनों में पडे हुए न रहकर उससे आगे बढना कवि का लक्ष्य है । प्रलय के गीत गाकर कवि ही जन-हृदय में उन्माद भर सकता है ।

इसीलिए दिनकरजी कवियों को राजमहल छोडकर खेतों में जाने का उपदेश देते हैं -

"कवि । असाढ की इस रिमझिम में
घन खेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो ।
दुःखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हुलसाने दो ।"[2]

आषाढ की रिमझिम में कृषक-सुन्दरी को गीत गाने की प्रेरणा देनी चाहिए । हमेशा जीवन में दुःख-भार झेलनेवालों में दुःख भूलकर उत्सव मनाने की क्षमता हो । वे खेतों में हर्षायि, खलिहानों में रोना पडेगा ।

---

1. "परशुराम की प्रतीक्षा" (दिनकर) - पृः 49.
2. "रश्मिलोक" - वही - पृः 9.

"कस्मै देवाय" शीर्षक कविता में सभी आडंबरों पर वे आग लगाना चाहते हैं -

"क्रान्ति-धात्रि कविते । जागे, उठ आडंबर में आग लगा दे,
पतन, पाप, पाषंड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ।"[1]

उनकी राय में कविता क्रान्ति की धात्रि है । उसको जाग उठने और आडंबरों पर आग लगाने का समय आ गया है । काव्य से निकली क्रान्ति की आग से पतन, पाप, पाषंड सब जलें और जगत में मंगल हो जाय ।

युग की प्रतिच्छाया साहित्य में मिलती है । काव्य की भूमिका में युग-चेतना को दिनकरजी काव्य का उत्तम लक्षण मानते हैं ।

"ऊँची कविताओं का एक अन्य लक्षण यह भी है कि जिस युग में उनकी रचना की जाती है, उस युग की शीतलता अथवा दाह का प्रमाण उनके भीतर मौजूद रहता है ।"[2]

युग का वातावरण चाहे शीतल हो या ज्वलित हो, उसका प्रभाव काव्य पर पडता है । क्योंकि काव्य युग की आन्तरिकता को पहचानकर ही सफल होता है ।

कविता और विज्ञान

कवि दिनकर काव्य पर विज्ञान का प्रभाव देखते हुए यह मानते हैं कि आजकल कविता का वह पुराना रूप नष्ट हुआ है । विज्ञान ने कृत्रिमता और तर्क-बुद्धि से विश्व को विकल किया है । एक जगह वे लिखते हैं -

---

1. "चक्रवाल" (दिनकर) - पृ: 19.
2. "काव्य की भूमिका" - वही - पृ: 2.

"कहाँ आज वह जग का स्वर्ण - विहान है?
जगत प्रकृति से दूर नित्य जाता चला ।
विश्व विकल है कृत्रिमता की मार से ।
अरे क्रूर विज्ञान । तुम्हारा नाश हो ।

कलित कल्पना पंखहीन - सी है पडी,
भावुकता का राग कौन सुनता अरे?
जन-समाज की आँखों पर बस तर्क का
बिछा हुआ सुविशाल एक भ्रम-जाल है ।"[1]

कवि के मन में गहरा दुःख होता है कि जग का स्वरूप ही बदल गया है । स्वर्ण-विहान तो यहाँ से गायब हो गये हैं । जगत आज प्रकृति से बहुत दूर हुआ है । इसलिए कृत्रिमता की बोझ से यह संसार विकल हो गया है । यह सब विज्ञान की क्रूरता का परिणाम है । आज तो कल्पनाओं के पंख नहीं है, भावुकता का राग कोई नहीं सुन पाता, जन-समाज की आँखों में केवल तर्क का भ्रम-जाल ही बिछा हुआ है । सौन्दर्य और कल्पना के ऊपर तर्क और विज्ञान के आधिपत्य को देखकर कवि का दिल मानो टूटने लगता है ।

"काव्य की भूमिका" में उन्होंने इसके बारे में विचार किया है ।

"कविता और विज्ञान एक दूसरे के प्रतिलोम हैं । कवि की महत्ता आविष्ट होकर बोलने में है, किन्तु वैज्ञानिक आवेश में आ जाय तो उसकी स्थापनाओं के प्रति श्रोता को शंका होने लगेगी । विज्ञान में जो शब्द प्रयुक्त होता है, वह केवल एक ही निर्दिष्ट अर्थ देता है, किन्तु कविता में आये हुए शब्द अनेक अर्थों की ओर संकेत करते हैं ।"[2]

---

1. "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ" (दिनकर) - पृः 71.
2. "काव्य की भूमिका" - वही - पृः 85.

दिनकरजी की राय में कविता और विज्ञान तो एक दूसरे के बहुत विपरीत हैं । कवि के वक्तव्य हमेशा वैज्ञानिकों के लिए अस्वीकार्य होते हैं । विज्ञान में जहाँ शब्दों की निश्चित सीमा होती है वहाँ काव्य में शब्दों के अर्थ की सीमा विशाल होती है । इसलिए दोनों को हमेशा एक दूसरे से टकराना पडता है ।

भावुकता

वे भावुकता का उचित उपयोग कविता के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं । "मिट्टी की ओर" में वे इसके बारे में लिखते हैं -

"कल्पना कविता की बहुत बडी शक्ति है, पर वह उसका सब कुछ नहीं हो सकती ।"[1]

कल्पना का अतिशय प्रयोग, दिनकरजी उचित नहीं है । लेकिन वे उसकी उपेक्षा भी नहीं करते । कल्पना और भावुकता के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण वे अपनाते हैं ।

"कविता" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"मेरे मानस के प्रदेश में
उठता भावों का तूफान ।
उर का बाँध तोड बहती
कविता बन भावुकता अनजान ।"[2]

---

1. "मिट्टी की ओर" (दिनकर) - पृ: 40.
2. "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ - वही - पृ: 98.

कवि के मानस में कभी कभी भावों का तूफान उठता है कभी कभी कविता हृदय का बाँध तोडकर प्रवहित होने भी लगती है । यहाँ कवि यह सूचित करता है कि ऐसे भी प्रसंग होते हैं जब कवि भावुकता के प्रवाह में स्वयं बहने लगता है ।

"शुद्ध कविता की खोज में दिनकर भावना के अंत को कविता का अंत मानते है –

"जहाँ भावना खत्म होती है, वहीं कविता का भी स्वाभाविक अन्त है ।"[1] अर्थात् भावना – रहित कविता में काव्य का अंश ही नहीं मिलता ।

लेकिन वायवी कल्पना और कोरी भावुकता की वे निंदा भी करते हैं –

"कवियो, फटे बादलों में
तुम कविता खोज रहे हो ।
किन्तु यहाँ मिट्टी पर ही
कर्मठ कवि खडा है,
जिसका चरित्र कोटि कविताओं के
निर्झर के समान
शुभ्र और उन्मेषशाली है ।"[2]

अर्थात् कवि को आकाश के बादलों के साथ भटकने से कोई फायदा नहीं होगा । बल्कि उसे मिट्टी पर खडे अपने ही भाइयों के जीवन की ओर ध्यान देना है । कर्मठ व्यक्ति का चरित्र नित्य पवित्र और उन्मेषशाली है ।

---

1. "शुद्ध कविता की खोज" (दिनकर) – पृ: 17.
2. "प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ" – वही – पृ: 112.

दिनकरजी जानते हैं कि आज के युग में कोरी भावुकता हँसी का पात्र बन जाती है । वे कहते हैं -

"सांख्यकी बढती पर है,
दर्शन की शिखा मंद हुई जाती है ।
हवा में बीज बोनेवाले हँसी के पात्र हैं,
कवि और रहस्यवादी होने की राह
बन्द हुई जाती है ।"[1]

आजकल दुनिया में सांख्यिकी आदि विषयों को ज़्यादा महत्व मिलता है । दर्शन के सिद्धान्त या कवि के स्वप्न हँसी के पात्र है । आजकल कवि या रहस्यवादी होने की इच्छा निरर्थक है ।

क्योंकि वे मानते हैं कि कभी-कभी कवि सत्य से दूर उडता है । "मिट्टी की ओर" में वे लिखते हैं कि कवि की प्रत्येक कल्पना सत्य नहीं हो सकती ।"

"अगर किसीने कवि की प्रत्येक कल्पना में सत्य का आरोप माना है, तो इस विश्वास पर कि आखिर कवि भी वस्तु-जगत् का ही जीव है और उसकी उडान का अंतिम आधार संसार ही रहेगा ।"[2]

अर्थात् कवि की कल्पना को सत्य मानने का एक कारण यह है कि कवि भी संसार में जीनेवाला है । नहीं तो, कवि की प्रत्येक कल्पना को सत्य मानकर स्वीकारने का कोई आधार नहीं है । "कविता और विज्ञान" शीर्षक कविता में स्वयं दिनकर ने कवि-कल्पना की अर्थशून्यता को स्वीकार किया है । कभी कभी उन्हें लगता है कि कविता पढकर समय खोना उचित नहीं । इसलिए वे यही उपदेश देते हैं -

---

1. "संचयिता" (दिनकर) - पृ: 158.
2. "मिट्टी की ओर" - वही - पृ: 40.

"हम रोमांटिक थे ,
हवा में महल बनाया करते थे ।
चाँद के पास हमने एक नीड बसाया था,
मन बहलाने को हम उसमें आया-जाया करते थे ।
लेकिन तुम हमसे ज़्यादा होशियार होना,
कविता पढने में समय मत खोना ।"[1]

लगता है कि दिनकर रोमांटिक कवियों को लक्ष्य करके ऐसा कहते हैं रोमांटिक कवि चाँद, हवा आदि प्रकृति के अंगों से मन बहलाते थे लेकिन आज की पीढी इससे तृप्त नहीं होगी । वह कविता पढकर समय खोने के बदले और भी उपयोगी कार्य करना चाहती है ।

वेदना

अन्य कवियों के समान दिनकरजी ने भी काव्य और वेदना का संबन्ध माना है । एक कविता में वे कवि को शोक - स्वरूप मानते हैं,

"असल में हम कवि नहीं,
शोक की सन्तान हैं ।
हम गीत नहीं बनाते,
पंक्तियों में वेदना के शिशुओं को जानते हैं ।"[2]

आदिकवि से लेकर कई कवियों ने कहा है कि कविता शोक से जन्म लेती है, यहाँ दिनकर भी उसी सत्य का समर्थन करते हैं कि कवि शोक की सन्तान हैं । कवि गीत बनाता नहीं, अपनी कविता में वेदना के शिशुओं को पैदा करते हैं ।

---

1. "संचयिता" (दिनकर) - पृ: 157.
2. वही - पृ: 178.

"रसवन्ती" शीर्षक कविता में भी वे कहते हैं कि रोना कवि का धर्म है जो नया आलोक दिखाता है -

"आँसू पर देता विश्व हृदय का कोहिनूर उपहार नहीं
रोओ कवि । दैवी व्यथा विश्व में
या सकती उपचार नहीं ।
रोओ, रोना वरदान यहाँ प्राणों का आठों याम हुआ ।
खारी लहरों पर, स्यात्, कहीं आशा का
तिरता कोक मिले ,"[1]

अपने रोने को केवल वरदान मानना चाहिए । इन आँसुओं के लिए विश्व कभी कोई उपहार नहीं देता । कवि की व्यथा पृथ्वी से परे है, जो दैवी व्यथा है । अपने रोदन को वरदान मानकर रोते ही रहना चाहिए ताकि कहीं आशा की किरण दिखाई पडे ।

"कला" शीर्षक कविता में भी दिनकरजी ने कवि की अनुभूतियों को वेदना पर आधारित माना है -

"लोग समझते रहे कि
मैं देश का दर्द गाता हूँ ।
मगर दर्द मैं ने
अपना ही गाया था ।"

लेकिन देखो, अब मेरा कितना बुरा हाल है ?
लगता है, मैं कविता नहीं लिखता,
सरापा दर्द हुआ जाता हूँ ।"[2]

---

1. "चक्रवाल" (दिनकर) - पृः 116.
2. "संचयिता" - वही - पृः 167.

अर्थात् सचमुच कवि तो देश या समाज का दर्द नहीं गाता है । बल्कि वह अपना ही दर्द गाता है । इस प्रकार दर्द की अभिव्यक्ति करते करते उसे लगता है कि वह कविता नहीं रचता, बल्कि दर्द ही बन जाता है ।

शब्द-अर्थ

"पुरानी और नयी कविताएँ" शीर्षक कविता में दिनकरजी ने पुरानी और नयी कविता की विभिन्न मान्यताओं का परिचय दिया है ।

"पुरानी कविताओं में रस है, उमंग है,
जीवन की राह वहाँ सीधी, बे - कँटीली है,
सरिताएँ जितनी हैं फूलों की छाह में है,
सागर में नीलिमा है, चंचल तरंग है ।

किन्तु नयी कविता गणेशजी का नाम लो ।
बुद्धि और कल्पना के चौक पै खडी हुई
कहती है, बुद्धि ही कशा है, इसे तेज़ रखो,
कल्पना बढे जो तो लगाम ज़रा थाम लो ।"[1]

पुरानी कविता में जीवन का सीधा रास्ता है । जिसके लिए सरिताओं, फूलों सागर और तरंगों का सौन्दर्य है । इन कविताओं में रस है । लेकिन नयी कविता शब्द और अर्थ की नयी नयी दिशाओं की ओर जा रही है । वहाँ कल्पना की अपेक्षा बुद्धि का अधिकार है ।

नयी कविता की दृष्टि में, कविता एक नया अर्थ-भरी है ।

---

1. "संचयिता" (दिनकर) - पृ: 138.

"कविता न गर्जन, न सूक्ति है ।
वीर का न घोष, न तो वाणी खर चिन्तकों की,
चौंके हुए आदमी की उक्ति है ।

कविता न पूर्ति है, न माँग है ।
सीढियाँ, नहीं कि हरेक पाँव सीधा पडे,
"लाँजिक" नहीं है, य" छलांग है ।

अर्थ नहीं, काव्य शब्द-योग है ।
वासना का कीर्तन नहीं है, खुद वासना है,
रागों का य' कागज़ी बखान नहीं, भोग है ।"[1]

दिनकरजी की राय में कविता एक चौंके हुए आदमी की उक्ति है । वह न तो गर्जन या न सूक्ति है, न वीरों का घोष है । वह पूर्ति या माँग नहीं है बल्कि छलांग मारने के समान है । इतना ही नहीं, वे यह भी मानते हैं कि काव्य में अर्थ नहीं, शब्दों का योग ही होता है । वासना की अभिव्यक्ति तो काव्य नहीं होती, काव्य तो स्वयं वासना ही है । रागों का वर्णन नहीं बल्कि काव्य स्वयं रागों का भोग है ।

इस प्रकार शब्द-अर्थ का एक नया संबन्ध दिनकरजी यहाँ स्थापित करते हैं ।

छन्द

छन्द के बारे में दिनकर की राय निश्चित है । वे कविता के लिए छन्द को अनिवार्य मानते हैं - "मिट्टी की ओर" में वे लिखते हैं -

---

1. "संचयिता" (दिनकर) - पृ: 139.

"मेरे जानते, छन्द काव्य-कला का सहायक नहीं,
बल्कि, उसका स्वाभाविक मार्ग है । गद्य हमें
स्थूल अथवा जीवन की एकरसता की तरफ खींचता
है, इसके प्रतिकूल छन्द, संगीत की तरह, हमारी
कोमल एवं सूक्ष्म प्रवृत्तियों को जागृत करता है ।"[1]

छन्द को कवि काव्य का स्वाभाविक अंग मानते हैं । गद्य में जीवन की एकरसता है तो कविता में छन्द हमारी सूक्ष्म वृत्तियों को मधुर जागरण की अनुभूति देता है ।

और एक जगह भी दिनकरजी छन्द की महिमा बताते हैं -

"छन्दों की महिमा सर्वविदित है । छन्द के कारण काव्य चेतना दैनिक जीवन के धरातल से ज़रा ऊपर उठ जाती है । छन्दों का गुण है कि वास्तविकता का वर्णन करनेवाली कविता पर भी वे अवास्तविकता का किंचित् रंग छिडक देते हैं ।"[2]

अर्थात् काव्य में छन्द का इतना महत्व है कि उसके कारण काव्य में एक प्रकार का उत्कर्ष महसूस होता है । उसमें एक अलौकिक आभा दिखाई देती है ।

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावादोत्तर काल के प्रथम चरण में आनेवाले - इस काल को हम संक्रान्तिकाल भी कह सकते हैं - नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे प्रतिनिधि कवियों की काव्य कृतियों में काव्य चिन्तन के तत्व पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । इनमें अपनी कविताओं में बच्चन और दिनकर जैसे कवियों ने काव्य के विभिन्न पक्षों और तत्वों पर प्रौढ विचार प्रकट किये हैं । उनके सारस्वत व्यक्तित्व का एक विशिष्ट रूप - काव्य मर्मज्ञ विचारक आलोचक का रूप - उनकी काव्यसंकलन में भी उद्घाटित होता है, यह ध्यातव्य है ।

---

1. "मिट्टी की ओर" (दिनकर) - पृ: 113-114.
2. वही - पृ: 98.

अध्याय - चार

प्रगतिवादी कविता में काव्य-चिन्तन

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में छायावादी काव्य धारा के बाद एक नई काव्य-प्रवृत्ति सशक्त हो उठी जो "प्रगतिवादी काव्य धारा" के नाम से प्रसिद्ध हुई । प्रगतिवादी कविता तत्कालीन विशेष परिस्थितियों की उपज थी जो मार्क्सवाद का व्यापक प्रभाव ग्रहण करते हुए युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति को अपना काव्य-लक्ष्य मानती थी । इसलिए इसने व्यक्ति के स्थान पर समाज, निराशा, पराजय और क्षयी रोमान्स के स्थान पर आशा और उत्साह की दिशाओं में साहित्य को गतिशील किया । पूँजीवादी शोषण के विभिन्न रूपों का समूल नाश करके वर्गहीन समाज की स्थापना करना इन कवियों का लक्ष्य था । इसलिए इसीके अनुकूल विषय चुनकर इन कवियों ने सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत रचनाएँ की ।

प्रगतिवादी कवियों ने काव्य- के विभिन्न पक्षों या तत्वों पर चिन्तन करना आवश्यक नहीं समझा । इसलिए उनकी कविताओं में काव्य संबन्धी गहरी चर्चा नहीं मिलती, जो स्वाभाविक भी । फिर भी इन कवियों की कृतियों में बीच-बीच में काव्य संबन्धी जो चिन्तन कण मिलते हैं, उनका अध्ययन आवश्यक है । प्रगतिवादी काव्यधारा के नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह सुमन - इन कवियों को प्रतिनिधि कवियों के रूप में लेकर उनकी रचनाओं में उपलब्ध काव्यपरक चिन्तन का अनुशीलन यहाँ किया जाता है ।

केदारनाथ अग्रवाल

श्री केदारनाथ अग्रवाल ने प्रगतिवादी कवियों की श्रेणी में अपना नाम अविस्मरणीय कर दिया है । प्रगतिवादी कविता में सैद्धान्तिक चर्चा और भौतिकता की नीरसता और शुष्कता मिलती है । लेकिन केदारनाथ अग्रवाल की कविता इस दृष्टि से भिन्न है । प्रगतिवादी धारा पर खडे होते हुए भी श्री केदारनाथ ने काव्य को सौन्दर्य और कल्पना का एक हल्का आवरण देकर उसे हृदयाकर्षक बनाया है । व्यापक रूप से प्रगतिवादी कवि पहले प्रचारक है बाद में कवि । लेकिन केदारनाथ की कविता में कवित्व की मिठास से लिपटी हुई प्रगतिवादिता मिलती है । अपने प्रगतिशील विचारों के साथ साथ श्री केदारनाथ ने काव्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों पर अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं । काव्य चिन्तन को व्यक्त करने में उनकी लेखनी ने बडी सफलता पायी है । उनकी काव्यकृतियों में यत्र-तत्र काव्य के तत्वों के बारे में जो स्फुट चिन्तन और उससे सम्बन्धित उक्तियाँ मिलती है, उन्हें इस प्रकार संकलित कर सकते हैं ।

रचना प्रक्रिया

काव्य की रचना प्रक्रिया बहुत सूक्ष्म है । बाह्यज्ञान और आन्तरिक ज्ञान के गुंफन से लेकर रचना की जो विभिन्न प्रक्रियायें होती हैं, उनके बारे में केदारनाथ अग्रवाल अपने काव्य संग्रह "फूल नहीं रंग बोलते हैं" की भूमिका में स्पष्ट रूप से बताते हैं । अपनी कविता की रचना किस प्रकार होती है, इसके बारे में वे यों लिखते हैं - अपने इन्द्रियबोध से मैं ने बहिर्जगत् का ज्ञान प्राप्त किया । बाहर से आया हुआ ज्ञान भीतर के ज्ञान से गुंफित होने लगा । वहाँ स्थिति शब्द-संकेत उसे मिले । वह उनसे जुड गया । जुडकर अर्थगर्भ हो गया । छन्द में शिल्पित होकर वही बाहर निकल आया । वही कविता हुआ । मेरी कविताएँ इसी रचना प्रक्रिया से उद्भूत हैं ।"[1]

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 3.

सूक्ष्म सृजनात्मक प्रक्रिया को कवि यहाँ सरल शब्दों में समझाता है । बहिर्जगत् के ज्ञान और आन्तरिक जगत् के ज्ञान के संगुफन से सृजनात्मक पीठिका तैयार होती है । फिर जब वे शब्द-संकेत पाते हैं और वे अर्थ से भी जुड जाते हैं तो अंत में छन्द में शिल्पित होने पर कविता के रूप में आ जाते हैं ।

काव्य और अनुभूति

श्री केदारनाथ अग्रवाल के अनुसार कविता कवि के व्यक्तित्व से पृथक नहीं । प्रत्येक कविता में हम कवि का अनुभूत व्यक्तित्व ही पाते हैं । लेकिन उसकी यह आत्मान्वेषिणी प्रवृत्ति तटस्थ भी है । "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" शीर्षक काव्य संग्रह की भूमिका में यह बात अग्रवाल जी ने व्यक्त की है -

"-मेरी कविताओं में मेरा अनुभूत व्यक्तित्व तो है ही । साथ ही साथ उसमें युगबोध और यथार्थ - बोध भी है । प्रत्येक कविता आत्मान्वेषिणी होते हुए भी यथार्थान्वेषिणी भी है । एक ओर वह व्यक्तित्व में भरपूर डूबी हुई है । दूसरी ओर वह व्यक्तित्व से हटी हुई तटस्थ भी है । उसकी तटस्थता उसकी सिद्धि है और वही तत्स्थता उसे मेरे व्यक्तित्व से बाहर काव्य-क्षेत्र में जीविा रखती है । वहाँ पहुँचकर वह दूसरे की हो जाती है ।"[1]

इस बात में तर्क नहीं है कि कविता में कवि का अनुभूत व्यक्तित्व ही वाणी पाता है । लेकिन वह कभी जीवन की यथार्थभूमि से मुँह फेरती नहीं । इसीलिए उसमें एक तटस्थ दृष्टिकोण आ जाता है । साधारण व्यक्ति का अनुभूत सत्य और कवि के अनुभूत सत्य में यही अन्तर है । कवि का अनुभूत सत्य, दूसरे का अनुभूत सत्य हो जाता है ।

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 3.

अपने इस अनुभूत व्यक्तित्व के प्रकाशन के बारे में कवि ने "बोले बोल अबोल" में व्यक्त किया है –

"कविताओं में जो मैं ने लिखा
उसे मैं ने
अपने में आप
और दूसरों के साथ जिया,
फिर उस जिये को
जीवन्त शब्दों से
संप्रेषित किया"[1]

जिस जीवन का अपने सहजीवियों के साथ, कवि अनुभव करता है, वही कविता में भी प्रस्तुत करता है । वह काव्य में आकर शब्दों से जीवन्त हो जाता है ।

"पंख और पतवार" की भूमिका में कवि ने कविता में आत्मनिष्ठता का विरोध करते हुए रचनाकारिता में आवश्यक तटस्थता को और भी स्पष्ट किया है ।

"कृति तभी विकृति की संज्ञा पाती है जब उसमें प्रयुक्त हुए शब्द, संकलित संस्कारों की क्षमता के संवाहक न होकर, केवल कृतिकार की निस्संग वैयक्तिकता की एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक होते हैं । ऐसी एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक शब्द अर्थवत् नहीं होते ।"[2]

कवि को शब्दों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि अतिशय आत्मनिष्ठा का एहसास न हो । जब वह मात्र कवि की निस्संग वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति करता है तो वह संप्रेषण में सफल नहीं होता ।

---

1. "बोले बोल अबोल" (केदारनाथ अग्रवाल) – पृ: 141.
2. "पंख और पतवार" – वही – पृ: 7.

कलात्मकता

श्री केदारनाथ अग्रवाल काव्य की रचना प्रक्रिया में कलात्मकता को अनिवार्य मानते हैं । प्रगतिवाद में कविता के जनतंत्रीकरण के नाम पर जो चर्चा होती है, उसको वे गलत मानते हैं क्योंकि जनतंत्रीकरण के नाम पर कविता को कलात्मक सौन्दर्य से वंचित करना निरर्थक है । कलात्मकता की इन सूक्ष्म बातों को वे यों समझाते हैं –

"कलात्मकता कोई अजनबी और आरोपित गुण धर्म नहीं है कि उसे परित्याग कर दिया जाये वही तो कृति को विकृति होने से बचाती है । वही तो सूक्ष्म संवेदनों को रूप और आकार देती है । वही तो भावनाओं और विचारों को सुंदर सजीव स्थापत्य देती है ।"[1]

कृति का कृतित्व केवल उसके भाव पर नहीं, कलात्मकता पर भी आधारित है । सूक्ष्म सेवेदनाएँ कलात्मकता से एक नया रूप लेती हैं । भावनाओं और विचारों को सुन्दर, सजीव स्थापत्य देने के लिए भी कलात्मकता अनिवार्य है ।

कविता जितनी भी जनतांत्रिक हो जाय, उसका मूल स्वभाव वह छोड नहीं सकती । कलात्मकता उसकी ऐसी एक मौलिक विशेषता है ।

काव्य–लक्ष्य

काव्य–सृजन एक आन्तरिक प्यास से उत्पन्न होता है । जब वह सृजन निभा लेता है तब उसकी यह प्यास मिटने के साथ साथ उसे एक अवाच्य रस की अनुभूति होती है । इसके बारे में केदारनाथ अग्रवाल ने संकेत दिया है –

---

1. "पंख और पतवार" (केदारनाथ अग्रवाल) – पृः 11.

"यह बाँदा है,
और यहाँ पर मैं रहता हूँ,
जीवन - यापन कठिनाई से ही करता हूँ,
कभी काव्य की कई पंक्तियाँ
कभी आठ-दस बीस पंक्तियाँ
और कभी कविताएँ लिख कर
प्यासे मन की प्यास बुझा लेता हूँ रस से"[1]

कवि बाँदा का निवासी है । वहाँ जीवन तो कठिनाई से गुज़रता है । इस यातनामय जीवन के बीच कभी जो कविताएँ रची जाती हैं, वे ही कवि के जीवन में रस का स्रोत हैं । काव्य-रस की बून्दें मन की प्यास को बुझा देने में सहायक हैं । यहाँ अपने मानसिक आनन्द या तृप्ति को ही कवि अपनी रचना के लक्ष्य के रूप में देखता है ।

काव्य की प्रेरणा

काव्य की प्रेरणा आन्तरिक चेतना है । प्रेम को वे काव्य की प्रेरणा का एक प्रबल, स्रोत मानते हैं । "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" शीर्षक काव्य-संग्रह में यत्र तत्र काव्य की प्रेरणा देनेवाले तत्व के रूप में प्रेम का चित्रण किया है -

"मार देखो
गीत टूटेगा न धन से
वह बनेगा प्राणमन से
दाह-दव में शुद्ध मन से
नेह के
नाते वचन से"[2]

---

1. "फूल नहीं रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 85.
2. वही - पृ: 104.

प्रेम और कविता का घनिष्ठ संबन्ध है । प्रेम से व्याकुल मन की सूक्ष्म, कोमल और मोहक भावनाएँ और कल्पनाएँ काव्य की भूमिका तैयार करने में विशेष प्रेरक हैं ।

यहाँ इन्होंने संकेतों से व्यक्त किया है कि प्राणमन से गति फूट पड़ता है । शुद्ध मन का स्नेह उसकी भूमिका के रूप में काम करता है ।

"नींद के बादल" शीर्षक कविता में केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता की प्रेरणा के बारे में स्पष्ट रूप से लिखा है । उसके मन में काव्य यों ही बन जाता है । प्रेम और सौन्दर्य कवि पर इतना प्रभाव डालते हैं कि उसके, अन्दर से कविता अनायास बहने लगती है । "नींद के बादल" में यही भाव अभिव्यक्त हुआ है – वे प्रेमिका से कहते हैं –

"क्यों आते हैं भाव न जिनका
मैं अधिकारी ?
क्यों आते हैं शब्द न जिनका
मैं व्यवहारी ?
कविता यों ही बन जाती है
बिना बनाए ;
क्योंकि हृदय में तड़प रही है याद तुम्हारी ।

तुम मेरी कविता को छूती
वह अनुपम हो जाती
तुम शब्दों के पंख लगाती
वह कोयल हो जाती,

तुम ऊषा के द्वार खोलती
वह फूले न समाती,
देख देख सौन्दर्य तुम्हारा
गीत तुम्हारे गाती ।"[1]

प्रेम के आवेग में बहते हुए कवि अनजाने ही ऐसे भावों का अनुभव करते हैं, जिनके वे योग्य नहीं हैं । कभी कभी उस भावोन्माद में ऐसे शब्द उनके अन्दर आते हैं जिनका उन्होंने अभी तक प्रयोग ही नहीं किया है । कवि कहता है कि प्रेमिका की याद जो हृदय में तडप रही है, वही कविता का प्रेरणा-स्रोत है । प्रेमिका का कोमल स्पर्श, उनकी राय में, कविता को अनुपम शोभा प्रदान करता है । प्रेम शब्दों को पंख देने में भी सक्षम हैं । ऊषा भी प्रेम से आनन्दित होती है । प्रेमिका का सौन्दर्य देखकर कवि स्वयं उसपर गीत गा उठता है ।

काव्य और राजनीति

कविता का युगीन परिस्थितियों से अभेद्य सम्बन्ध है । युग-बोध से रहित कविता का कोई मूल्य ही नहीं । इस प्रकार जिस युग में कवि रहता है, उस युग की राजनीति का प्रभाव उसकी कविता पर अवश्य पडता है । "पंख और पतवार" शीर्षक काव्य संग्रह की भूमिका में राजनीति से कवि का यह संबन्ध उन्होंने स्वीकार किया है -

"राजनीति के इस जीवन-व्यापी युग में कविता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती । जिन कवियों की चेतना में राजनीति ने सर्वोपरि स्थान पा लिया है और जो उससे अपने जीवन में सीधे जुडे हुए हैं, उन कवियों की कविताओं में राजनीति ही वस्तुनिष्ठता का रूप लेकर व्यक्त हुई है ।"[2]

---

1. "गुलमेहंदी" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 73.
2. "पंख और पतवार" - वही - पृ: ।।.

केदारनाथजी यहाँ यह स्थापित करते हैं कि कविता में राजनीति वस्तुनिष्ठता का रूप लेकर आती है । अब राजनीति का व्यापक प्रभाव होने के कारण कवि-चेतना स्वाभाविक रूप से उससे विशेष प्रभाव ग्रहण करती है । राजनीतिक चेतना को आत्मसात् करके कवि वस्तुनिष्ठता का आधार भी ले सकता है ।

लेकिन प्रगतिशीलता के नाम पर कविता को राजनीति के प्रचार का साधन बनाना उसके मत में उचित नहीं है । राजनीति का आधार प्रगतिशील कविता में लिया जाता है, फिर भी वह उसके बंधन से मुक्त है । केदारनाथ ने इसको यों समझाया है -

"प्रगतिशीलता का कतई यह लक्ष्य नहीं होता कि कविता कविता न रहे, नंगी-बूची हो जाए और व्यक्ति अथवा राजनीति का वचन-मात्र हो जाय । कविता को संश्लिष्ट इकाई होना ही चाहिए । लेकिन ऐसा होने में उसे काव्य-शास्त्रीय जामा नहीं पहनना चाहिए ।"[1]

कविता में राजनीति के अतिशय प्रभाव को कवि पसन्द नहीं करता है । राजनीतिक चेतना को उतना स्थान दिया जाय, जितना कविता की संश्लिष्टता के लिए आवश्यक है ।

काव्य की इसी संश्लिष्टता को श्री केदारनाथ ने "बोले बोल अबोल" की एक कविता में समझाया है -

"काव्य में अभिव्यक्ति करता हूँ
देश के हित में जिसे
उपयुक्त समझता हूँ

---

1. "मार प्यार की थापें" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 9.

देश में अच्छा होते देखकर प्रसन्न होता हूँ
बुरा होते देखकर अवसन्न होता हूँ ।
जहाँ कहीं दाँव - पेंच की बधार हुई
उसे निरर्थक समझकर
उपेक्षित करता हूँ
सत्य को सदैव संप्रेषित करता हूँ ।"[1]

लेखक की स्वतन्त्रता

प्रगतिवादी कवि अपने स्वाभिमान और स्वतन्त्रता को सबसे अधिक मूल्य देना चाहता है । शासन या अन्य किसी प्रकार के बंधन में पड़कर वह अपनी आज़ादी को नष्ट करना नहीं चाहता । लेखक की स्वतन्त्रता के इस महत्व के बारे में श्री केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी एक कविता में लिखा है -

लेकिन हम लेखक हैं - कुत्ते या घडी नहीं -
मानव की आत्मा के शिल्पी हैं, उनके हम वंशज हैं,
जिनका सिर ऊँचा है, जिनका दिल सोना है,
जिनकी कृति आज तक चमकती है
जिनका ईमान किसी दाम पर बिका नहीं,
शासन से स्वाभिमान झुका नहीं,
इसीलिए हमको वह बंधन सब बहुत बुरे लगते हैं ।"[2]

---

1. "बोले बोल अबोल" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 139.
2. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" - वही - पृ: 80.

केदारनाथ के अनुसार कवि या लेखक मानव - आत्मा के शिल्पी हैं । कवियों की परंपरा में सभी लोगों ने हमेशा सिर ऊँचा ही किया है, उनके उज्ज्वल दृश्य है । सच्चे कवि की कविता चिर-उज्ज्वल है । ऐसे कवियों का ईमान किसी भी दाम पर नहीं बिकता । शासन के सामने सच्चा कवि कभी नहीं झुका । आत्माभिमान को सबसे अधिक महत्व देने के कारण ही कवि सारे बंधनों को तोड देना चाहता है । शासन की चाटुकारिता करना कवि का काम नहीं है । उसका कर्तव्य समस्त मानवता से हैं । बंधन में पडने पर वह अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता । इसीके बारे में आगे वे लिखते हैं -

"तुलसी के वंशज को -
आज के लेखक को दाम से खरीदो नहीं,
रोजशाही गुंबद की छाया में लेखक को पालो नहीं,
लेखक को हुक्म या हिदायत से बाँधो नहीं,
लेखक को सच्ची बात कहने से रोको नहीं,
बल्कि उसे, सच्ची आज़ादी दो
ताकि वह वही लिखे जो कि उसे लिखना है,
शक्ति और साहस से वही कहे जो कि उसे कहना है,
ताकि वह मजूर की किसान की हिमायत करे,
जालिम के साथ नहीं कोई रू-रियायत करे,
ताकि वह कयामत को पतझर को दूर ही हटाये रहे,
ताकि वह ज़मीन को हसीन ही बनाये रहे,
ताकि वह मनुष्यों को अर्थ और वाणी दे,
ताकि वह मनुष्यों को स्वाभिमान साहस दे,
ताकि वह स्वदेश को नवीन रूप से गढे ।"[1]

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 80.

केदारनाथ की राय में कवि जो तुलसी के वंशज हैं, उन्हें कभी दाम देकर खरीदा नहीं जा सकता । उसे सच्ची आज़ादी की आवश्यकता है और समाज उसे सच्चे काम करने का अवसर भी देना चाहिए । शक्ति और साहस से कवि किसानों और मज़दूरों की सहायता कर सकता है । अपराधों और अनीतियों से समझौता न करके, वह जीवन में कयामत को दूर हटा जा सकता है । पृथ्वी को ऐसा स्वर्ग बना सकता है जो स्वाभिमानी, साहसी मनुष्यों से अलंकृत है ।

काव्य और सत्य

केदारनाथ काव्य और सत्य को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते हैं । सत्य की अभिव्यक्ति कवि का परम कर्तव्य है -

"लिखूँगा मैं
फिर फिर वही
सत्य की कही
सौ फी अदी सही
नहीं नहीं -
असत्य की कहीं नहीं
तुम,
बस तुम -
अपने में गुम,
काव्य की भटाई करो,
चिलम चाहे अपनी
या पराई भरो ।"[1]

---

1. "बोले बोल अबोल" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 22.

कवि कहता है कि वह बार बार सत्य की ही अभिव्यक्ति करेगा । उनके विचार में, कवि जो कुछ लिखता है, उसके प्रति उसे शत प्रतिशत ईमानदार होना चाहिए जैसे वे लिखते हैं –

"अतिरिक्त, और जो कुछ लिखता हूँ,
उसे भी सारवान सार्थक समझ कर
कलात्मक अभिरुचि से
लिखता हूँ ।
भाव भाषा और सिद्धान्त के प्रति
पूर्णतया कटिबंद्ध दिखता हूँ ।"[1]

केदारनाथ मानते हैं कि वे केवल सारवान, सार्थक बात ही लिखते हैं, उसमें केवल कलात्मक सौन्दर्य ही वे अपनी ओर से जोड देते हैं । जो कुछ लिखा जाता है, उसके भाव, भाषा और सिद्धान्त के प्रति वे आद्यन्त ईमानदार है ।

काव्य और जीवन

केदारनाथ कविता को अलौकिक भूमिका प्रदान करना नहीं चाहते । उनकी दृष्टि में कविता धरती से संबन्धित है । "अपूर्वा" नामक काव्य संग्रह में वे इसके बारे में कहते हैं –

"धरा इरा है
और धरा से उपजी वाणी
स्वयं इरा है ।

---

1. "बोले बोल अबोल" (केदारनाथ अग्रवाल) – पृ: 140.

यही इरा है मेरी
यही इरा है मेरी कविता,
जो तुम मुझसे पाते -
अपनी कह कर
हृदय लगाते ।"[1]

यहाँ वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि उनकी कविता धरती से उपजी है । उसमें धरती की गंध है । उसे अपनी कहकर हृदय लगा लेना है ।

"गुलमेहंदी" की भूमिका में कविता को वस्तु-जगत् से उद्भूत मानने का दृष्टिकोण वे व्यक्त करते हैं - "मैं वस्तु-जगत् को सत्य मानता हूँ आत्म मैं वस्तु जगत् से पाये हुए "मानस" को ही कविता का उद्गम-स्थल मानता हूँ ."[2]

केदारनाथ जीवन के यथार्थ की भूमिका पर खड़े होकर काव्य-सत्य का अन्वेषण करना चाहते हैं । कविता की अतीन्द्रिय भाव भूमि के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर कहे बिना वे यथार्थ को, यथार्थ के बोध से ही पहचानना चाहते हैं । वस्तु-जगत् ही उनकी कविता का मुख्य आधार है ।

इस प्रकार केदारनाथ मानते हैं कि कविता "अलौकिक मानस" की नहीं, बल्कि साधारण व्यक्तित्व या इंद्रिय बोध पर आधारित है । उसकी भौतिक नींव को और भी वे स्पष्ट करते हैं । "अपने मन की बात" शीर्षक कविता में वे विचित्रताओं का निषेध करके साधारण ज़मीन पर टिके रहने की इच्छा प्रकट करते हैं -

---

1. अपूर्वा (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 27.
2. "गुलमेहंदी" - वही - पृ: 7.

"न चाहिए मुझे
ऐरावत की सवारी ।
न चाहिए मुझे
इंद्रासन,
न चाहिए मुझे
पारिजात

बस,
अब,
बहुत काफी है मुझे,
मेरे लिए लोकतंत्र की ज़मीन
जो हो रही है
दिनों दिन
मानववाद से हसीन,
यही तो है मेरे काव्य की,
परम प्रेरक प्राण-सी प्यारी
यही तो है
मेरी मनोभूमि ।"[1]

ऐरावत, इंद्रासन और पारिजात से मोहक, सभी प्रकार के सुख-ऐश्वर्यों से संपन्न स्वर्ग भी प्रगतिवादी कवि केदारनाथ को आकर्षित नहीं करता । क्योंकि उस स्वप्नमय संसार में चाहे जो कुछ भी हो, फिर भी वह उसके लिए इस ज़मीन के समान प्रिय नहीं । लोकतंत्र और मानववाद से यह ज़मीन भी सुन्दर ही है । यही पृथ्वी उनकी भावनाओं की भूमिका है ।

---

1. "पंख और पतवार" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 143-144.

कवि की मनोभूमि ही उनकी जन्मभूमि है । इसी कारण से वे अपने काव्य को आद्यन्त भौतिकी कहते हैं ।" वास्तव में मेरी कविता स्वभाव से - स्वरूप से - भाव और विचार से - छन्द और लय से - शब्द और अर्थ से भौतिकी रही है और भविष्य में भी भौतिकी रहेगी ।"[1] यहाँ केदारनाथ इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उनकी कविता का भाव, विचार, अर्थ आदि कथ्य पक्ष ही नहीं, बल्कि छन्द, लय आदि शिल्प पक्ष भी भौतिक स्वभाव लिए हुए हैं । "हम" शीर्षक कविता में केदारनाथ ने कवि को जीवन का भाष्यकार माना है । जीवन से कवि का यह अटूट संबन्ध वे यों स्पष्ट करते हैं -

"हम लेखक हैं
कथाकार हैं
हम जीवन के भाष्यकार हैं,
हम कवि हैं जनवादी ।

हम स्रष्टा हैं,
श्रम-शासन के
मुद मंगल के उत्पादन के
हम द्रष्टा हितवादी ।

भूत, भविष्यत्
वर्तमान के,
समता के शाश्वत विधान के
हम हैं मानववादी ।
हम कवि हैं जनवादी ।"[2]

---

1. "गुलमेहंदी" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 7.
2. वही - पृ: 118.

उनकी राय में लेखक या कथाकार जीवन के भाष्यकार हैं । वे जनवाद से प्रेरित हैं । लेखक विश्व में श्रम-शासन और मंगल के कर्मों में लगे रहते हैं । इसलिए शाश्वत समत्व का विधान कर सकते हैं । क्योंकि वे मानवहित को लक्ष्य बनानेवाले मानववादी हैं ।

वे मानव के कल्याण को ही अपनी लेखनी का लक्ष्य मानते हैं । और एक कविता में मानव के प्रति इस भावना को वे व्यक्त करते हैं -

"जिऊँगा लिखूँगा
कि मैं जिन्दगी को
तुम्हारे लिए और अपने लिए भी
अनूठी मिली एक निधि मानता हूँ ,
कि मैं लेखनी को
कि मैं आदमी को
सृजन के रथों और युग के रथों का
सुखों का महा सारथी मानता हूँ ,
कि मैं लेखनी को
अग्नि के अधर और विद्युत अधर की
प्रबल प्राण की बाँसुरी मानता हूँ ।
जिऊँगा लिखूँगा
कि जो ढह गया है
समुन्नत नहीं जो यहाँ रह गया है
उसी प्रेम से, क्षेम से मैं उठाऊँ ,
कि जो रह गया है
प्रखर धार में जो नहीं बह गया है
उसे शक्ति से और श्रम से बढाऊँ ।"[1]

---

1. "गुलमेहंदी" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 167.

कवि जीवन को एक अमूल्य निधि मानता है । इसलिए यहाँ जीते हुए, लिखो हुए महत्वपूर्ण कार्य करना चाहता है । मानव उनकी दृष्टि में सृजन, युग और सुखों का सारथी है । कवि के लिए लेखनी अग्नि और विद्युत् की शक्ति ली हुई है । जीवन में प्रवाह के विरुद्ध चलनेवालों के लिए वे शक्ति और श्रम की प्रेरणा बनकर सहारा होना चाहते हैं ।

"आग का आइना" नामक काव्य संग्रह में भी श्री केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता का जनता से अभिन्न संबन्ध स्थापित किया है -

"दूर कटा कवि
मैं जनता का,
कच कच करता
कचर रहा हूँ अपनी माटी ,
मिट मिट कर
मैं सीख रहा हूँ
गतिपल जीने की परिपाटी
कानूनी करतब से मारा
जितना जीना उतना हारा
न्याय नेह सब समय खा गया
भीतर बाहर धुआँ छा गया
धन भी पैदा नहीं कर सका
पेट खलीसा नहीं भर सका
लूट खसोट जहाँ होती है
मेरी नाव वहाँ खोटी है
मिली कचहरी इज़्ज़त थोपी

पहना धोथा उतरी टोपी
लिए हृदय में कविता थाती
मैं लाने हूँ अपनी छाती ।"[1]

केदारनाथ अग्रवाल कवि होने पर गर्व अनुभव करते हैं । यह सही है कि कवि होने के कारण उन्हें सम्मान और यश मिला है, वकील होने के कारण नहीं ।

"मार प्यार की थापें" नामक काव्य-संग्रह की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता को सामाजिक चेतना पर आधारित माना है । "इन कविताओं के लिखते समय मैं अपने परिवेश से जितना और जैसे प्रभावित हुआ, उसीसे मेरी मन:स्थिति बनी और वही उसमें व्यक्त हुई । इसलिए वह उतनी ही दूसरों की है जितनी मेरी है ।"[2] कवि यही स्पष्ट करते हैं कि उनकी कविता की सृजन-प्रेरणा उनके परिवेश से हुई है । इसलिए कविता की मन:स्थिति बहुत स्वाभाविक भी है । वह केवल कवि की ही नहीं, बल्कि दूसरों की भी हो सकती है ।

आधुनिक कवि कविता में क्षणिक अनुभूतियों या केवल मनोवैज्ञानिक जगत का चित्रण करता है । लेकिन केदारनाथ अग्रवाल इसे प्रगतिशीलता नहीं मानते । उनके अनुसार मानवीय मूल्यों का निर्णय करने के लिए कवि को व्यक्ति चेतना से ऊपर उठना है ।

"जो शिलाएँ तोडते हैं" शीर्षक काव्य-संग्रह में श्री केदारनाथ ने कवि जीवन को मानव के लिए नव जीवन दायक माना है ।

---

1. "आग का आइना" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 75.
2. "मार प्यार की थापें" - वही - पृ: 7.

"मेरा जीवन कवि का जीवन,
नव नव आशा - रस से विकसित,
प्रेम - पीत - परिमल से सुरभित,
करता मानव का आलिंगन ।"[1]

इन पंक्तियों में कवि कविता और जीवन का संबन्ध व्यक्त करता है । कवि का जीवन विभिन्न, नवीन आशाओं और अभिलाषाओं से रसपूर्ण है । साथ ही प्रेम की सुगन्ध से भी वह मोहक है । इस कवि-जीवन को मानव-जीवन से अलग करना संभव नहीं ।

जीवन और समाज को काव्य का विषय बनाने-मात्र से कवि का कर्तव्य समाप्त नहीं होता । कवि इस जीवन और समाज के सुख दुःखों का उत्तरदायी भी है । कवि का समाज के प्रति इतना कर्तव्य है कि वह उसमें मंगल लाने के लिए उसे समूल परिवर्तन का शिकार बनाना चाहता है । इस प्रकार कवि की लेखनी क्रान्ति मचा देती है । इस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी अनेक कविताओं में अभिव्यक्त किया है । "अपूर्वा" शीर्षक काव्य संग्रह में वे अनार को संबोधित करते हुए कहते हैं -

"मैं भी फूलता
मेरे भाई अनार ।
देना, तुम्हारी राह, मैं भी
लपट मारती कविताओं के फूल
क्रान्तिकारी फूल ।
धन्य होता मैं
धन्य होती मेरी कविताएँ,
मेरे प्राकृत प्रवीण कवि अनार ।
स्वीकार करो
मेरा हार्दिक आभार । ।"[2]

---

1. "जो शिलाएँ तोडते हैं" (केदारनाथ) - पृ: 63.
2. "अपूर्वा" - वही - पृ: 81.

यहाँ कवि पुष्पित अनार से अपनी तुलना करते हैं । केवल यही अन्तर है कि कवि का जीवन-वृक्ष क्रान्ति के फूलों को उगानेवाले हैं । क्रान्ति के उज्ज्वल फूलों से जब पुष्पित होगा, तभी कवि जीवन धन्य होगा । कवि अनार से हार्दिक आभार भी प्रकट करते हैं ।

और एक कविता में भय छोडकर जीवन की जटिलताओं और विसंगतियों से खुलकर लडने का वे आह्वान देते हैं -

"हाथ में तलवार लेकर डर रहे हो,
लेखनी - बिजली लिये तुम मर रहे हो ।
आग हो, ज्वालामुखी हो, सो रहे हो,
ओस के हिम-आँसुओं को बो रहे हो ।"[1]

केदारनाथ क्रान्ति के आवेग से उत्साहित होकर कवियों से पूछते हैं - कवि के हाथ में लेखनी सभी प्रकार के दुश्मनों से लडने की तलवार है । फिर भी डरने की क्या आवश्यकता है? यह लेखनी-रूपी बिजली समस्त अंधकार को दूर कर सकती है । क्रान्ति भावना की आग और ज्वालामुखी को लिए हुए क्यों आँसुओं के हिम-कण लिये रहते हो?
उनके अनुसार जगत् की जडता में, लेखनी का जगत् अंधेरे में ही पडा है । उसको क्रान्ति के चमत्कार से आलोकित करना चाहिए ।

"ऐ दधीची । शक्ति का डंका बजाओ,
शान्ति का उल्लासमय सूरज उगाओ ।।
लाल सोने का सबेरा चमचमाओ ।
लेखनी के लोक में आलोक लाओ ।।"[2]

---

1. "गुलमेहंदी" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृः 122.
2. वही ।

वे शक्ति और तपस्या के प्रतीक दधीची से कवि की तुलना करते हैं । शांति का डंका बजाने का समय आ गया है । कवि क्रान्ति की चेतना से उद्दीप्त लाल सूरज का प्रकाश लिए हुए लाल प्रभात की प्रतीक्षा करता है । कवि पर ही सारी प्रतीक्षा निर्भर है ।

"फूल नहीं, रंग बोलते हैं" शीर्षक काव्य संग्रह में उन्होंने ज़िन्दगी को एक युद्ध भूमि माना है । उनके अनुसार लेखनी शोषकों का कलेजा फाड सकती है ।

"मैं लडाई लड रहा हूँ मोरचे पर ।
जिन्दगी की फौज मेरी शक्तिशाली ।

मैं लडाई लड रहा हूँ मोरचे पर ।
रक्त की धारा बहाकर
किरकिराती रेत को भी उर्वरा कर रहा हूँ ;
शब्द के कर्मण्य कर से जोत धरती,
मानवी स्वाधीनता के बीज बोता जा रहा हूँ,
और श्रमजीवी हितों के अंकुरों को
मैं उगाता जा रहा हूँ "।

कवि एक महान युद्ध की कल्पना करता है । जीवन की शक्तिशाली सेना में ले लेना चाहते हैं । यहाँ क्रान्ति का बल, उत्साह कवि के साथी हैं । वे यहाँ रक्त की धारा बहाना चाहते हैं । इस शून्य, शुष्क रेत को भी हरी-भरी बनाना चाहते हैं । वाणी की ओज से आज़ादी के बीज बोना चाहते हैं । श्रमजीवी उनसे उगे हुए हितों के अंकुर हैं ।

और एक कविता में केदारनाथ ने अभिव्यक्ति न पानेवाली यातना के बारे में कहा है । यह क्रान्ति की पुकार की यातना है -

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 76.

"भोगने दो मुझे
लय न पा सकी, विलाप-व्याकुल
कविता की यातना ।
भोगने दो मुझे
बलात् प्रताडित विकल बेबस
विचार की यातना ।
भोगने दो मुझे
होंठ से अटकी क्रान्तिकारी
पुकार की यातना ।"[1]

क्रान्ति की संघर्षमय, आकुल भावभूमि सुख या आनंद से जुडी नहीं है । बल्कि क्रान्ति की चेतना एक महान् पीडा से लिपटी हुई है। वे क्रान्ति की इस पीडा को अपनी कविता की यातना में प्रवेश कराना चाहते हैं । कविता की, विचार की, क्रान्ति की यह यातना भोगने में उनको एक विशेष तृप्ति मिलती है । उनका अन्तर्मन क्रान्ति की पुकार कर रही है । केदारनाथ कहते हैं कि उनकी कविता उन्हें दण्ड-दमन से लडने की प्रेरणा देती है ।

"मेरी कविता
मुझे बताती:
खडी रहे लौ -
बुझे न बाती -
दण्ड-दमन से फटे न छाती ।"[2]

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 151.
2. "मार प्यार की थापें" - वही - पृ: 109.

कवि की यही कामना है कि जीवन के संघर्षों और अंधकारों से होकर जाते समय उनके अन्दर उत्साह की ज्वाला। प्रज्वलित होती ही रहे। आशा की बाती कभी न बुझ जाय। दण्ड सहना पड़े तो भी छाती फट न जाय। कविता उन सबकी प्रेरणा देती है। "पंख और पतवार" में केदारनाथ ने अपनी प्रगतिशील चेतना को उज्ज्वल शब्दों में व्यक्त किया है।

"आज का लेखन,
नये के निर्माण को
साकार करते
कलाकार उजाले का, मानवीय लेखन है।
आज का लेखन,
आग के अंगूठों की
क्रान्तिकारी कतार का,
बन्दूक - मार लेखन है।

आज का लेखन,
अहं की कुण्ठित इकाई का
संत्रस्त लेखन नहीं
बल्कि
हिल्लोल और हिंडोल का
भू-कम्पी लेखन है।

आज का लेखन,
नरक के निर्यात
और स्वर्ग के आयात का,
सबंद्ध और संपृक्त लेखन हैं ।"[1]

केदारनाथ की राय में कलाकारिता नये जगत् के निर्माण का सपना साकार करने के लिए है । अंधकार को हटाकर प्रकाश लाने के लिए, मानवीय भावना पर वह अधिष्ठित भी है । आज के लेखन में क्रान्ति की आग और बन्दूक है । केवल मनोविश्लेषण के तत्वों के आधार पर, आज का लेखन मानसिक कुंठाओं या सं ा भावनाओं का विवेचन नहीं करता, बल्कि वह क्रान्ति और बल का भूकम्प लाना चाहता है । असमानताओं और अनीतियों का नरक दूर करके आज का लेखक एक नये भविष्य के स्वर्ग का आगमन चाहता है । आज कला या लेखन के सामने यह संपृक्त व्यापक चेतना फैली हुई है ।

शब्द

कहीं कहीं केदारनाथ ने शब्द और अर्थ के संबन्ध के बारे में अपना मत व्यक्त किया है । उनके अनुसार, शब्दों का अतिक्रमण करके अर्थ के ऊँचे तलों पर पहुचना है -

"शब्दों का अतिक्रमण करो
कहे के बाद जो अनकहा है उसे वरो
यह कुछ और नहीं -
आयातित कमज़ोरी है -
कल्पना कोरी है

---

1. "पंख और पतवार" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 147-148.

इसके चक्कर में जो पडा
महान होने के बजाय -
ज़मीन में ज़िन्दा गडा ।"[1]

केवल शाब्दिक धरातल पर रहना नहीं, उसका अतिक्रमण करना ही कवि का लक्ष्य होना चाहिए । क्योंकि जो कहा जाय, उससे परे ऐसे भी कुछ है जो कहा न जाय वहाँ तक पहुँचना हैं । इसके बदले कोरी कल्पना के चक्कर में पडे रहने पर कवि ऊँचा उठ नहीं पायेगा, बल्कि नीचे धँस जाएगा ।

शब्द और अर्थ का एक स्वस्थ संबन्ध कविता को सौन्दर्य प्रदान करता है । "आग का आइना" नामक काव्य संग्रह में वे यह व्यक्त करते हैं -

"शब्द हो गये हैं नंगे
अर्थ नहीं खुलते
अनर्थ अश्लीलता
घंटी बजाती है
व्यापक खतरे की ।"[2]

आजकल शब्द तो केवल नंगे हो गये हैं । उनमें अर्थ का आवरण नहीं है जो एक के बाद एक होकर खुलना चाहिए । इस अर्थ-संपुष्टता के बदले, अनर्थ और अश्लीलता के भाव ही शब्दों में है । यह काव्य-जगत् में व्यापक खतरा लाता है । केदारनाथ ने "पंख और पतवार" की भूमिका में शब्द और अर्थ की संहति की अनिवार्यता समझायी है ।

---

1. "बोले बोले अबोल" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 98.
2. "आग का आइना" - वही - पृ: 70.

"कविता कोई भी हो, किसीकी हो, किसीभी युग की हो और किसी भी भाषा में लिखी गयी हो, शब्द और अर्थ की संहति दी हुई कृति होती है । संहति में ही कविता व्यक्त होती चली आयी है और भविष्य में भी संहति में ही व्यक्त होती रहेगी ।"[1]

किसी भी कृति में शब्द और अर्थ की संहति ही आद्यन्त आवश्यक है । शब्दार्थों की इस मनोहर अन्विति से ही कविता बनती है । यह अभी तक की बात ही नहीं, बल्कि भविष्य में भी यही कविता का परम तत्व होगा ।

रस

कविता में तो रस के लिए नहीं लिखी जाती । पर कवि की प्रतिभा से उसमें रस का स्वयं अनुभव हो जाता है । एक जगह वे अपनी कविताओं के बारे में लिखते हैं –

"वे इसलिए नहीं लिखी गयी कि उनसे रस का पूरा आस्वाद मिले । यदि वे रस न दें तो यह उनकी नहीं, मेरी मेहरबानी होगी ।"[2]

पुराने ज़माने में कविता का आस्वादन रस-निष्पत्ति पर आधारित था । लेकिन केदारनाथ रस को ज़्यादा महत्व नहीं देते । कविता की सफल संवेदना उसे भाजाने ही रसानुभूति तक पहुँचाती है ।

शिल्प

काव्य का शिल्प-पक्ष केदारनाथ के लिए भाव के समान ही महत्वपूर्ण है । वे शिल्प के बारे में यों कहते हैं –

---

1. "पंख और पतवार" (केदारनाथ अग्रवाल) – पृ: 7.
2. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" – वही – पृ: 6.

"मेरी कविताओं में शिल्प का सौन्दर्य मिलेगा । वह सौन्दर्य उसके स्थापत्य के शिल्प का सौन्दर्य है । वह सौन्दर्य अनेक भाव-भंगिमाओं से अपने को व्यक्त करता है । उसकी अभिव्यक्ति अनेकरूपिणी है । जैसे हर सबेरा एक नये सौन्दर्य का सबेरा होता है । वैसे मेरी हर कविता एक नये सौन्दर्य की कविता होती है ।"[1]

प्रगतिवाद के प्रवाह में वे कविता के शिल्प-सौन्दर्य की उपेक्षा करना नहीं चाहते । कवि ने अपनी प्रत्येक कविता में एक नये काव्य-सौन्दर्य का आवाहन किया है । शिल्प की विविध भंगिमाओं से उनकी कविता बहुरंगी सौन्दर्य ली हुई है ।

छन्द को कवि कविता में स्वाभाविक रूप से आनेवाला एक तत्व मानता है । कविता के संवेग ही उसमें छन्द पाते हैं । जैसे वे लिखते हैं

"सूक्ष्म संवेगों की मेरी कविताएँ सूक्ष्म हैं । उन्हें बडी करना गलत होता । कहीं वे छन्द बद्ध हैं । कहीं मुक्त छन्द में हैं । उनके लिए मैं ने नहीं, संवेगों ने भी लय और रूप खोजा है ।"[2]

छन्द को कवि अनुचित स्थान नहीं देते । बल्कि सूक्ष्म संवेदनाएँ कभी कभी छन्दों कविता को छन्दबद्ध होकर उतारती हैं तो कभी वे मुक्त छन्द में प्रकट होती हैं । स्वयं अनुभूतियाँ अनजाने लय और रूप ले लेती हैं । यही छन्द की स्वाभाविक भंगिमा का कारण है ।

इस प्रकार केदारनाथ अग्रवाल ने काव्य के विभिन्न पक्षों के बारे में अपनी कविता में सुव्यक्त चिन्तन प्रस्तुत किया है । प्रगतिवादी काव्य धारा में इन्हीं की कविताओं में काव्यपरक चिन्तन की मात्रा अधिक मिलती है । यथार्थ की कठोर भूमि पर खडे होते हुए भी उन्होंने काव्य की कथ्यगत तथा शिल्पगत भंगिमा पर विशेष रूप से विचार किया है ।

---

1. "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (केदारनाथ अग्रवाल) - पृ: 5.
2. वही - पृ: 6.

त्रिलोचन

प्रगतिवादी कवियों ने छायावाद की अतिशय भावुकता और पलायन वादिता का खण्डन करके कविता द्वारा जीवन की वास्तविकता को दर्शाना चाहा । उनके सामने सामाजिक अनीतियों का विरोध मुख्य उद्देश्य था । काव्य उनके इस लक्ष्य का माध्यम मात्र था । इसलिए काव्य के सौन्दर्य-पक्ष और काव्य-तत्वों का चिन्तन उनकी रचनाओं में बहुत कम मिलता है ।

हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों के बीच कवि त्रिलोचन की वाणी अलग स्वर में मुखरित हुई थी । "ताप के ताये हुए दिन", "उस जनपद का कवि हूँ" "शब्द", "अरघान", "अनकहनी भी कुछ कहनी है" आदि काव्य-रचनाएँ प्रगतिवादी चेतना के विभिन्न आयामों की अभिव्यक्ति करनेवाली हैं । त्रिलोचन ने प्रगतिवाद की प्रबल धारा में बहते हुए भी, काव्य के बाहरी तथा आन्तरिक तत्वों को अपने चिन्तन का विषय बनाया है । काव्य के कथ्य और शिल्प पक्षों के बारे में उनकी जो सुदृढ मान्यताएँ हैं, वे काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में विशेष ध्यान देने योग्य हैं । त्रिलोचन के काव्य-दर्शन का अवलोकन हम इस प्रकार कर सकते हैं ।

काव्य और जीवन यथार्थ

प्रत्येक प्रगतिवादी कवि काव्य के सामाजिक उपयोग पर बल देना चाहता है । त्रिलोचन ने भी कविता को सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम माना है । उनकी राय में, सच्चा काव्य वही है जिसमें जीवन का स्पन्दन मिलता है । "दिगन्त" शीर्षक काव्य संग्रह में त्रिलोचन ने अपनी ही अलग शैली में इसको वाणी दी है -

---

"ध्वनिग्राहक हूँ मैं, समाज में उठनेवाली
ध्वनियाँ पकड लिया करता हूँ इसपर कोई
अगर चिढे तो उसकी बुद्धि कहीं है खोई
कहना यही पडेगा अगर न हो हरियाली

लडता हुआ समाज, नई आशा-अभिलाषा,
नये चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा"[1]

त्रिलोचन की यही धारणा है कि कवि का कर्म एक ध्वनिग्राहक का है । समाज में उठनेवाली विभिन्न ध्वनियों को पकडकर अपनी कविता में कवि उसे एक नया चित्र और नयी भाषा देकर अभिव्यक्त करता है । वह लडते हुए समाज का, उसकी नयी आशा-अभिलाषाओं का वक्ता है ।

"अनकहनी भी कुछ कहनी है" शीर्षक काव्य-संग्रह में उन्होंने कविता के साधारणीकरण की आवश्यकता पर बल दिया है -

"कवि, खा खाकर तुम धनियों के फेंके टुकडे
गान वासना के गाते हो, तुम जीवन का
सत्य कहाँ से देख सकोगे इनको टुकडे
पर भी कोई कभी न पूछेगा तुम मन का

महल बनाया करो और जैसे मन बहले
वैसे करतब किया करो अब तो सच्चाई
का आदर है यहाँ कहीं कोई कुछ कह ले,
अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी कच्चाई

---

1. "दिगन्त" (त्रिलोचन) - पृ: 22.

साधारणीकरण कथनी की बात नहीं है,
करनी में आए तो आए कविता सबका
मान करेगी वह जीवन से दूर कहीं है,
ऐसा मत समझो टूटा वह सपना कबका"[1]

वासना के गीत गाते हुए, जीवन का सत्य देखे बिना मन के महल बनाने का समय तो बीत चुका है । किसी न किसी प्रकार मन बहलाकर, जो कुछ भी चाहे कर सकते हैं । लेकिन यह सत्य है कि आजकल केवल सच्चाई का ही आदर होता है । कच्चाई से दीर्घ - लाभ तो नहीं होगा । साधारणीकरण की दृष्टि से काव्य का आस्वादन करना केवल कथनी में ही होता है । अब तो उसे करनी में भी लाना है । क्योंकि अब जीवन की साधारणता ही कविता का आधार है । पलायन का सपना तो कभी टूट चुका है । यहाँ कवि काव्यगत यथार्थ पर बार बार जोर देते हुए कवियों को बार बार चेतावनी देता है ।

त्रिलोचन की दृष्टि में हृदय का स्पन्दन सुनानेवाला काव्य ही अमर है । बार बार उन्होंने इसका महत्व घोषित किया है । "अनकहनी भी कुछ कहनी है" शीर्षक काव्य संग्रह की एक अन्य कविता में उन्होंने यह स्पष्ट किया है -

"कवि, तुमको अपने स्वर का
ध्यान रहे, सम्मान रहे, तो जैसा पहले
के कवियों ने गीतों में ही उस सुन्दर का
रूप रख दिया, तुम कर लोगे कोई कह ले
कुछ, पर हृदय में स्पन्दित होनेवाला
काव्य अमर है, सुकवि बीज-स्वर बोनेवाला ।"[2]

---

1. "अनकहनी भी कुछ कहनी है" (त्रिलोचन) - पृ: 103.
2. वही - पृ: 10.

पहले कवियों ने तो अपने गीतों में ही सुन्दर का रूप प्रस्तुत किया है । वैसा आज के कवि भी कर सकते हैं । लेकिन कुछ भी कहने से काव्य मूल्यवान नहीं होगा । जो काव्य हृदय का स्पन्दन सुनता है वही अमर होगा ।

"तुम्हें सौंपता हूँ" नामक काव्य-संग्रह में भी त्रिलोचन ने काव्य में सत्य को सच्चाई के साथ अभिव्यक्त करने की आवश्यकता बतायी है -

"शब्द,
मालूम है,
व्यर्थ नहीं जाते हैं
पहले मैं सोचता था
उत्तर यदि नहीं मिले
तो फिर क्या लिखा जाए
किन्तु मेरे अन्तर्निवासी ने मुझसे कहा -
लिखा कर
तेरा आत्म-विश्लेषण क्या जाने
कभी तुझे
एकसाथ सत्य शिव सुन्दर को दिखा जाए
अब मैं लिखा करता हूँ
अपने अन्तर की अनुभूति बिना रँगे चुने
कागज़ पर बस उतार देता हूँ ।"[1]

रचनात्मक प्रकिया में कभी कभी त्रिलोचन को संदेह हुआ करता था कि क्या लिखा जाए । स्वयं कवि के अन्तर्मन ने उनकी इस शंका को दूर किया था ।

---

1. "तुम्हें सौंपता हूँ" (त्रिलोचन) - पृ: 44.

अन्तर्मन ने उपदेश दिया कि आत्म विश्लेषण करते हुए लिखना शुरू करे, ताकि सत्य शिव सुन्दर तक पहुँचे । त्रिलोचन तो अपने अन्तर की अनुभूतियों को यों ही कागज़ पर उतार देना ही काव्य धर्म मानते हैं ।

कविता में जीवन की तलाश त्रिलोचन का एकमात्र लक्ष्य है ।

"शब्द शब्द से व्यंजित जीवन की तलाश में
कवि भटका करता है ।"[1]

अपनी कविता के शब्द-शब्द के द्वारा जीवन की तलाश करते हुए कवि तो भटकता ही रहता है ।

और एक कविता में त्रिलोचन ने मानव को महत्व देनेवाली कविता को अनिवार्य माना है -

"कवि का आदर करे किन्तु मानव को त्यागे
तुम हो उनमें नहीं । विभव कविता ने पाए
मानव से ही, तुम ने मानव के गुण गाए,
मन में, रचना में मानव को रक्खा आगे"[2]

भगवान विष्णु से किये जानेवाले इस संवाद में त्रिलोचन मानव का महत्व दिखाना चाहते हैं । विष्णुजी तो हमेशा उनका ध्यान रखते रहे हैं । अगर कवि का आदर करे और अन्य मानव की अवहेलना करे तो वह अस्वीकार्य है । लेकिन कवि को इसीलिए खुशी है कि विष्णुजी हमेशा मानव का यथोचित महत्व मानते हैं । कवि की दृष्टि में मानव-जीवन बहुत ऊँचा है ।

"भाषा की लहरें" शीर्षक कविता में भी त्रिलोचन ने जीवन की हलचल की अभिव्यक्ति को ही भाषा का लक्ष्य माना है -

---

1. "शब्द" (त्रिलोचन) - पृ: 45.
2. "फूल नाम है एक" - वही - पृ: 29.

"भाषा की अंगुलि से मानव-हृदय से गया
कवि मानव का, जगा गया नूतन अभिलाषा,
भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है,
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है ।"[1]

मानव-हृदय को जगा देनेवाली अंगुली है भाषा । भाषा की लहरें जीवन की हलचल को लहराती है । इस ध्वनि में जीवन की क्रियाशीलता ही भरी है जिसमें बल का संदेश है ।

जो जीवन जिया जाता है वही कवि अपनी कविता द्वारा प्रस्तुत करता है । अपनी इस काव्य-चेतना को उन्होंने एक जगह व्यक्त किया है -

"कविताओं में जो मैं ने लिखा
उसे मैं ने
अपने में आप
और दूसरों के साथ जिया,
फिर उस जिये को
जीवन्त शब्दों से
संप्रेषित किया ।"[2]

कवि जिस यथार्थ को अपने सहजीवियों के साथ जीता है, वही पुनः काव्य के द्वारा प्रस्तुत करता है । जीवन का सत्य काव्य में जीवन्त शब्दों से और भी उज्ज्वल हो जाता है ।

---

1. "दिगन्त" (त्रिलोचन) - पृः 63.
2. "तुम्हें सौंपता हूँ" - वही - पृः 141.

कविता की साधारणता

त्रिलोचन की कविता में जो स्वाभाविकता या साधारणता मिलती है वही उनके काव्य की सबसे बडी विशेषता है । कविता में स्वाभाविकता की आकांक्षा को उन्होंने यों व्यक्त किया है –

"यह तो सदा कामना थी, इस तरह से लिखूँ
जिनपर लिखूँ, वही यों अपने स्वर में बोलें,
परिचित जन पहचान सकें फिर भले ही दिखूँ
अपनापन थोपने में विफल । आकर खोलें
आमंत्रित जड चेतन अपने मनोभाव को,
उस स्वभाव को जो अभिन्नतम अभिव्यक्ति है
पूरी सत्ता की ।"[1]

कवि जिनके बारे में लिखना चाहता है, वे ही कविता में अपने स्वर में बोलें, यही उनकी इच्छा है । इस स्वाभाविकता के कारण परिचित जन उसे पहचान सकेंगे । अपनापन तो थोपा नहीं जा सकता । जड हो या, चेतन हो स्वयं अपने मनोभाव खोल सकते हैं । वह ऐसा स्वभाव है जो पूरी सत्ता की अभिन्नतम अभिव्यक्ति है ।

वे कविता में उधार के भावों का तिरस्कार करके स्वाभाविक सौन्दर्य को उभारना चाहते हैं ।

"कविता के चेहरे पर जो पाउडर उधार का
लगा हुआ था भद्दा था, उसपर मतवाले
कितने ही जनथे पर उनके उस दुलार का
मर्म विदित था मुझे, वही श्रृंगार निराले

---

1. "उस जनपद का कवि हूँ" (त्रिलोचन) – पृ: 115.

उनका मन गुदगुदा रहे थे उन्हें रूप का
दर्शन करनेवाली आँखें नहीं मिली थी,
उनको कुछ भी ज्ञान नहीं था गंध धूप का,
उनके अनुभव की कलियाँ भी नहीं खिली थीं
वह कलंक धो दिया, सहज मैं ने बना दिया
कविता को - उसका स्वाभाविक सरल उजाला
दिपता है, आँखों में खुभता है, जना दिया
जो जानना सभीको था,
पहना दी माल -
सीधे सादे सुर में उर के गान सुनाए
मन के करघों पर रेशम के भाव बुनाए"[1]

त्रिलोचन ने देखा कि कविता का चेहरा बहुत भद्दा है । अधार का पाउडर लगाया हुआ वह कृत्रिमता का रंग दिखाता था । ऐसी होते हुए भी कितने ही लोग उस कविता पर आकृष्ट थे । क्योंकि उन्हें सच्ची कविता का रूप ज्ञात नहीं था । उस कविता में अनुभव की गंध ही नहीं थी । त्रिलोचन ने कृत्रिमता के इस दाग को धो देकर उसे सहज बनाया । उन्होंने सीधे सादे सुर में उर के गान सुनाकर कविता का सरल, स्वाभाविक प्रकाश दिखा दिया ।

त्रिलोचन ने काव्य में बातचीत वाली भाषा का कलात्मक उपयोग किया है और इसलिए उसकी अनुभूति अत्यन्त निकट है -

"मैं तुमसे, तुम्हीं से बात किया करता हूँ
और यह बात मेरी कविता है"[2]

---

1. "उस जनपद का कवि हूँ"{त्रिलोचन} - पृ: 113.
2. "ताप के ताए हुए दिन" - वही - पृ: 61.

त्रिलोचन की कविता की चेतना इतनी सरल है कि ऐसा लगता है मानों कवि हमींसे प्यार के साथ बातचीत कर रहा है । इतनी साधारणता के भाव से कवि कविता में प्रवेश करता है ।

"धरती" में भी इसी भाव को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है –

"गीत बन जाते हृदय के भाव
गीत बन जाते
तोड बन्धन और बाधा
गीत पे फिर फिर उमडते
उड स्वरों के पंख पर फिर
वर्ण-भास्वर गगन जाते
गीत बन जाते हृदय के भाव"[1]

हृदय के भावों के उमडने पर त्रिलोचन के गीत बन जाते हैं । बन्धन और बाधाओं को तोडकर पूरे आवेग के साथ भाव स्वरों के पंख खोलकर, वर्णों के भास्वर जगत् में उडने लगते हैं ।

और इसीलिए त्रिलोचन मानते हैं कि कविता बिकने योग्य नहीं है

"स्वर के सागर की बस लहर ली है
और अनुभूतियों को वाणी दी है
मुझसे तू गीत माँगता है क्यों
मैंने दूकान क्या कोई की है
स्वर सभी तान पर नहीं मिलते
हृदय अभिमान पर नहीं मिलते

---

1. "धरती" (त्रिलोचन) – पृ: 68.

पास पैसा है और धुन भी है
गीत दूकान पर नहीं मिलते ।"[1]

त्रिलोचनजी की यही भावना है कि उन्होंने केवल स्वर के विशाल सागर से कुछ लहरें ली हैं । उससे अपनी कविता द्वारा अनुभूति को वाणी दी है । इसलिए गीत माँगना निरर्थक है, क्योंकि यह इतना आसान नहीं है । सभी तानों पर स्वर नहीं मिलते । हृदय तो अभिमान पर भी नहीं मिलेगा । इसलिए मोल देकर खरीदना असंभव है । यहाँ वे कविता-सृजन की सूक्ष्म, जटिल भाव-भूमि का अवबोध कराते हैं जो बुद्धि या इच्छा के वश में नहीं है ।

लोक जीवन में डूबकर त्रिलोचन का कविकर्म सार्थकता पाता है । लोक जीवन में तन्मय कवि-मन अपनी कविता की छवि को यों प्रस्तुत करता है

"यह रहस्य कढा किस ओर से
हृदय की लिपि वायु तरंग में
लिख उठी छवि की अरधान-सी
नयन देख जिसे चुप हो गये"[2]

सौन्दर्य की गंध जो हृदय की लिपि में लिखी जाती है, वही कवि लोक जीवन में पाता है ।

कवि का महत्व

अन्य कवियों के समान त्रिलोचन ने भी मानव समाज में कवि का महत्व उद्घोषित किया है । कवि मानव - आत्मा का शिल्पी है -

---

1. "गुलाब और बुलबुल" (त्रिलोचन) - पृ: 131.
2. "चैती" - वही - पृ: 32.

"कवि तो मानव-आत्मा का शिल्पी होता है,
मानव - आत्मा विपुल बन्धनों में जो जकडी
रहती है जिस तरह से बुढापे की लकडी
के बल पर कोई बूढा तन को ढोता है,
उसी तरह से होता है साहित्य सहारा
सबके मन का जो इससे बेखबर रहा है"[1]

जीवन के संघर्षों और बन्धनों में उलझी हुई मानव-आत्मा मुक्ति के लिए तडप रही है । कवि इसी मानव - आत्मा का शिल्पी है और उसका ऐसा सहारा देता है, जैसा बुढापे में बूढे की लकडी ।

लेकिन कवि की कभी यह इच्छा नहीं है कि सभी लोगों से उनके महत्व का आदर किया जाय । कवि स्वयं अपने काव्य-सृजन से ही आनंद पाता है

"नहीं हूँ किसी का भी प्रिय कवि में
ज़रा देर से ही सही मुझे यह ज्ञात हुआ

यदि मेरी बात मेरी भाषा के ओठों को
पार नहीं कर पाती तो भी क्या बुरा है
कह - कहवाव से भी अलग
कभी कभी बात होती है
मेरी कविताओं के सपने सब मेरे हैं
मुझे तो प्रसन्नता है
यदि मेरे सपनों को कोई भी नहीं कहता मेरे हैं"[2]

---

1. "अनकहनी भी कुछ कहनी है" (त्रिलोचन) - पृ: 80.
2. "चैती" - वही - पृ: 55.

कवि को ज़रा भी दुःख नहीं है कि वे जनप्रिय नहीं हैं । अपनी बात केवल अपने ओंठ तक सीमित रहे तो भी उसकी सार्थकता होती है । यह कह-कहवाव से अलग है । कवि मानते हैं कि उनकी कविताओं के सभी सपने केवल उनके ही हैं, यदि कोई भी उसे स्वीकार नहीं करते, तो भी उन्हें दुःख नहीं है । कविता की सफलता से संबन्धित ऐसा स्वस्थ दृष्टिकोण अन्यत्र देखा नहीं जा सकता ।

त्रिलोचन कविता को अनुभूति से उद्भूत मानते हुए भी उसे व्यक्ति जीवन में सीमित नहीं करना चाहते हैं । वे लिखते हैं - व्यक्ति-जीवन किसी भी क्षण समाप्त होगा । लेकिन कविता उससे परे है -

"मैं ने कब कहा था
कविता की साँस मेरी साँस है
जानता हूँ मेरी साँस टूटेगी
और यह दुनिया
जिसे दिन रात चाहता हूँ
एक दिन छूटेगी
मैं ने कब कहा था
कविता की चाल मेरी चाल है
जानता हूँ मेरी चाल रुकेगी
और यह राह
जिसे दिन रात देखता हूँ
एक दिन चुकेगी
मैं ने कब कहा था,
कविता की प्यास मेरी प्यास है
जानता हूँ मेरी प्यास तडपेगी
और यह तडप

जिसे दिन रात जानता हूँ
और और भड़केगी ।"[1]

कवि और प्रचार

त्रिलोचन कविता को प्रचार का साधन मानने के पक्षपाती नहीं है ।

"कवि है नहीं त्रिलोचन अपना सुख दुःख गाता
रोता है वह, केवल अपना सुख दुःख गाना
और इसीसे इस दुनिया में कवि कहलाना
देखा नहीं गया उसको क्या आता जाता
है, आए दिन लिखता है वह पिटी पिटाई
बातों पर, प्रचार कविता द्वारा करता है,
जो प्रचार करता है बिना मौत मरता है
उसको यह मालूम नहीं है रटी रटाई
बातें मार्क्सवाद की करता है
"[2]

अपना सुख दुःख गाना और रोना तो कवि के लिए ज़रा भी उचित नहीं । त्रिलोचनजी तो आजकल मार्क्सवाद की लीक पर चलता हुआ, प्रचार करता है । पिटी पिटाई बातें कहता है, रटी रटाई बातें दुहराता है । सचमुच जो प्रचार करता है वह बिना मौत मरता है । प्रचार में कवि का व्यक्तित्व उभरता नहीं ।

---

1. "चैती" (त्रिलोचन) - पृ: 50.
2. "उस जनपद का कवि हूँ" - वही - पृ: 108.

त्रिलोचनजी के मत में अभिनय-कुशलता या बाह्य आडंबर से वे काव्य-संसार में विजय प्राप्त नहीं कर सकेंगे । बल्कि निर्मल स्वर की धारा ही उनकी शक्ति है ।

"अपने क्षण भी याद नहीं है पहलेवाले
प्रेमी अभिनय कुशल अवश्य हुआ करते थे,
कवियों की रचनाओं में सैकडों हवाले
तुम्हें मिले होंगे ; वे सब जीते मरते थे
स्वेच्छापूर्वक उन लोगों का निपट निराला
कौशल मेरे पास कहाँ ? हूँ ममतावाला
करता हूँ आक्रमण धर्म के दृढ दुर्गों पर
कवि हूँ, नया मनुष्य मुझे यदि अपनाएगा
उन गानों में अपना विजय-गान पाएगा
जिनको मैं ने गाया है वैसे मुर्गों पर
निर्भर नहीं सबेरा होना, लेकिन इतना
झूठ नहीं है, जहाँ कहीं वह बडे सबेरे
ऊँचे स्वर से बोला करता है, मुँह फेरे
कोई पडा नहीं रह सकता, फिर भी कितना
उसमें बल है केवल निर्मल स्वर की धारा
उसकी अपनी है, जिसकी अजस्र कल कल में
स्वप्न डूब जाते हैं जीवन के लघु पल में -
तम से लडता है इस पश्यन्ती के द्वारा"[1]

प्रेम और सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न-जगत् में जो छायावादी कवि विचरण करते थे उनमें निराला अभिनय - कौशल था । त्रिलोचन इस अभिनय - कौशल से बिलकुल दूर हैं । लेकिन उनमें ममता ज़रूर है । वे धर्म के अटल दुर्गों पर

---

1. "दिगन्त" (त्रिलोचन) - पृ: 15.

आक्रमण करना चाहते हैं । नया मनुष्य यदि उनके गान अपनायेंगे तो उनको [illegible] गान मिलेगी । जिसप्रकार प्रभात तो मुर्गे पर आश्रित नहीं, फिर भी अपनी [illegible] स्वर-धारा से वह तम से लड सकता है, उसी प्रकार कवि भी अपनी स्वर-धारा से अंधकार को दूर कर सकता है ।

अभिव्यक्ति

त्रिलोचन अभिव्यक्ति की पूर्णता में आनंद लेना चाहते हैं । कभी कभी उनको लगता है कि कवि की अनुभूतियाँ पूरे भावावेग या तीव्रता के साथ अभिव्यक्त नहीं होती । अभिव्यक्ति की इस अपूर्णता के बारे में अपनी [illegible] में उन्होंने विचार किया है -

"शब्दों से कभी कभी काम नहीं चलता
जीवन को देखा है
यहाँ कुछ और
वहाँ कुछ और
इसी तरह यहाँ वहाँ
हरदम कुछ और
कोई एक ढंग सदा काम नहीं करता
तुमको भी चाहूँ तो
छू कर तरंग
पकड रखूँ संग
कितने दिन कहाँ कहाँ
रख लूँगा रंग
अपनी भी मनचाहा रूप नहीं बनता ।"[1]

---

1. "ताप के ताये हुए दिन" (त्रिलोचन) - पृ: 43.

त्रिलोचन को लगता है कि शब्द कभी कभी संप्रेषण में पूरी तरह सफल नहीं होते । जीवन को यहाँ - वहाँ कुछ कुछ देखा है । हमेशा एक ही ढंग से पहचान होना असंभव है, इच्छित रूप में अभिव्यक्ति भी असाध्य है ।

संप्रेषण की समस्या कवि की रचना प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण । कभी कभी शब्दों में उद्दिष्ट भाव भरने की कोशिश में कवि को निराश भी होना पडता है -

"शब्दों में उन अर्थों को मैं कैसे लाऊँ
जो आमों की टहनी-टहनी में फल बनकर
झूल रहे हैं, जंगल में देखा है तन कर
सिंह किस तरह चलता है, किस विधि से पाऊँ
धरती का-सा धैर्य दृगों में व्योम बसाऊँ,
फिर यह छवि उरेहता जाऊँ मन से छन कर
रूप और से और बनेंगे, तन मन धन कर
कैसे उसको मूर्त बनाऊँ और सजाऊँ ।"[1]

और एक कविता में त्रिलोचन ने रचना-प्रक्रिया की सूक्ष्म भूमिका का वर्णन किया है -

"देखी हैं वे मौन विचरनेवाली ध्वनियाँ
जो एकान्त क्षणों में जाने कहाँ कहाँ से
चल चलकर इन चिन्ताकुल आँखों के आगे
आकर ठहर ठहर जाती हैं, ये वे मणियाँ
हैं जो कभी नहीं मिलती हैं यहाँ वहाँ से
अनायास, जिसने पाया उसके दिन जागे"[2]

---

1. "शब्द" (त्रिलोचन) - पृ: 41.
2. वही - पृ: 16.

शब्द

प्रगतिवादी कवियों में त्रिलोचन एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने शब्द की आन्तरिक चेतना को पहचानने का प्रयास सफल रूप से किया है । उनका "शब्द" शीर्षक एक काव्यसंग्रह भी प्रकाशित है । कवि ने शब्द के जीवन्त, ऊर्जस्वल रूप को गहरे रूप से पहचान लिया है –

"शब्दकार, इन शब्दों में जीवन होता है
ये भी चलते फिरते और बात करते हैं,
तोष, रोष – जब जैसे भावों से भरते हैं
तब वैसे ही अर्थों का व्यंजन होता है,
शब्दों में भी हाड-मांस है, जीवन धर कर
वे भी जीवनधारियों के स्वरयंत्र संभाले
स्फुट, अस्फुट दो धाराओं में प्रवहमान हैं
रात और दिन-द्यावापृथिवी में विचरण कर
झलकाते हैं दुनिया के सब खेल निराले"[1]

त्रिलोचनजी शब्दों का साक्षात्कार करते हुए ही कहते हैं कि हे शब्दकार, शब्दों में तो जीवन होता है । जीवियों के समान शब्द भी चलते फिरते हैं और बातें करते हैं । शब्द स्वयं आनंद और रोष का भाव भरकर ही ऐसे अर्थों को प्रकट करते हैं । और एक पग भी आगे जाकर वे कहते हैं कि शब्दों में भी हाड-मांस है, वे जीवन धारण कर हमारे स्वरयंत्र को संभालते हुए उच्चारण में विभिन्न धाराओं में प्रवहमान होते हैं । शब्द ही रात-दिन आकाश और पृथिवी में विचरण कर दुनिया की सभी क्रीडाओं को प्रकाशित करते हैं । यहाँ त्रिलोचन शब्द को जीवन से अभिन्न मानते हैं ।

---

1. "शब्द" (त्रिलोचन) – पृ: 32.

और एक कविता में भी त्रिलोचन ने शब्द की इस तलाश के बारे में कहा है –

"शब्द शब्द से व्यंजित जीवन की तलाश में
कवि भटका करता है, उसकी यह आकुलता
समझ भी नहीं समझ सकी वह कौन अतुलता
है जो श्वासों के प्रवाह को मोह-पाश में
बाँधे हुए धरित्री या इस महाकाश में
कहीं स्थिर नहीं रहने देती कुछ तो खुलता
जो रहस्य है औरों से भी मिलता जुलता
कुछ तो होता रात और दिन के प्रकाश में"[1]

शब्द की तलाश कवि-मन की सबसे बडी उपेक्षा है । शब्द-शब्द में जीवन की जो व्यंजना होती है, उसकी खोज में कवि भटकता है । कवि की यह आकुलता कोई भी समझ नहीं सकता ।

त्रिलोचन शब्द की आत्मा से एकात्म हो गये हैं कि वे स्वयं अपने को शब्द से अभिन्न मानते हैं –

"मैं बहुत अलग कहीं और हूँ
खोज लो मैं कहाँ हूँ

मुझे शब्द शब्द में देखो
मैं कहाँ हूँ ।"[2]

त्रिलोचनजी अपने को शब्द-शब्द में पाने का विश्वास करते हैं। वे शब्द से कभी अलग नहीं है ।

---

1. "शब्द" (त्रिलोचन) – पृ: 35.
2. "ताप के ताए हुए दिन" – वही – पृ: 62.

"शब्द" से त्रिलोचन अक्सर जो संवाद करते हैं उसमें शब्द-मर्म से संबन्धित बडा अर्थ छिपा है

"बोले मुझसे शब्द - यहाँ से वहाँ, वहाँ से
और वहाँ तक मौन तरंगित हम चलते हैं
यह अपार आकाश हमारा अपना घर है
हम जीवन के भूल फूल सब कहाँ कहाँ से
कहाँ कहाँ चुपचाप डालते हैं जलते हैं
तभी अदम्य प्रकाश विश्व जीवन का वर है"[1]

उनसे शब्द कभी कभी कहते हैं कि वे कवि के साथ साथ इधर-उधर चलते रहते हैं । जीवन की व्यापकता को उन्होंने अपना घर बनाया है । विश्व-जीवन का अदम्य प्रकाश पाना ही उनका लक्ष्य है ।

एक अन्य कविता में त्रिलोचन ने शब्द के दो पटों के रूप में भाव और रूप की चर्चा की है -

"शब्दों के द्वारा जीवित अर्थों की धारा
मैं ने आज बहा दी है जिसके दो तट हैं
एक भाव का एक रूप का निकट निकट है
चाहे दूर दूर दिखते हो "[2]

कवि शब्दों में जीवित अर्थ का प्रवाह देखता है । इस धारा के दो तट हैं - भाव और रूप । वे यद्यपि दूर दूर लगते हैं, फिर भी निकट ही हैं ।

हिन्दी की प्रगतिवादी काव्यधारा में केदारनाथ अग्रवाल के बाद त्रिलोचन शास्त्री की कविता काव्यपरक चिन्तन की दृष्टि से संपन्न है । काव्य को वे जीवनानुभूतियों से उद्भूत मानते हैं । काव्य-विषय की साधारणता के बारे में वे बार बार बताते हैं । उन्होंने शब्द के बारे में सूक्ष्म और व्यापक चिन्तन किया है ।

---

1. "शब्द" (त्रिलोचन) - पृ: 66.
2. वही - पृ: 44.

श्री शिवमंगल सिंह "सुमन"

श्री शिवमंगल सिंह "सुमन" प्रगतिवादी चेतना के उत्कृष्ट कवियों में गिने जाते हैं । प्रगतिशील विचारों को वाणी देने के एक माध्यम के रूप में उन्होंने कविता को स्वीकार नहीं किया । बल्कि उनकी काव्यचेतना किसी भी वाद से परे है । उनकी कविताओं का अनुशीलन करते समय काव्य के सूक्ष्म पर्तों का स्पर्श करनेवाली कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनका संकलन इस प्रकार किया जा सकता है ।

सौन्दर्य विषयक धारणाएँ

प्रगतिवादी कवि सामान्यतः काव्य के कथ्य पर बल देता है और कथ्य में ही, सूक्ष्म सौन्दर्य-संबन्धी प्रश्नों पर विचार भी नहीं करता । पर शिवमंगल सिंह "सुमन" ने काव्य की आन्तरिक अनुभूतियों तक पहचान ली है । सौन्दर्य की स्वाभाविक गरिमा के बारे में उनकी एक कविता उल्लेखनीय है -

"सडी लाशों के बीच
सौन्दर्य सिसक रहा है बेगाना
कल बबूल फूले थे
आज फलियाँ निकल आयी हैं
आज नीम फूली-फली फिर रही है
कल अमिया गदराएगी
अभागे हैं वे जो
बिना फूले-फले ही झर गये

धूल सौन्दर्य को ढक सकती है
दबा नहीं सकती
लू झुलसा सकती है
जला नहीं सकती
एक झीनी फुहार काफी है
ज्वार नया लाने को ।"[1]

कवि का सौन्दर्य संबन्धी दृष्टिकोण यहाँ व्यक्त हुआ है । सौन्दर्य का बीज जहाँ वर्तमान है, वह समय पाकर अपनी छवि दिखाएगा । बाहरी कारणों से क्षणिक रूप से सौन्दर्य का आलोक कम हो सकता है, लेकिन वास्तविक सौन्दर्य का नाश कभी नहीं होता । सौन्दर्य एक सनातन सत्य है । यहाँ सौन्दर्य की अनश्वरता के बारे में उनका विचार मिलता है ।

कविता और मानव

प्रगतिवादी कवियों ने कविता में मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति को आद्यन्त स्थान दिया है । शिवमंगल सिंह "सुमन" की कविता ने मानव हृदय की आशाओं और अभिलाषाओं को विशेष रूप से वाणी दी है । "प्रलय-सृजन" में कवि अपने गीतों की गायिका से हृदय-उद्गारों की अभिव्यक्ति करने का उपदेश देता है -

"निर्बलों की आह है यह
समय सिन्धु प्रवाह है यह
अमर संचित अग्निमय
मानव हृदय की चाह है यह"

---

1. "मिट्टी की बारात" (शिव मंगल सिंह "सुमन") - पृ: 100.

इन निरीहों के स्वरों में, स्वर मिलाकर गा सकोगी ?
आज मेरे गीत, ओ स्वर साधिके ।
तुम गा सकोगी ?
ओ प्रणय-पथ के पथिक
नव स्फूर्ति मिलती है प्रलय से
आज कवि के गान कंठों से
नहीं, निकले हृदय से" ।

कवि अपने गीतों की गायिका से कहता है कि ये गीत निर्बल मानवों की आह का बहिस्फुरण है । मानव-हृदय की उज्ज्वल कामनाओं की अभिव्यंजना है । ऐसे निरीह मानवों के जो स्वर इसमें मुखर हैं, क्या तुम उनसे स्वर मिलाकर गा सकती हो ? प्रणय की राह पर चलते हुए भी इन गीतों की प्रलय-चेतना तुम्हें स्फूर्ति प्रदान करेगी । कवि का गान केवल कंठ से निकलता नहीं, बल्कि अब वह कवि के हृदय से ही फूट पडता है ।

सुमन के अनुसार, वाणी का वैदग्ध्य कवि को इसीलिए मिला है कि वह मानव के ही साथ रहे और उनके अनुभूत सत्य को आत्मसात् करके, अभिव्यक्त कर सके । वे लिखते हैं -

"अन्य मानव और कवि में है बडा कोई न अन्तर
मात्र मुखरित कर सके, मन की व्यथा,
अनुभूति के स्वर
वेदना असहाय हृदयों में उमडती जो निरन्तर
कवि न यदि कह दे उसे तो व्यर्थ का मिला वर
इसलिए ही मूक हृदयों में घुमडती विवशता को
मैं सुनाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ ।"[2]

---

1. "प्रलय-सृजन" (शिव मंगल सिंह "सुमन") - पृ: 7.
2. विश्वास बढता ही गया" - वही - पृ: 4.

अन्य मानवों से कवि का यही अन्तर है कि वह मन की व्यथा और अनुभूतियों को वाणी दे सकता है । असहायों के हृदय में उमडनेवाली वेदना को अभिव्यंजित करने के लिए ही कवि को वाणी का वैदग्ध्य मिला है । "सुमन" कहते हैं कि इसी कारण से वे भी विवश मानव-हृदयों को अपनी कविता में अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं ।

कविता और जीवन

शिवमंगल सिंह सुमन कविता को धरती की भूमिका पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । "विश्वास बढता ही गया" की भूमिका में उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया है -

"आसमान से टपकी हुई चीज का भी, बिना धरती के स्पर्श के कोई महत्व नहीं । बंजर धरती को उर्वर बनाने की चुनौती स्वीकारना ही सर्जक का सबसे बडा धर्म है ।"[1]

गरीबी और बेकारी की पीडा में तडपती हुई बंजर धरती को फिर उर्वरता देकर संतुष्ट करना कवि का ही कर्तव्य है । इस चुनौती को स्वीकार किए बिना ऊपर उठने की कोशिश करना बेवकूफी है । क्योंकि धरती के स्पर्श के बिना आसमान से गिरी वस्तु भी महत्व नहीं पाती । इसलिए धरती का जीवन कविता का सबसे प्रमुख आधार होना चाहिए ।

अपनी एक कविता में स्पष्ट शब्दों में यह उन्होंने मान लिया है

"इस मिट्टी के गीत सुनाना
कवि का धर्म सर्वोत्तम
अब जनता जनार्दन ही है
मर्यादा - पुरुषोत्तम ।"[2]

---

1. "विश्वास बढता ही गया" (सुमन) - भूमिका से
2. वही - पृ: 46.

कवि के जीवन में धरती की आवश्यकताओं का चित्रण करना सबसे बडी अमूल्य बात है । कवि के लिए जनता ही ईश्वर स्वरूप है । वही मर्यादा-पुरुषोत्तम है

अपने चारों ओर जो विडंबनाएँ और विभीषिकाएँ चल रही हैं, उसके साथ ही साथ कला और वाणी भी कुंठित हुई है । कवि यह व्यथा देखे बिना नहीं रह सकते ।

कला कुंठिता, वाक् अर्थ-हत
रुद्ध हो गयी कवि की वाणी,
इस विभीषिका पर संज्ञागत
जपता "कला कला" की माला
तो धिक् धिक् मानव-तन मेरा
निष्फल दग्ध हृदय की ज्वाला,
इतनी व्यथा देख यदि
वाणी में कहने की शक्ति न पाता,
तो मैं आत्मघात कर लेता,
अथवा सूरदास बन जाता"[1]

वर्तमान समाज का स्वरूप इतना विकृत हो गया है कि कला की शोभा नष्ट हुई है, वाणी में अर्थ नष्ट हो गया है, स्वयं कवि की वाणी ही निश्चल हो पडी है ।

लेकिन इन सारी विभीषिकाओं की ओर ध्यान दिये बिना "कला कला" का जप करते रहनेवाला कवि निर्दय ही है । "सुमन" सोचते हैं कि ऐसा करने से उनके कवि-हृदय की ज्वाला निष्फल होगी, उनका मानव-जन्म ही विफल हो जाएगा ।

---

1. "विश्वास बढता ही गया" (सुमन) - पृ: 90.

अपने समसामयिक जीवन की व्यथा देखकर भी उसको वे वाणी दे नहीं सको । तो उनका आत्महत्या करना ही अच्छा है ।

"अपने कवि से" शीर्षक कविता में भी वे सामाजिक कर्तव्य की याद दिलाते हैं -

"इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि - जीवन
तुम मध्यवर्ग के पोषित शिशु
अपने सपने ले खडे रहे
पर वे अपने युग की गति में
क्षण में डगमग हो ढहे बहे"[1]

जगत तो पतझर की शून्यता और जीर्णता लिए हुए है । फिर भी यह जीर्ण शून्य स्थिति देखकर भी वह उसके बीच सपने देखते हुए खडा हो गया है । वे मध्यवर्गीय लोग तो युग की परिस्थितियों के बीच अपना जीवन असह्य पाते हैं । इसलिए उनका जीवन ज़रूर अभिशप्त है । जीवन के लिए हित करनेवाला ही कवि कहलाने योग्य है ।

रचना प्रक्रिया

श्री शिवमंगल सुमन काव्य की रचना प्रक्रिया की परंपरागत धारणाएँ और मान्यताएँ कभी स्वीकार नहीं करते । पुराने ज़माने के काव्यालोचक कविता रचना को निश्चित तत्वों के अन्दर सीमित रखना चाहते हैं । लेकिन कवि अपने गीतों की रचना-प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म पाता है कि वे उसके बारे में कुछ भी नहीं सकते ।

---

1. "प्रलय - सृजन" (सुमन) - पृ: 10.

"याद नहीं कब मिली प्रेरणा
कब अनबूझ पहेली बूझी,
यह भी याद नहीं कब सहसा
मुझको कवि बनने की सूझी
इतना याद कि दो नयनों को देख
हो उठा था मन उन्मन
अनायास ही एक दिवस
सूने में हृदय कर उठा गुन-गुन"[1]

कवि बताते हैं कि उन्हें इसकी याद नहीं कि कविता लिखने की प्रेरणा कैसे प्राप्त हुई । यह सचमुच एक पहेली है जिसे समझना असंभव है । कवि को इतना ही याद है कि एक बार दो नयनों को देखकर हृदय उन्मन हो गया था । बाद में एक दिन हृदय से गीत निकलने भी लगा । यहाँ प्रेम की भावना से बेचैन मन उनके लिए गीत रचना का प्रेरक हो गया था ।

"क्या है उपादान कविता के
क्या अनुभूति-सिद्ध उसके गुण
कवि कैसे बन गया
पूछते हैं मुझसे अब आलोचक-गण
मैं खोया-सा उन्हें देखता
सोच रहा कैसे समझाऊँ
अलंकार लक्षण-ग्रन्थों के
ज्ञाता से कैसे बतलाऊँ"[1]

---

1. "विश्वास बढता ही गया" (सुमन) - पृ: 84.

हाय, अभाव तुम्हारा मुझको देता रहा सदा प्रोत्साहन,
इन गीतों के लिए तुम्हारा ऋणी
रहूँगा मैं आजीवन ।"[1]

आलोचक गण कवि से हमेशा एक प्रश्न पूछा करते है कि कविता के उपादान क्या है? उसके अनुभूति-प्राप्त गुण क्या क्या है? लेकिन इन प्रश्नों के सामने कवि को अवाक् रहना पडता है । क्योंकि अलंकार, छन्द, लक्षण आदि में निपुण उन पंडित आलोचकों की काव्य दृष्टि कवि की काव्य दृष्टि से बिलकुल भिन्न है । कवि मन ही मन यह सोचते हैं कि इन कट्टरवादियों का अभाव ही मेरे लिए काव्य रचना का प्रोत्साहन देता है । यहाँ काव्य के प्रति "सुमन" की धारणा प्रकट होती है । कवि सुमन काव्य को रूढियों और परंपराओं से भिन्न, स्वस्थ दृष्टि से देखना चाहते है ।

अभिव्यक्ति

संप्रेषणीयता कविता का सबसे उत्तम गुण है । अपने मन की संवेदनाओं की सफल अभिव्यक्ति कर पाना एक सफल कवि के लिए ही संभव है । इस अभिव्यक्ति की समस्या में कवि को कभी कभी आन्तरिक संघर्ष का अनुभव करना पडता है । सुमन की "सचमुच मुझको हैरानी है" शीर्षक कविता में यह हैरानी प्रकट होती है –

"कह देता स्नेह-शलभ अपना
अपनी ही झुलसी पाँखों से
जो मैं कविता में लिखता हूँ
तुम कह देती हो आँखों से
सचमुच मुझको हैरानी है ।"[2]

---

1. "विश्वास बढता ही गया" (सुमन) – पृ: 85.
2. "हिल्लोल" – वही – पृ: 52.

कवि को कभी कभी लगता है कि वे अपने आन्तरिक भाव पूरी तरह अपनी कविता में संप्रेषित नहीं कर पाते । प्रेम की तितली अपनी पाँखों से ही अपनी सारी बात कह सकती । तुम आँखों से बहुत सारी बातें संप्रेषित कर सकती हो । लेकिन मैं वही बात कविता में लिख नहीं पाता । यही मेरी विवशता है ।

सुमन के मत में, कवि की अपनी सीमाएँ हैं । पूरी सफल अभिव्यक्ति इच्छित रूप से कभी हो नहीं पाती ।

"कवि की अपनी सीमाएँ हैं
कहता जितना कह पाता है
कितनी भी कह डाले, लेकिन
अनकहा अधिक रह जाता है ।"[1]

कवि की संप्रेषण - शक्ति सीमित है । वह उतना कह पाता, जितना उससे हो सकता है । वह कितना भी कहे, फिर भी अधिक बातें अनकही रह जाती हैं ।

और एक कविता में वे संदेह प्रकट करते हैं कि क्या कविता पराजय हो जाती है ?

"मैं डूब रहा हूँ अपनी ही लय में
कविता जीती क्या सदा पराजय में ?"[2]

कवि को लगता है कि वे अपनी ही लय में स्वयं डूब रहे हैं । पराजय और दुःख में ही क्या कविता जीवित रहती है ?

एक अन्य कविता में भी अभिव्यक्ति की इस अपूर्णता को दूसरे शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है ।

---

1. "पर आँखें नहीं भरी" (शिवमंगल सिंह सुमन) - पृ: 50.
2. "मिट्टी की बारात" - वही - पृ: 72.

"गा डाले विरह आख्यान
गा डाले मिलन मधुगान
कुछ अभिशाप कुछ वरदान
फिर भी हृदय मेरा व्यग्र
फिर भी साध मेरी शेष
गाने को अभी अवशेष

अंबुधि में भरे हैं गान
अम्बर में भरे हैं गान
धरती में भरे हैं गान
कन कन में भरे हैं गान
जन जन में भरे हैं गान
कैसे मौन हो फिर हाय
मेरी श्वास का संदेश
गाने को अभी अवशेष"[1]

कुछ अवसरों पर सुमन को ऐसा लगता है कि अभी उन्हें अपने गीतों द्वारा बहुत कुछ कहना है । क्यों यह एक अतृप्ति होती है, यह उनको मालूम नहीं । क्योंकि उन्होंने कई प्रकार के गीत लिखे हैं । वे सोचते हैं कि मैं ने विरह-गान गीत लिखे हैं, मिलन के मधुर गीत लिखे हैं, अभिशाप और वरदान के गीत लिखे हैं, फिर भी मेरा हृदय व्याकुल होता है कि अभी बहुत गीत गाने के लिए बाकी हैं । मैं ने समस्त सृष्टि को अपने गीतों से भर दिया है । सागर-आकाश और धरती - भर, प्रपंच के कन कन में, दुनिया के जन जन में मैं ने अपने गीत भर दिये हैं । फिर भी मेरे मन में और कुछ गाने की व्याकुलता है । इस कविता में एक हृदयपूर्ण कवि की भाव-तीव्रता का पूरा आभास मिलता है

---

1. "प्रलय-सृजन" (शिवमंगल सिंह सुमन) - पृ: 85-86.

रचना-प्रक्रिया की कतिपय स्थितियों में भावों का आवेग इतना प्रबल होता है कि उन्हें कवि अपने अन्दर दबा नहीं पाता ।

"यत्न से कितने दबाये
था जिन्हें अब तक छिपाये
आज मेरे गान बरबस
कंठ में फिर उतर आये
आज मैं ने रख दिया है हृदय अपना चीर
मेरे गान तुम मत सुनो ।"[1]

कवि कहता है कि कितना कठिन प्रयत्न करके मैं ने अपने भावों को अभी तक दबाकर, छिपाकर रखा । लेकिन मेरे गान फिर भी कंठ में उतर आते हैं - हृदय चीरकर गान निकल पडते हैं ।

कवि की श्रेष्ठता

कवि सुमन की दृष्टि में काव्य और कवि का महत्व विश्व में अमर है । मिट्टी के समान कवि भी सारे परिवर्तनों के अतीत है -

"लेकिन मानव का फूल हिला, जबसे पाकर वाणी का वर
विधि का विधान लुट गया स्वर्ग अपवर्ग हो गये न्योछावर
कवि मिट जाता लेकिन उसका उच्छ्वास अमर हो जाता है
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है ।"[2]

सरस्वती का अनुग्रह पाकर मानव रूपी पुष्प खिल उठता है । वाणी के वर से विधि का विधान भी टल जाता है । स्वर्ग और मोक्ष भी वाणी के

---

1. "हिल्लोल" (शिवमंगल सिंह सुमन) - पृ: 69.
2. "पर आँखें नहीं भरीं" - वही - पृ: 35.

वरदपुत्रों के सामने न्योछावर होते हैं । कवि का जीवन क्षणिक है और इस दुनिया से वह चला जाता है । लेकिन उसका जो उच्छ्वास वाणी द्वारा यहाँ प्रकट हुआ है, वह अमर है । मिट्टी से बना उसका शरीर मिट्टी में अवश्य गल जाता है । लेकिन उसका आन्तरिक विश्वास, उसका काव्य-संकल्प विश्व के अन्त तक शाश्वत है ।

वादों के प्रति दृष्टिकोण

वर्तमान काल में प्रतिपल परिवर्तित काव्य संप्रदायों और आन्दोलनों के प्रति सुमन संदेह की दृष्टि रखते हैं ।

"छायावाद की छाया बडी शीतल थी
हर नारी अप्सरा
हर मनुष्य मेमना
प्रगतिवादी नारेबाज़ी में खो गया
प्रयोगवाद उछलते बारहसिंघे-सा
अपनी ही सींगों में उलझ गया,
बिम्बवाद प्रतिबिंबों के मुकुर में
विकलांगों के चित्र चीतने में सो गया
अस्तित्ववाद अपने अनस्तित्व में
किंपुरुषों का पेशा अपनाने में खो गया
एक मैं हूँ कि धुने जा रहा हूँ पुरानी रुंई"[1]

छायावादी कल्पना की शीतल छाया में सभी नारियाँ अप्सराएँ और सभी नर मेमने बन जाते थे । अर्थात् उसमें वायवी कल्पना की उडान थी । लेकिन

---

1. "मिट्टी की बारात" - (सुमन) - पृ: 75.

उसकी प्रतिक्रिया में जनमी हुई प्रगतिवादी काव्यधारा तो नारेबाजी में आत्मगत खो गयी । प्रयोगवाद ने तो अपने ही निर्मित वादों में उलझकर अपना रूपरंग विकृत किया । बिम्बवाद तो विकल बिम्बों की रचना में तल्लीन हो गया । अस्तित्ववाद भी नपुंसक-सा निरर्थक हो गया । केवल सुमनजी ही पुरानी परंपरा की लीक पर चलते रहते हैं ।

सुमन ने अपनी एक कविता में "अकविता" की निन्दा की है -

"देखते ही देखत
अकविता भी आ गयी
अपुरुष
अनारी
अनावृत"[1]

कविता को "अकविता" पुकारकर नवीनता दिखाने को तुले हुए नवीन कवियों की हँसी उडायी गयी है । वे कहते हैं कि उसमें जिस प्रकार कविता को "अकविता" बनाया है उसी प्रकार पुरुष अपुरुष और नारी अनारी के रूप में अनावृत हुई है ।

वेदना

सुमन की राय में कवि विश्व भर की वेदना को अपने अन्दर समाविष्ट करना चाहता है ।

"जब तक कवि की आँखें
विश्व के उर की व्यथा टटोल रही है -
लघु से लघुतम मानव उर का -
प्यार नहीं बन सकता निर्धन
छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन ।"[2]

---

1. "मिट्टी की बारात" (सुमन) - पृ: 63.

कवि की आँखें विश्व-भर के हृदयों की वेदना को अपनाने के लिए व्याकुल हैं । ऐसे कवि जब होंगे, तब एक लघुमानव के हृदय का प्यार भी विफल नहीं होगा । किसी भी प्रकार के संघर्ष से कवि का मन निराश नहीं होता ।

"विश्वास बढता ही गया" में वेदना को उन्होंने काव्य का प्राण माना है –

"मेरे उर में निहित व्यथा,
कविता तो उसकी एक कथा ।"[1]

अर्थात् कवि के उर में जो वेदना है वही उनकी कविता के रूप में बहती है । यह वेदना जीवन की निराशापूर्ण परिस्थितियों के दर्शन से उत्पन्न है । सिर्फ वैयक्तिक नहीं ।

उपर्युक्त पंक्तियों के अध्ययन से हम देख पाते हैं कि प्रगतिशील कवि शिवमंगल सिंह सुमन की कविता में काव्य चिन्तन को उचित स्थान मिला है । यद्यपि वह परिमाण की मात्रा में कम है, फिर भी काव्य-चिन्तनपर उनकी पंक्तियाँ काव्य से संबन्धित सूक्ष्म तत्वों का उद्घाटन करती है ।

---

1. "हिल्लोल" (शिवमंगल सिंह सुमन) – पृ: 22.

नागार्जुन

प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रतिभावान कवि नागार्जुन ने हिन्दी कविता को जनवादी चेतना से ओत-प्रोत करने में अपना अतुल्य योगदान दिया है । "भस्मांकुर", "तुमने कहा था", "युगधारा", "सतरंगे पंखोंवाली", "प्यासी पथराई आँखें", "हज़ार हज़ार बाँहोंवाली", "पुरानी जूतियों का कोरस", "रत्नगर्भ", "आखिर ऐसा क्या कह दिया मैं ने", "ऐसे भी हम क्या । ऐसे भी तुम क्या" - आदि अनेक काव्य संग्रहों में श्री नागार्जुन ने अपनी विशेष काव्य दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है । इन काव्यसंग्रहों में काव्य चिन्तन को व्यक्त करनेवाली पंक्तियाँ मिलती हैं ।

कवि का महत्व

नागार्जुन कवि कर्म को इतना उदात्त कार्य मानते हैं कि वह आराध्य के तुल्य है । अपनी एकाध कविताओं में श्री नागार्जुन ने कवि की श्रेष्ठता उद्घोषित की है । "प्यासी पथराई आँखें" शीर्षक काव्य संग्रह में इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है -

"वह तमस्तोम -
वह विकट गुफा का अन्तराल -
वह राहु - कवल -
वह अशुभ ग्रहों का पाप चक्र -
मानी क्या तुमने कभी हार ?
तुम रहे सदा ही दुर्निवार

मरू प्रान्तर को तुमने अन्तर का नीर दिया
कविता तपस्विनी को ज्योतिर्मय चीर दिया
रह गये प्रतीक्षा में सारे दिक्पाल किन्तु तुम नहीं झुके
तुम कडी साधना में दधीचि को जीत चुके
कोई आए तुमसे सीखे
वह द्वापर वाली शरशय्या की चुभन आज
आए कोई तुमसे सीखे
युग युग का हालाहल पीना
आए कोई तुमसे सीखे, यह रक्तदान
आए कोई तुमसे सीखे यह स्वाभिमान ।"[1]

यहाँ नागार्जुन कवि का अटल व्यक्तित्व चित्रित करते हैं । तम की निशिता या गुफा की विकट भयानकता या अशुभ ग्रहों का पाप चक्र कवि को जीवन में पराजित नहीं कर सकता । क्योंकि उसका अस्तित्व हमेशा दुर्निवार है । प्रतिकूल परिस्थितियाँ कवि अपनी अन्तः शक्ति से अनुकूल बना सकता है । मरु प्रदेश को कवि अपने अन्तः स्रोत से जल दे सकता है । कविता-रूपी तपस्विनी को वह उज्ज्वल वस्त्रों से अलंकृत करता है । कवि के प्रणाम की प्रतीक्षा में खडे दिक्पालों के आगे वह नहीं झुकता । अपनी कठोर साधना से वह दधीचि को भी हरा सकता है । कवि आशा करता है कि कोई उससे ही जीवन का तत्व सीख ले ।

---

1. "प्यासी पथराई आँखें" (नागार्जुन) - पृः 9.

नागार्जुन कविता की यह एकान्तता नष्ट करना नहीं चाहते । उनकी राय में एकान्त, तपोमय रचना प्रक्रिया से उद्भूत कविता मंच पर आकर उघाड दी जाती है । उनके शब्दों में - "कविता आत्मा की फुहार है और मंच पर पहुँचते ही इसका एकान्त टूट जाता है । उसे उघाड दिया जाता है ।"[1]

कवि और गुलामी

नागार्जुन कविता को प्रदर्शन की वस्तु बनाकर उसका मूल्य घटा देने में बडा अफसोस प्रकट करते हैं । उनके मत में, कवि जब प्रभुओं का गुलाम हो जाता है तो कविता का स्वरूप ही विकृत हो जाता है । "प्यासी पथराई आँखें" शीर्षक काव्य संग्रह में उन्होंने गुलामी के वश में पडे कवियों पर व्यंग्य किया है । "यह उन्मत्त प्रदर्शन" शीर्षक कविता में उन्होंने काव्य को भी लक्ष्मी की माया के अधीन बताया है -

चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दाने
चहक रहे हैं अन्दर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने
कला गुलाम हुई इनके, कविता पानी भरती है
सौ सौ की मेहनत इनकी मुस्कानों पर मरती है
चादी की बेटी है , कंचन का दूल्हा आया है
ऋद्धि - सिद्धि की थिरकन देखो, लक्ष्मी की माया है
सोने की स्याही में छपकर वेद- मंत्र खिलते हैं
कवियों की चिकनी वाणी में दूरवादल हिलते हैं ।"[2]

---

1. "आलोचना" (त्रैमासिक) - (नागार्जुन विशेषांक) - पृ: 231. जनवरी / मार्च / अप्रैल / जून 1981.
2. "प्यासी पथराई आँखें" - वही - पृ: 35.

एक अमीर के घर में शादी का प्रीति-भोज चल रहा है । अन्दर ये धनिक लोग हँसी - मज़ाक में डूबे हुए हैं । पर बाहर दीन-दलित गरीब आदमी जूठे पत्ते चाट रहे हैं । इन अमीर लोगों की प्रसन्नता सबसे बडी वस्तु मानी जाती है । कला और कविता इनके गुलाम बनकर, इनकी प्रसन्नता को लक्ष्य करके चलती है । इनकी मुतकुराहट के लिए कितनी मेहनत भी करने को लोग तैयार हैं । यहाँ सोने और चाँदी की उज्ज्वलता में वेद-मंत्र भी सोने की स्याही में छपते हैं । कवियों की वाणी प्रभुता की चकाचौंध में अपना पथ खो गयी है । यहाँ नागार्जुन जूठे पत्ते चाटनेवाले गरीबों का पर्वाह न करनेवाले, अमीर लोगों की चाटूकारिता में लीन कवियों पर कटु व्यंग्य करते हैं । कविता को जीवन की वास्तविकता पर ध्यान देना चाहिए । चाटूकारिता में आत्माभिमान खो देने से, कवि की मृत्यु ही अच्छी है ।

और एक कविता में नागार्जुन ने कवियों से प्रदर्शन - प्रधान कविता को खतम करने का उपदेश दिया है -

"प्लीज़, कवि महोदय,
बन्द करो अपनी बकवास
हाँ, यु. हू. स. सं. प्र. मं. की
गौरव गाथाएँ गुंफित करो
लोक प्रिय छन्दों में
टेसुआ ढरकाओ अपनी इन छुच्ची आँखों से
देर ही सही, अबेर ही सही,
"पद्म भूषण" का मैडल तुम्हें मिलना ही है न ।
"लीज़, कवि महोदय, अब भी होश में आ जाओ ।"[1]

---

1. "हज़ार हज़ार बाँहोंवाली" (नागार्जुन) - पृ: 185.

आजकल कवि राजनीति के क्षेत्र के महान सारथियों की गौरव गाथाएँ लोक प्रिय छन्दों में करते हैं और "पद्म भूषण" आदि के रूप में सम्मान पाने के लिए यत्न करते हैं । नागार्जुन इन कवियों से कह रहे हैं कि इन बकवासों से छुटकारा पाइए । देश के वातावरण के बारे में होश पाइए । उनके शब्दों में - "लेखक की पहली वफादारी देश के प्रति होती है ।"[1]

"कवि" शीर्षक कविता में छायावादी कवियों पर नागार्जुन ने खुली आलोचना करते हुए व्यंग्य किया है -

"कोटरगत नेत्र, धँसे हुए गाल
उदयशंकर कट के कुंतलीन बाल
गमन मराल का, चितवन चकोर की
कुहासा-सी भाषा साँझ की न भोर की
कलित कलकंठ, विकल वेदनामय गाना
पौरुष नदारद, स्त्रैण सवा सोलह आना
पहचाना फिर भी नहीं
देखा है ज़रूर कहीं
कौन हैं आप ?
शिव शिव । हरे हरे ।।
और कौन होगा अरे ।
मृदु - मसृण विधुवदनी छवि है
ढलते दिनमान का छायावादी कवि है

फलित नहीं, पुष्पित मात्र होकर
रह गया प्रेम हाय
शरीर संपर्क हीन ।।

---

1. "आलोचना" (त्रैमासिक) जनवरी / मार्च / अप्रैल / जून 1981 - पृ:230.

व्यक्तित्व के बोझ से दब रही देह दीन
परम प्रिय है चाय, कभी कभी ओवल्टीन
सुनते हैं हम-आप, बजती है हृदयबीन
चारों ओर जल-ही-जल फिर भी पिपासित मीन
सेक्स, तेरा बुरा हो
काट लूँ गला गर हाथ में छुरा हो
गला है मीठा, मन है तीत
रेडियो के लिए लिखते हैं गीत
पढते हैं एज़रा पाउण्ड - ईलियट
बाकी सबको समझते ईडियट
नाम है भारी, आमदनी हल्की
चिन्ता है कल की ।"[1]

इस कविता में कल्पना के स्वप्नमय जगत् में विचरण करनेवाले छायावादी कवियों पर व्यंग्य किया गया है । ये कवि वेदना की मूर्ति दिखाई पडते हैं । उनके कोटरगत नयन, धँसे हुए गाल और लंबा बाल-उनकी, शरीर के सुखों पर उदासीनता दिखाते हैं । हंस की चाल और चकोर की-सी व्याकुल आँखें, कलित कंठ के अलावा उनके गीत भी उनकी आन्तरिक वेदना को दर्शाते हैं । इनमें पौरुष की अपेक्षा स्त्रैण भाव ही मिलता है । ये कवि वादा करते हैं कि उनका प्रेम भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है , इसीकी आलोचना करते हुए नागार्जुन कहते हैं कि इन कवियों का प्रेम मात्र पुष्पित है, फलित नहीं । ये अपने को व्यक्तित्व के बोझ से दबे हुए मानते हैं । किसी अज्ञात वस्तु के लिए

---

1. "युगधारा" (नागार्जुन) - पृः 81-82.

मछली के समान तड़पते हैं । इनकी कविता तो रेडियो के योग्य है । एज़रा पाउण्ड इलियट जैसे पाश्चात्य विद्वानों से वे काव्य की प्रेरणा पाते हैं और दूसरों को मूर्ख समझते हैं । नाम भारी होकर भी इनकी आय हल्की है । इन्हें कल की चिन्ता सताती है । जीवन की कोरी वास्तविकताओं से मुँह फेरनेवाले छायावादी कवियों की काव्य चेतना के प्रति नागार्जुन की जो व्यंग्य-भरी दृष्टि है वही यहाँ झलकती है ।

नागार्जुन कवि की स्वतंत्र जनवादी चेतना पर अटल रहना चाहते हैं । वे अपने को जनकवि कहने में संकोच नहीं करते ।

"क्या चक्कर है -
जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ ?
जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ ?
नेहरू को तो मेरे हुए सौ साल हो गये
गृहमंत्री के सीने पर बैठा अकाल है
भारत-भूमि में प्रजातंत्र का बुरा हाल है ।"[1]

नागार्जुन ने "प्यासी पथराई आँखें" में "वे और तुम" शीर्षक कविता में कवि की मज़दूरों से तुलना की है । राष्ट्र-निर्माण के शिल्पी के रूप में कवि का स्थान ऊँचा माना गया है । लेकिन कवि आजकल यह पहचाने बिना रातों में डूब रहे हैं । इसकी वे इधर आलोचना भी करते हैं -

---

1. "हज़ार हज़ार बाँहोंवाली" (नागार्जुन) - पृ: 142.

"वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड रहे हैं
तुम सपने जोड रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन
उनींदी घडियों में चुरती है

वे हुलसित हैं
अपनी ही फसलों में डूब गये हैं
तुम हुलसित हो
चितकबरी चांदनियों में खोये हो
उनको दुःख है
नये आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुम को दुःख है
काव्य-संकलन दीमक चाट गए है ।"[1]

जब समाज के गरीब श्रमिक पसीने बहाते हुए लोहा पीट रहे हैं, तब कवि मन को विविध भाव-संघर्षों से पीट रहा है । जब मज़दूर पत्थर जोडने के काम में तल्लीन हैं, तब कवि सपने जोडते हुए समय खोता है । दलित, दीन, दुःखी मज़दूर अपने मन की घुटन और पीडा हँसी में, ठहाके मारकर दूर कर सकता है । लेकिन कवि तो अपनी घुटन में मग्न होकर उनींदा रहता है । गरीबी और यत्तनाओं के बीच भी मज़दूर और किसान हमेशा उल्लसित रहता है । अपनी फसलों के ख्याल में किसान का मन उल्लास पाता है । कवि तो चाँदनी से प्रकाशित रातों में अपने मन को उल्लसित करता है । किसान का दुःख जीवन की

---

1. "प्यासी पथराई आँखें" (नागार्जुन) - पृ: 54.

कटु वास्तविकता है । उदाहरण के लिए आम की मंजरियों को पाला मार जाता है तो किसान के लिए वह बडा दुःख है । लेकिन कवि का दुःख ऐसी वास्तविकताओं से परे है । उसका दुःख कृत्रिम है । उसके दुःख का कारण यही है कि काव्य-संकलन दीमक चाट गये हैं ।

यहाँ नागार्जुन की उदात्त काव्य-दृष्टि सुन्दर रूप से वाणी पा सकी है । जीवन की सच्चाइयों से पलायन करनेवाले स्वप्नजीवी कवि का, उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं ।

मानव-जीवन की इस व्यापक पृष्ठ भूमि पर उनकी कविता स्थित है । निम्नलिखित पंक्तियाँ कवि की इस व्यापक काव्य दृष्टि का परिचय कराती हैं

"लेखनी ही है हमारा फार
धरा है पट, सिन्धु है मसिपात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक गीत
क्योंकि हमको स्वयं भी तो तुच्छता का भेद है मालूम ।"[1]

कवि संपूर्ण धरा को अपना पट बनाकर, सागर-रूपी मसिपात्र की स्याही से जन-जन की जीवन-कहानी लिखना चाहता है । तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी भी से महत्वपूर्ण मानते हैं । क्योंकि उन्हें तुच्छता का भेद मालूम है । वे स्वयं जन-साधारण की सामान्य जीवनानुभूतियों से परिचित हैं ।

---

1. "आलोचना" - जनवरी-मार्च / अप्रैल-जून - 1981 - पृ: 28
(सं. नामवर सिंह).

शिल्प-पक्ष

प्रगतिवादी कवियों के लिए काव्य-भंगिमा या उक्तियों का चमत्कार कम महत्वपूर्ण है । श्री नागार्जुन ने भी काव्य के शिल्प-पक्ष को गंभीर चिन्तन का विषय नहीं माना है । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य के शिल्प-पक्ष के वे कम ज्ञाता थे । उन्होंने कहीं कहीं छन्द आदि के बारे में अपना सुदृढ मत प्रकट किया है ।

छन्दः

मुक्त छन्द के बारे में एक सामान्य धारणा है कि नियम बद्ध नहीं होने से कोई भी उसका प्रयोग कर सकता है । लेकिन नागार्जुन इस धारणा का खण्डन करते हैं -

"एक बात याद रख लो, सही मुक्त छन्द वही लिख सकते हैं जिन्हें छन्द शास्त्र का ज्ञान है । "मुक्त कविता अतुकान्त होने पर भी अपनी लय में छन्दोमयी ही लगती है ।"[1]

अर्थात् मुक्त छन्द लिखने के लिए छन्दशास्त्र का परिचय आवश्यक है । यद्यपि वह छन्द के बन्धन से मुक्त है, फिर भी उसमें छन्द-बद्ध कविता की-सी लय होनी चाहिए । इसीलिए वे आगे लिखते हैं -

"अतुकान्त कविता वही अच्छी लिख सकेगा, जिसे छन्द का पुख्ता ज्ञान हो ।

---

1. "आलोचना" (त्रैमासिक) जनवरी-मार्च / अप्रैल-जून - 1981 - पृः 231.
2. वही ।

यह स्पष्ट है कि नागार्जुन ने अपनी कविता में सामाजिक यथार्थ पर ही सबसे अधिक बल दिया है । लेकिन उन्होने अपनी कविता में बीच बीच में काव्य-मर्म से संबन्धित जो अमूल्य विचार प्रकट किये हैं, वे उनकी काव्य-मर्मज्ञता का परिचय करानेवाले हैं । कवि-कर्म में कवि की स्वतंत्र-चेतना की अनिवार्यता वे बार बार समझाते हैं ।

हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में, कवियों के लिए जीवन की ज्वलन्त समस्याओं का अंकन ही सबसे प्रमुख था । इसलिए काव्य के सामान्य तत्वों और सौन्दर्य पक्ष का चिन्तन उनकी कविताओं में बहुत कम मिलता है । प्रगतिवादी कवियों में केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन शास्त्री ने अपनी कविता में काव्य परक चिन्तन को विशेष स्थान दिया है । हिन्दी के काव्यचिन्तन के क्षेत्र में इन कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है ।

अध्याय - पाँच

प्रयोगवादी नयी कविता में काव्य-चिन्तन

कोई भी काव्यधारा शाश्वत नहीं हो सकती । जन-कल्याण को लक्ष्य बनाते हुए हिन्दी के प्रगतिवादी कवि कठोर यथार्थ का समर्थन और कलात्मकता का घोर विरोध करते हुए काव्य को केवल प्रचार के साधन बनाने लगे । 1943 में अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित "तारसप्तक" नामक काव्य संग्रह ने हिन्दी जगत् को एक नवीन काव्य -प्रवृत्ति से परिचित कराया जो "प्रयोगवाद" नाम से प्रसिद्ध हुई । "तारसप्तक" के सात कवि-अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजा कुमार माथुर, नेमीचन्द् जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे और राम विलास शर्मा - कविता के क्षेत्र में, युगों से बद्धमूल परंपराओं, रूढियों और काव्य-प्रयोगों को दूर करके नये काव्य-सत्य की खोज करना चाहते थे । काव्य के कथ्य तथा शिल्प के क्षेत्र में नये नये प्रयोगों के द्वारा एक स्वस्थ काव्य-दर्शन की तलाश करनेवाले इन कवियों की कविता प्रयोगवादी कविता कहलायी । 1951 में प्रकाशित "दूसरा सप्तक" तथा 1959 में प्रकाशित "तीसरा सप्तक" के आविर्भाव के साथ साथ यह नूतन काव्यधारा हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुकी थी यही नयी कविता के रूप में विकसित हुई ।

प्रयोग शील कवियों ने सप्तकों की कविताओं के साथ लिख गये वक्तव्यों तथा अपने आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रहों के द्वारा अपने काव्य-लक्ष्य को समझाने की कोशिश की । अज्ञेय के गद्यग्रन्थ जैसे "त्रिशंकु", "आत्मनेपद", "आलवाल' तथा मुक्तिबोध की आलोचनात्मक रचनायें जैसे "नयी कविता का आत्म संघर्ष", "नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र" आदि इस दृष्टि से स्मरणीय है । इन नये कवियों ने अपनी कविताओं के बीच बीच में भी काव्यपरक विभिन्न विषयों का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत किया है । नयी कविता की आन्तरिक चेतना की पहचान प्रस्तुत करनेवाली इन काव्य चिन्तनपरक कविताओं का अध्ययन इस अध्याय में किया जाता है ।

अज्ञेय

आधुनिक हिन्दी कविता में अज्ञेय का नाम युगपुरुष के रूप में उल्लेखनीय है । प्रयोगशील नयी कविता के प्रवर्तक प्रतिनिधि कवि और आचार्य के रूप में वे अधिक चर्चित हैं । काव्य के आन्तरिक, निगूढ रहस्यों की खोज ही उनके जीवन की परम साधना थी । इसलिए अपनी काव्य रचनाओं के द्वारा उस मनीषी ने काव्यगत तत्वों का गहन विश्लेषण किया है । "आत्मनेपद", "त्रिशंकु", "भवन्ती", "आलवाल" जैसी आलोचनात्मक रचनाओं में अज्ञेय के चिन्तन-मनन की उपलब्धियाँ वर्तमान हैं । लेकिन उनकी काव्य कृतियों की अनेक कविताएँ भी उनके काव्यगत चिन्तन की उपलब्धियों के रूप में पठनीय हैं ।

कविता क्या है

प्राचीन काल से ही कविता की परिभाषा की गयी है । "त्रिशंकु" में अज्ञेय कला को संपूर्णता से संबन्धित मानते हैं - "कला संपूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है ।"[1] अज्ञेय की कलासंबन्धी धारणा आध्यात्मिक प्रकृति से युक्त हैं । अज्ञेय ने इसी भावभूमि पर खडे होकर काव्य का स्वरूप भी समझाया है । अज्ञेय काव्य-सत्य के प्रति पूर्णा: समर्पित हैं । मंत्रद्रष्टा ऋषि के समान वे काव्य सत्य का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं -

"तू काव्य
सद्वेष्टित यथार्थ चिर-तनित
भारहीन गुरु अव्यय
तू छलता है
पर हर छल में तू और विशद
उद्भ्रान्त अनूठा होता जाता है ।"[2]

---

1. "त्रिशंकु" (अज्ञेय) - पृ: 31.
2. "आंगन के पार-द्वार" - वही - प: 57.

इन पंक्तियों में अज्ञेय अर्थपूर्ण शब्दों में काव्य सत्य का साक्षात्कार करते हैं । सत्य को सम्मुख देखकर कवि कहता है कि हे सत्य । तू काव्य है । काव्य का यह यथार्थ सत् या सत्य से वेष्टित है और चिर व्यापी है । सत्य गुरु भारपूर्ण है लेकिन भारहीन लगता है । सत्य तो काव्य में आकर कपट रूप धारण करता है । उसका स्वरूप और भी विशद हो जाता है । लेकिन यह सत्य छलकर भी उसका सौन्दर्य अनूठा हो जाता है ।

कविता में कवि के दिल का रहस्य उद्घाटित होता है । "सागर-मुद्रा" में वे लिखते हैं -

"कविता तो
ऐसी ही बात होती है ।
नहीं तो लयबद्ध बहुत-सी खुराफात होती है ।
भीतर का जलता प्रकाश बाहर लाती है
स्वयं फिर नहीं देखती, और सब कुछ दिखाती है,
उसी सबमें कहीं
कवि को भी साथ लेकर
लय हो जाती है ।"[1]

कवि के भीतर का जलता प्रकाश कविता के रूप में बाहर स्फुरित होता है । वह प्रकाश सबकुछ दिखा देता है । उसमें कवि भी विलीन हो जाता है । यहाँ कविता और कवि की अद्वैत स्थिति वे मानते हैं ।

कवि यों ही कविता नहीं लिख सकता । कितने ही तत्वों के सुरम्य स्रोत काव्य-स्रोतस्विनी बहाने में सहायक होते हैं -

---

1. "सागर-मुद्रा" (अज्ञेय) - पृ: 93.

"किसीका सत्य था,
मैं ने संदर्भ में जोड दिया ।
कोई मधु-कोष काट लाया था,
मैं ने निचोड लिया ।
किसीकी उक्ति में गरिमा थी
मैं ने उसे थोडा-सा सँवार दिया,
किसीकी संवेदना में आग का- सा ताप था
मैं ने दूर हटते - हटते उसे धिक्कार दिया ।
कोई हुनरमन्द था
मैं ने देखा और कहा, "यों" ।
थका भारवाही पाया -
घुडका या कोंच दिया, "क्यों" ?
किसीकी पौध थी,
मैंने सींची और बढने पर अपना ली,
किसीकी लगायी लता थी,
मैं ने दो बल्ली गाड उसीपर छवा ली ।
किसीकी कली थी
मैं ने अनदेखे में बीन ली,
किसीकी बात थी
मैं ने मुँह से छीन ली ।
कहीं बडे गहरे में
सभी स्वैर हैं , नियम,
सभी सर्जन केवल
आँचल पसारकर लेना ।"[1]

---

1. "आंगन के पार द्वार" (अज्ञेय) - पृ: 33.

अज्ञेय बताते हैं कि सर्जन तो "आँचल पसारकर लेना" है । किसीका सत्य, कवि ने संदर्भ में जोड दिया । किसीका मधु-कोष उसने निचोड लिया । किसीकी गरिमा को उसने सँवार दिया, किसीकी आग-सी संवेदना को उन्होंने धिक्कार दिया । किसीका पौधा जब बढ गया तो उसने अपना लिया, किसीकी कली थी, उसने बीन ली । किसीकी बात को उसने मुँह से छीन ली । इस प्रकार किसी ही बाहरी उपादान सम्मिलित होकर कविता के रूप में अवतरित हुए । यहाँ कवि स्वीकार करते हैं कि कविता केवल कवि की एकान्त भावभूमि से उतरती नहीं । वह बाह्य प्रकृति की विराटता से अपने प्रेरक तत्व पाती है ।

और एक कविता में कवि-कर्म की व्याख्या करते हुए रचना के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करते हैं -

"मैं कवि हूँ
द्रष्टा, उन्मेष्टा,
सन्धाता,
अर्थवाह
मैं कृतव्यय ।
मैं सच लिखता हूँ
लिख लिखकर सब
झूठा करता जाता हूँ ।"[1]

ब्रह्म के बारे में कहा जाता है कि ब्रह्मानुभूति अवर्णनीय है । अनुभूति के धरातल से उतरकर भोक्ता जब उसे वर्णन करने लगता है तो उसका सारा माधुर्य नष्ट हो जाता है । उसके स्वरूप का ठीक बोध भी नहीं हो सकता । उसी प्रकार अज्ञेय काव्य के बारे में कहते हैं कि कवि सत्य का द्रष्टा है, लेकिन सच के बारे में लिखते समय वह झूठा हो जाता है । काव्य तो हमेशा आच्छादित सत्य है, उसका अनूठा रूप होता है ।

---

1. "आँगन के पार द्वार" (अज्ञेय) - पृ: 57.

काव्य की रचना-प्रक्रिया, कवि की सृजन की मनोभूमि, रचना और रचनाकार का आपसी संबन्ध इत्यादि काव्य रचना से संबन्धित कई बातों का उद्‌घाटन करती है "एक सन्नाटा बुनता हूँ" शीर्षक कविता ।

"पहले मैं एक सन्नाटा बुनता हूँ ।
उसीके लिए स्वर-तार चुनता हूँ ।
पाता हूँ कि मेरा मन ही तो गिर्री है, डोरा है
इधर से उधर, उधर से इधर, हाथ मेरा काम करता है
नक्शा किसी और का उभरता है ।

क्योंकि मैं जब पहचानता हूँ तब
अपने को उस जाल के बाहर पाता हूँ ।
फिर कुछ बँधता है जो मैं न हूँ पर मेरा है,
वही कल्पक है ।"[1]

अज्ञेय की "हमने पौधे से कहा" शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध है । वे उसमें काव्य रचना की आन्तरिक भूमि के बारे में कहते हैं । ऊपर हम जो देखते हैं, उससे बिलकुल भिन्न एक धरातल है उसकी रचना-प्रक्रिया । उनके अनुसार सर्जक सत्य या यथार्थ से जूझता है, उसे तपाता है, गलाता है । जैसे -

"हमने फिर कवि से भी कहा:
बन्धु, हमें काव्य दो ।
किन्तु तुम (नभचारी ।) मिट्टी की ओर मत देखना,
किन्तु तुम (गतिशील) जड़ें मत छोडना,
किन्तु तुम (प्रकाश-सुत ।) टोहना न कभी अंधकार को

---

1. "पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ" (अज्ञेय) पृ: 11-12.

किन्तु तुम (रससिद्ध) कर्दम से नाता मत जोडना,
किन्तु तुम (ओ स्वयंभू) पुष्टि की अपेक्षा मत रखना ।

गहरे न जाना कहीं
आँचल बचाना सदा,
दामन हमेशा पाक रखना
पंकज-सा पंक में
कंज- पत्र में सलिल - सा
तुहिन की बून्द में प्रकम्प हेम-शिरा सा
असंपृक्त रहना ।"[1]

इसमें पौधे को आधार बनाकर कहा गया है कि जो कुछ अशुचि और उच्छिष्ट उसे मिलता है, उसे सडा, गला और पचाकर वह सृजन करता है । इसलिए उसे सब रस है और वह हमें सुन्दर फूल देता है । कवि भी वही है जो अशुचि और अशिव को अपने अनुभव की भट्ठी में इसीप्रकार पचाकर काव्य रूपी सुन्दर फूल दे । यह स्थापित करके व्यंग्यपूर्वक वे कहते हैं कि कवि खाद बननेवाली वस्तुओं से दूर ही रहना चाहता है तथा समीक्षक उनसे "फूल" माँगते हुए उन्हें इसी प्रकार इन जीवन-वस्तुओं से दूर रहने की सलाह देते हैं । जो मिट्टी के नीचे क्रियाशील पौधे की जड को धरती से रस खींचते देखकर भी सृजन की वास्तविकता नहीं समझ पाते और पलायनवादी तथा विशिष्ट सुविधा जीवी के रूप में जीवन-कर्दम में गहरे जाने से कतराते हैं । पौधे की सर्जना, साधना मूलतः सत्यं, शिवं, सुन्दरं का प्रतीक है जो कला का प्राण-तत्व है ।

"कितनी शान्ति । कितनी शान्ति ।" शीर्षक कविता में भी रचनाकार का आन्तरिक संघर्ष वे व्यक्त करते हैं । "अपने अन्तर्गुहावासी" की अस्थिरता पर कवि निराश है । पर विश्वास के साथ आगे बढना चाहता है

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 85-86.

"गूँजती ही रही है दुर्दान्त एक पुकार -
कहाँ है वह लक्ष्य श्रम का - विजय जीवन की -
तुम्हारा प्रतिश्रुत वह प्यार ।
हरहराते ज्वार-सा बढ सदा आया एक हाहाकार ।
अहं अन्तर्गुहावासी । स्व-रति । क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह ।
जानता हूँ । नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने
स्वयं का दान,
विश्वजन की अर्चना में नहीं बाधक था
कभी इस व्यष्टि का अभिमान ।"[1]

यहाँ कवि स्व और आत्मत्व की घोषणा करता है । अपनी मूल सत्ता, मौलिक व्यक्तित्व को अज्ञेय ने "अन्तर्गुहा का मैं चिरप्रवासी" कहकर संबोधित किया है । अपार शांति में भी यह अन्तवर्ती सत्ता गतिशील रहती है । उसकी इस गति को अज्ञेय ने असंख्य बाधाओं को पार करते हुए इष्टदेवता की ओर अक्लान्त बढनेवाले भक्त की साधना और निष्ठा से उपमित किया है । यह यात्रा स्वयं ही विशिष्ट है । जीवन और उसके बोध की स्थिति इस यात्रा में ही है । उनका यह अन्तवर्ती ही उनका सबसे बडा प्रेय है । पर यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि व्यक्तित्व को सम्मान देकर भी वे व्यापक जीवन से विच्छिन्न नहीं है । व्यापक के प्रति अपने कर्तव्य में उनकी ओर से कोई शिथिलता नहीं । किन्तु इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए अपने अन्तरंग व्यक्तित्व के प्रति समर्पित होना आवश्यक है ।

---

1. "पूर्वा" (अज्ञेय) - पृ: 200.

"स्रोत और सेतु" मे भी अज्ञेय ने काव्य के सत्य को ममेतर माना है -

"कलाकार और कवि का सत्य विषयी का सत्य है । कलाकार एक विशेष रूप से संवेदनशील और ग्रहणशील यंत्र है जिसके लिए सत्य "विषयी का सत्य" होकर भी केवल उसका अपना सत्य नहीं है बल्कि दूसरे का सत्य भी है , केवल मग नहीं ममेतर का सत्य भी है ।"[1]

"हरी घास पर क्षण भर" की एक कविता में अज्ञेय ने काव्य रचना से संबन्धित एक महत्वपूर्ण बात समझायी है -

"सुनो कवि । भावनाएँ नहीं है सोता, भावनाएँ खाद हैं केवल ।
ज़रा उनको दबा रखो -
ज़रा-सा और पकने दो, ताने और तचने दो
अंधेरी तहों की पुट में पिघलने और पचने दो ,
रिसने और रचने दो -
कि उनका सार बनकर चेतना की धरा को
कुछ उर्वरा कर दे ,
भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे
लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे ।
कवि, हृदय को लग गयी है ठेस[1] धरा में हल चलेगा ।
मगर तुम तो गरेबाँ टोहकर देखो
कि क्या वह लोक के कल्याण का भी बीज तुममें है ?"[2]

---

1. "स्रोत और सेतु" (अज्ञेय) - पृ: 15.
2. "सदानीरा" - भाग-1 (वही) पृ: 234.

भावना बहा देने की वस्तु नहीं । उसे ऐसा समझनेवाले कवियों को शिक्षा देते हुए अज्ञेय कहते हैं कि भावनाएँ स्रोत न होकर खाद हैं, जो क्रमशः बचकर चेतना की भूमि को कुछ उर्वरा बना देती है । उनका उद्‌गार करने के बदले उन्हें धीरे धीरे हृदय में संसिक्त होने देना चाहिए । लोक कल्याण के पथ पर अग्रसर होना ही काव्य-संवेदना का ध्येय होना चाहिए । जीवन द्वारा भोगी हुई अनुभूतियाँ काव्य रचना की दृष्टि से कच्चे माल की तरह हैं, जिन्हें सर्जक-प्रतिभा "कूट-पीस छन-सान जला-पका कर" रचना का रूप दे देती है । सर्जक प्रायः सृजन की तीव्र इच्छा से पीडित रहता है, जब तक वह रचना को जन्म न दे दे तब तक वह उसकी प्रसव-पीडा सहता है ।

अज्ञेय ने कविता के लिए अनुभूति का खरापन और उस अनुभूति में अपने को जला कर खाक कर देने का भाव स्वीकार किया है । वे कवि और कविता की अद्वैत भूमि के उपासक हैं । उनके अनुसार कवि और कविता एक ही धर्म के गाथाकार हैं, पूरक हैं, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं -

"पर कोई यह तो बताये
कि क्या कवि
वह नहीं कि जिसे पता है
कि मैं ही वह वनानल हूँ
जिससे मैं ही
अनुपल जलता हूँ
ऐसा होगा तो
कि फिर मिल जायेंगी दोनों राहें

कवि नहीं करेगा
कवि को घेर लेंगी
वरण की बाहें ।
पर कौन कहेगा कि कवि
तब भी कवि रहेगा
जब साधक के भीतर
प्रपात की धार सा
एक ही गुंजार करता
अद्वैत
बहेगा ।"[1]

अज्ञेय ने यह स्वीकार कर लिया है कि जब अद्वैत भाव में दोनों बहेंगे तो कवि का कविता में विलयन हो जाएगा । वे मानते हैं कि साधक के भीतर प्रपात की धारा के समान अद्वैत बहता है एक कविता में अज्ञेय उपमान के माध्यम से प्रश्न करते हैं कि कविता कौन लिखता है ?

"यों कविता लिखी जाती है
पर कौन लिखता है ?
तस्कीन पाता हुआ मैं
या कि कनपटी से चिपटी जोंक
(जब वह अघा जाती है)
या कि कागज़ पर खिंचा हुआ
मेरा लहू ?"[2]

---

1. "पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ" (अज्ञेय) - पृ: 69.
2. "अन्तरा" - वही - पृ: 98.

जोंक द्वारा उपचार एक प्रकार की रक्त-शोधन की प्रक्रिया है । जोंक का चिपकना, रोगी को तस्कीन मिलना, जोंक का झरकर गिर पडना तथा रक्त बिखेर देना ही वह स्थितियाँ हैं जिनका काव्य-प्रक्रिया से संबन्ध है । स्थाकार ग्रहण करती अभिव्यक्ति ही जोंक का मोटा होना है और अन्तस् में उसका सही रूप ग्रहण कर लिया जाना ही जोंक का मोटा होना है । सही अभिव्यक्ति के मिलने से कवि को सन्तोष का अनुभव होता है । कागज़ पर लिखा जाना ही जोंक द्वारा रक्त बिखेर देना है । तात्पर्य यह कि काव्य-रचना में कवि जिस पीडा से गुज़रता है, वह कविता लिखने पर शान्त होती है । परन्तु मूल प्रश्न है कि कविता कौन लिखता है? इसका उत्तर है कि उपर्युक्त सभी स्थितियाँ काव्य-सृजन के चरण हैं परन्तु कविता तो अनुभूति ही लिखती है जो इस सृजन प्रक्रिया के पूर्व की स्थिति है ।

काव्य सृजन में कवि को काल के विरुद्ध खडा होना पडता है अर्थात् अनुभूति के क्षणों को पकडना पडता है जो एक संघर्ष है –

"काल और मैं
भाषा और मैं
कविता और मैं
हममें सदा रहती है ठनी ।"[1]

अनुभूति के क्षण को पकडकर उसे भाषा रूप देना, यह भी एक संघर्ष है । जितनी देर तक यह प्रक्रिया चलती है उतनी देर तक क्षण की पकड ढीली न हो जाय, यह भी संघर्ष ही है और यही कवि और कविता के मध्य का संघर्ष है ।

कविता में कवि के व्यक्तित्व के समाहित होने के बारे में उन्होंने और एक जगह लिखा है

---

1. "अन्तरा" (अज्ञेय) – पृ: 120.

"तुम तुम हो, मैं क्या हूँ'
ऊँची उडान, छोटे कृतित्व की लंबी परंपरा हूँ,
पर कवि हूँ, स्रष्टा, द्रष्टा, दातः
जो पाता
हूँ अपने को भट्ठी कर उसे गलाता चमकाता हूँ
अपने को मट्टी कर उसका अंकुर पनपाता हूँ
पुष्प-सा, सलिल-सा, प्रसाद-सा,
कंचन-सा, शस्य-सा, पुण्य-सा
अनिर्वच आह्लाद-सा लुटाता हूँ
क्योंकि तुम हो ।"[1]

यहाँ अज्ञेय अपने को छोटे कृतित्व की लंबी परंपरा मानते हैं । वे स्वीकार करते हैं कि कवि स्रष्टा, द्रष्टा ही नहीं दाता भी है । वह काव्य-रचना में अपने को भी गलाकर चमकाता है । अपने को मिट्टी में मिलाकर उससे युग-कल्याण के अंकुर पनपाता है । आत्मनाश से पुष्प, जल, प्रसाद, स्वर्ण, शस्य और पुण्य के समान अवर्णनीय आह्लाद प्रदान करता है । क्योंकि विराट् सत्य के सामने स्वयं समर्पित होना कवि का धर्म है ।

"एक क्षण भर और
रहने दो मुझे अभिभूतः
फिर जहाँ मैं ने संजो कर और भी सब रखी हैं
ज्योतिः शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना
शान्त तेजोरूप ।

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 46-47.

एक क्षण भर और
लंबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते ।
बून्द स्वाति को भले ही
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र, जिससे फोडता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को पकते ।"[1]

रचनाकार उन्हीं सार्थक क्षणों में सृजनरत हो सकता है जो उसे अभिभूत कर लें । काव्य-रचना के लिए एक विशिष्ट भाव या सूझ क्षण-मात्र में मिलती है । संवेदनशील सर्जक उस क्षण-विशेष में अपने को आलोकित और भरा हुआ महसूस करता है । जिस तरह स्वाति-बून्द सीपी के मर्म को तेजी से बेधती है उसी तरह तीव्र अनुभूति कुछ क्षणों के लिए कलाकार को अभिभूत कर लेती है, वही असली सृजन के क्षण है । अनुभूति के क्षण सर्जना के क्षण की ही भाँति होते हैं । अनुभूति भी साधक को एकदम से विभार कर देती है और फिर शान्त रूप होकर मन में बस जाती है, वही पकती है, फलती है ।

काव्य साधना

प्रतिभावान कवि हमेशा काव्य के समक्ष एक साधक का रूप धारण करता है । अज्ञेय ने "असाध्य वीणा" नामक कविता में काव्य को विश्व व्यापी अनादि सत्य और कलाकार को उस विराट् सत्य के सामने नतमस्तक खडा विनम्र साधक माना है । वज्रकीर्ति की मन्त्रपूत वीणा के आगे विनम्र होते हुए प्रियंवद कह उठता है -

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 101.

"राजन् । पर मैं तो
कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ -
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी"।

वह अनुभव करता है कि उस तरु-तात की गोद में वह एक बालक है - वह उससे कहता है -

"तू गा
मेरे अंधियारे अन्तस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का -
तू गा, तू गा, तू गा ।

आ, मुझे भुला,
तू उतर बीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा -
"2

प्रियंवद यह नहीं मानता कि अपनी क्षमता से वह असाध्य वीणा बजा सके । लेकिन वह अहंकार-विमुक्त होकर अपने को विराट् किरीटी तरु के सामने समर्पित करता है और उससे अतिशय विनम्रता के साथ प्रार्थना करता है कि मेरे अन्तःकरण में तुम्हीं आलोक जगा दे । वीणा के तारों में स्वरधारा होकर तुम्हीं बह जाओ । वन की समस्त प्राणियों और तरुलताओं की चेतना अपनाते हुए यहाँ सन्निधि पावे ।

---

1. "आंगन के पार द्वार" (अज्ञेय) - पृ: 77.
2. वही - पृ: 80.

अंत में वीणा के गा उठने पर महान साधक कलाकार प्रियंवद कहता है

"श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सबकुछ को सौंप दिया था -
सुना आपने जो वह मेरा नहीं
न वीणा का था ,
वह तो सबकुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है ।"[1]

प्रियंवद को यही अनुभव होता है कि वीणा के गा उठने में उसका अपना हाथ नही बल्कि वीणा के माध्यम से अपने को "सबकुछ" को सौंपकर वह महाशून्य में डूब गया था । वीणा के माध्यम से उसी विराट् का गान सबने सुना । इस संगीत को प्रियंवद महामौन, महाशून्य, शब्दहीन, अप्रमेय और अविभाज्य तत्व मानता है । यहाँ अज्ञेय संगीत या कला को विराट् चेतना से उद्भूत मानने का विचार प्रस्तुत करते हैं । कलाकार तो सत्यान्वेषी साधक के समान विराट् सत्य के सामने समर्पित है । यही कला की चरम सफलता है ।

"बावरा अहेरी" में अज्ञेय विराट् सत्ता के सामने अपना विनम्र भाव व्यक्त करते

---

1. "आंगन के पार द्वार" (अज्ञेय) - पृ: 87.

"मेरा भावयन्त्र ?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड तुम्हारा दान -
साध्य नहीं मुझसे, किसीसे चाहे सधा हो ।
आज नहीं,
कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाये
यह आग मैं रहूँगा ?
आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा ।"[1]

विराट् सत्य का दान स्वीकार करने में कवि अपने क्षुद्र भाव-यंत्र को अयोग्य मानता है । सूखी मचिया के समान यह निर्बल है । कवि के अन्दर जो भाव हैं उनको कैसे छाती में, किस समय तक दबाये रखे, इसके बारे में भी वह नहीं जानता । इसलिए कवि प्रार्थना करता है कि आज तुम शब्द न दो ।

दान वह मेरा एक तुम्हींको है ।
यह एकोन्मुख तिरोभाव -
इतना -भर मेरा एकान्त निजी है -
मेरा अर्जित
वही दे रहा हूँ
ओ मेरे राग-सत्य ।
मैं
तुम्हें ।"[2]

---

1. "बावरा अहेरी" (अज्ञेय) - पृ: 12.
2. "सुनहले शैवाल" - वही - पृ: 9.

कवि अपने राग-सत्य के सामने सबकुछ दान करना चाहता है । जो कवि का निजी, अर्जित है वह देकर वह "एकोन्मुख तिरोभाव" चाहता है । कवि राग सत्य के सामने साधक के समान समर्पित होता है ।

"सूर्यास्त" नामक कविता में वे इस साधकभाव को व्यक्त करते हैं -

"स्वयं उसी भैरव सौन्दर्य-नदी में बह जा ।
नीरवता द्वारा अपनी असफलता कह जा ।
निरुद्वेग, मीठे विषाद में चुप ही रह जा
इस रहस्य अपरिमेय के आगे
आदर से नतमस्तक रे कवि ।"[1]

अज्ञेय अपने अन्दर के कवि से उस विराट् सत्य के भैरवसौन्दर्य में बह जाने, अपनी असफलता का नीरव संप्रेषण करने, असीम रहस्य के आगे, मीठे विषाद से युक्त होकर नतमस्तक होने का उपदेश देता है ।

कवि का सृजन-कर्म अमानवीय है । उसके पीछे एक अलौकिक हाथ होता है -

"पर वह आएगा
यह सोच भी तो मेरे रोम उमगती है
यही आस्था मेरी कल्पना जगाती है,
मेरी उँगलियों को कँपाती है
मैं नहीं गाता, गीत मुझमें गाया जाता है,
जिसके साथ
मैं नहीं साधता तानपूरा, मेरे हाथों
वह सधाया जाता है ।"[2]

---

1. "सुनहले शैवाल" (अज्ञेय) - पृ: 30.
2. "क्योंकि मैं उसे जानता हूँ" - वही - पृ: 3.

किसी रहस्यवादी साधक के समान अज्ञेय अहं की सीमित सीमा से ऊपर उठने की चेष्टा करते हैं । वे कहते हैं कि विराट् प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कवि को आनंद-पुलकित करती है । इसी सोच में उसकी उँगलियाँ काँपती हैं । कवि को लगता है कि गीत वह स्वयं प्रयत्नपूर्वक नहीं गाता, बल्कि संगीत का आधार नाद-तत्व उसके माध्यम से प्रवाहित होता है ।

"कवि, एक बार फिर गा दो ।
एक बार इस अंधकार में फिर आलोक दिखा दो ।
अब मीलित हैं मेरी आँखें पर मैं सूर्य देख आया हूँ ,
आज पडी है कडियाँ पर मैं कभी भुवन भर में छाया हूँ ,
उस अबाध आतुरता को कवि, फिर तुम छेड जगा दो ।

अभी शक्ति है कवि, इस जग को धूली-सा
अंजुली में लेकर
बिखरा दूँ, बह जाने दूँ, या रचूँ किसी नूतन की लय पर ।
तुम मुझको अनथक कृतित्व का भूला राग सुना दो ।
कवि, एक बार फिर गा दो ।"[1]

अज्ञेय कवि से प्रार्थना करते हैं कि अपने कृतित्व से जग के अंधकार को आलोक में परिणत कर दो । अज्ञेय परम तत्व के सामने एक बार भी अपने को समर्पित करना चाहते हैं । प्राणों को पुनः तडपा देना चाहते हैं । नयी शक्ति से कवि इस जग को धूल के समान मुट्ठी में भर बिखरा सकता है । शक्ति और आलोक फैलाते हुए एक बार भी वे कवि से गाने की प्रार्थना करते हैं । यहाँ भी कवि कृतित्व के सामने एक प्रणत साधक के समान अपने को बलि चढाते हुए दिखायी पडता है ।

---

1. "पूर्वा" (अज्ञेय) - पृः 59.

अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को अज्ञेय ने अपनी कविताओं में कहीं कहीं समझाया है - "त्रिशंकु" में उन्होने लिखा कि सच्चे कलाकार के लिए रचना एक व्यक्तिगत विवशता है -

"यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं है, तो उसकी प्रेरणा शक्ति एक निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है ।"[1]

अज्ञेय की राय में प्रतिभावान कलाकार लिखे बिना रह नहीं सकता । संसार की सत्यता को चित्रित करना उसकी आन्तरिक विवशता है ।

"प्रकृत है अनुभूति, वह रस-दायिनी निष्पाप भी है,
मार्ग उसका रोकना ही पाप भी है, शाप भी है"[2]

कवि मानता है कि अनुभूतियों को अभिव्यक्त किये बिना उनका दमन करना अनुचित है । स्वतंत्र अनुभूतियाँ रस की धारा प्रवाहित कर सकती हैं । उनका मार्ग रोकना पाप है । लिखने से लेखक को एक प्रकार से मुक्त होने का सुख मिलता है ।

लेकिन अपने अनुभूत सत्यों और तीव्र संवेदनाओं की अभिव्यक्ति प्रतिभावान कवि के लिए सबसे बडी समस्या है । जैसे वे लिखते हैं - "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुँचाया जाए । यह पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है ।"[3]

---

1. "त्रिशंकु" (अज्ञेय) - पृ: 72.
2. "सदानीरा" - वही - पृ: 157-158.
3. "त्रिशंकु" - वही - पृ: 119.

कभी कभी कलाकार के मन में बहुत कुछ भाव उमड पडते हैं, लेकिन वह संप्रेषण में असफल हो जाता है । अज्ञेय लिखते हैं –

"मैं कवि हूँ, किन्तु मेरी प्रतिभा अभिशप्त है ।
संसार का चित्रण करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मैं
अपने को नहीं व्यक्त कर सकता ।"[1]

कवि होते हुए भी उसकी प्रतिभा कभी कभी अभिशप्त लगती है । संसार के चित्रण में समर्थ होते हुए भी अपने मन को पूर्णतया वह अभिव्यक्त करने में अशक्त हो जाता है ।

अज्ञेय ने और एक कविता में भी अभिव्यक्ति की सीमा के बारे में कहा है –

"जो मेरा है
वह बार बार मुखरित होता है
पर जो मैं हूँ
उसे वाणी नहीं दे पाता ।
पल्लवित हुआ है रंग-रूप धर शतधा
पर जो तू है
नहीं पकड में आता ।"[2]

कवि यहाँ कहता है कि अपने से संबन्धित बातों की अभिव्यक्ति संभव है, पर "मैं" क्या हूँ – यह कभी शब्दायित नहीं कर सकता । विराट् सत्य ही विभिन्न रंग रूपों में विश्व में प्रकट है । लेकिन उस सत्य की पकड हमें नहीं होती । इस प्रकार काव्य सत्य कवि को अनुभूत तो होता है, पर वह उसे पूर्णतः संप्रेषित नहीं कर सकता ।

---

1. "सदानीरा" (अज्ञेय) – पृः 21.
2. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" – वही – पृः 102.

इसीलिए अज्ञेय ने मौन को अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम स्वीकार किया है । कभी कभी शब्दों से सशक्त अभिव्यक्ति मौन से होती है । "सागर-मुद्रा" की एक कविता है जिसमें अज्ञेय इसके बारे में कहते हैं -

"जितना कह देना आवश्यक था
कह दिया गया कुछ और बताना
और बोलना - अब आवश्यक नहीं रहा ।
आवश्यक अब केवल होगा चुप रह जाना
अपने को लेना सँभाल
संप्रेषण के अर्पित, निभृत क्षणों में ।
अब जो कुछ उच्चारित होगा, कहा जाएगा,
सब होगा पल्लवन, प्रस्फुटन
इसी द्विदल अंकुर का ।
बीनते हुए बिखरा - निखरा सोना
पल - भरे शरद का
हम क्या कभी सोचते हैं "वसन्त आवश्यक था"[1] ।

कवि उतना ही कहता है जितना आवश्यक है । उसके बाद अपने को संभाल कर चुप रह जाना ही उचित है । क्योंकि वे संप्रेषण के अर्पित, निभृत क्षण हैं । एक ही बात के प्रस्फुटन और पल्लवन से मौन ही अच्छा है ।

और एक कविता में भी अज्ञेय ने माना है कि शब्दों की स्थूल अभिव्यक्ति की अपेक्षा मौन में अर्थ की अभिव्यक्ति प्रबल है -

---

1. "सागर-मुद्रा" (अज्ञेय) - पृ: 43.

पर सबसे अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ, मौन हूँ -
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोडता है मुझको विराट् से
जो मौन अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सबको समोता है ।
मौन का ही सूत्र
किसी अर्थ को मिटाये बिना
सारे शब्द क्रमागत
सुमिरनी में पिरोता है ।"[1]

"असाध्य वीणा" में तपस्वी साधक कलाकार मौन को अपनी सबसे बडी साधना के रूप में मानता है । मौन उसे विराट् सत्य के साथ जोडता है । मौन के सूत्र में सारे शब्द पिरो लेता है । मौन में उसे "कौन हूँ" की पहचान होती है ।

"इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" में अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें उन्होंने मौन का महत्व समझाया है -

"कहा सागर ने
मैं अपनी अबाधता जैसे
सहता हूँ, अपनी मर्यादा
तुम सहो ।
जिसे बाँध तुम नहीं सकते
उसमें अंखिन्न मन बहो ।

---

1. "आंगन के पार द्वार" (अज्ञेय) - पृ: 40.

मौन भी अभिव्यंजना है
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो ।"[1]

जिस प्रकार सागर अपनी अबाधता सहता है उसी प्रकार कवि को अपनी मर्यादा सहनी चाहिए । जितना कवि का सच है उतना ही बताना काफी है । शेष के लिए मौन सहायक होगा । क्योंकि मौन से बहुत अधिक भाव अभिव्यंजित हो सकते हैं ।

"जो कहा नहीं गया" कविता में अनभिव्यक्त कथ्य को उपस्थित किया गया है –

"शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं ।
शायद केवल इतना ही, जो दर्द है
वह बडा है, मुझीसे
सहा नहीं गया ।
तभी तो, जो अभी और रहा वह
कहा नहीं गया ।"[2]

प्रकृति की विभिन्न रूप–नामवाली वस्तुओं के विषय में तो कवि ने रचनाएँ कीं, किन्तु अन्धकार में सागर के किनारे आकर वह ठिठक गया है । यह सागर समस्त रूप, नाम और जीवन का कारण–समुद्र है । उसमें न बह सकने के कारण ही कुछ ऐसा रह गया है जिसे, कवि अभी तक नहीं कह सका ।

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) – पृ: 14.
2. "इत्यलम्" – वही – पृ: 65.

भाषा

भाषा काव्य का आधार है । सभी कवियों ने भाषा के विभिन्न आयामों का सूक्ष्म, स्थूल निरीक्षण किया है । "भवन्ती" में अज्ञेय भाषा की अनिवार्यता के बारे में कहते हैं -

"भाषा हमारी सबसे पुरानी, सबसे कडी, अनुल्लंध्य सांस्कृतिक रूढि है । अपने दावे के लिए भाषा का सहारा अनिवार्य है ।"[1]

अपनी निगूढ और सघन अनुभूतियों या सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को पाठक के सम्मुख कैसे अभिव्यक्त करे - यह एक समर्पित कलाकार की सबसे बडी समस्या है । संप्रेषण के लिए नये नये माध्यमों की खोज की जाती है । अज्ञेय मानते हैं कि भाषा के निरन्तर उपयोग से उसके रूप घिस गये हैं । इसलिए उनके नये नये भावों को व्यक्त करने की क्षमता उसमें नहीं है । "कलगी बाजरे की" नामक कविता में भाषा की इस समस्या पर विचार किया गया है -

"हरी बिछली घास ।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की
अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता ,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय(उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है ।

---

1. "भवन्ती" (अज्ञेय) - पृ: 21.

बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं ।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच ।"[1]

नये कवियों के सामने संप्रेषण की समस्या सबसे प्रमुख थी । नये कवियों ने महसूस किया कि काल और जीवन के निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं । इनके अनुसार काव्य-भाषा और शिल्प में परिवर्तन होना आवश्यक है । काव्य भाषा तो इतनी घिस गयी है कि उसमें भावों की पूर्णतः अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है । कवि कहता है कि पुराने उपमानों का प्रयोग वे अब नहीं करते । यह नहीं कि उनका प्यार बुझ गया है या हृदय सूना है । बल्कि यही कारण है कि ये नित्य प्रयुक्त उपमान प्रयुक्त होते होते मैले हो गये हैं । काव्य प्रतीकों के मूल जो देवता हैं वे अप्रत्यक्ष हो गये हैं ।

और एक कविता में भी अज्ञेय ने भाषा की हार स्वीकार की है -

"रूपाकार
सब अन्धकार में है
प्रकाश की सुरंग में
मैं उन्हें बेधता चला जाता हूँ
उन्हें पकड नहीं पाता ।
मेरी चेतना में इसकी पहचान है
कि अन्धकार भी
एक चरम रूपाकार है,
सत्य का, यथार्थ का विस्तार है,
पर मेरे शब्द की इतनी समाई नहीं -
यह मेरी भाषा की हार है ।

---

1. "सुनहले शैवाल" (अज्ञेय) - पृः 60-61.

प्रकाश मेरे अग्रजों का है
कविता का है, परंपरा का है
पोढा है, खरा है
अन्धकार मेरा है,
कच्चा है, हरा है ।"[1]

शब्दों के प्रयोग में कभी कभी कवि स्वाकार को अंधकार में पाता है । इसलिए उनके शब्द उन्हें पूर्ण रूप से समा नहीं सकते । अज्ञेय इसकेलिए केवल अपने को दोषी मानते हैं । पूर्वजों ने तो कभी यह अंधकार नहीं पाया था । स्वयं उन्हींकी भाषा की हार ही इस अंधकार का कारण है ।

शब्द और अर्थ

अज्ञेय के लिए - "काव्य सबसे पहले शब्द है । और सबसे अंत में भी यह बात बच जाती है कि काव्य शब्द है ।"[2]

यह सर्वप्राचीन सत्य है कि शब्द और अर्थ का एक विशेष संयोग काव्य का आधार तत्व है । शब्दार्थों के इस योग के बारे में अज्ञेय ने कई बार अपनी कविताओं में विचार किया है । "अरी ओ करुणा प्रभामय" काव्य संग्रह की प्रसिद्ध कविता है "शब्द और सत्य" जो इस विषय में सूक्ष्म विचार करती है । कवि को लगता है कि शब्द और उससे अभिप्रेत सत्य या अर्थ-इनका संयोग कभी कभी एक पहेली के समान है ।

"यह नहीं कि मैं ने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी कभी मिलता है
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं ।
प्रश्न यही रहता है

---

1. "पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ" (अज्ञेय) - पृ: 13.
2. "तारसप्तक" (सं.अज्ञेय) - पृ: 308.

दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं
मैं कब, कैसे, उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूँ
या भरकर विस्फोटक
उसे उडा दूँ ।
कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें,
प्रयोजन मेरा बस इतना है -
ये दोनों जो
एक-दूसरे से तनकर रहते हैं,
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ -
दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे ।"[1]

अज्ञेय के कवि के सम्मुख शब्द और अर्थ की अन्विति एक बडी समस्या है । कभी कभी सत्य तो उनके सम्मुख आते हैं, तो कभी कभी शब्द झलकते हैं । लेकिन समस्या यही है कि दोनों अपने बीच में आवरण डाले हुए हैं । अज्ञेय एक-दूसरे से तनकर रहनेवाले इन दो तत्वों को मिला देने के उपाय सोचते हैं । पुराने कवियों ने क्या किया और भविष्य के कवि क्या करेंगे - यह वे सोचना नहीं चाहते । वे अपने आप शब्द और अर्थ के तनाव को दूर कर आलोक - स्फुरण में उन्हें मिला देना चाहते हैं । ये दोनों तत्व उनके चिर बन्धु और सखा लगते हैं, फिर भी उन्हें मिलाने का काम एक जटिल कार्य है । शब्द और सत्य के बीच की दीवार को उडा देने की आकांक्षा में शिल्प और वस्तु को समन्वित कर देने की आकांक्षा भी निहित है ।

---

1. "अरी ओ करुणा प्रभामय" (अज्ञेय) - पृ: 19.

"इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" की प्रसिद्ध कविता "शब्द" में शब्द-प्रयोग के महत्व पर उन्होंने प्रकाश डाला है । वे लिखते हैं -

"किसीको शब्द हैं कंकड:
कूट लो, पीस लो,
छान लो, डिबियों में डाल दो
थोडी - सी सुगन्ध दे के
कभी कभी मेले के रेले में
कुंकुम के नाम पर निकाल दो ।
किसीको शब्द हैं सीपियाँ:
लाखों का उलट-फेर
कभी एक मोती मिल जाएगा:
दूसरे सराहेंगे -
डाह भी करेंगे कोई
पारखी स्वयं को मान पाएगा ।
किसीको शब्द हैं नैवेद्य ।
थोडा - सा प्रसादवत्
मुदित, विभोर वह पाता है
उसीमें कृतार्थ, धन्य,
सभीको लुटाता है
अपना हृदय
वह प्रेममय ।"[1]

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 84.

साहित्य - जगत् में शब्दों के प्रयोक्ता कई - प्रकार के हैं । कुछ कवि तो ऐसे हैं जिनके लिए शब्द कंकड के समान हैं । वे मानों शब्दों को कूट-पीस-छान कर डिबिया में डाल देते हैं और उसमें थोडी-सी सुगंध डालकर कुंकुम के नाम पर निकाल देते हैं । कुछ ऐसे कवि हैं जिनके लिए शब्द सीपियों के समान हैं । लाखों शब्द रूपी सीपियों को उलट फेर करते रहने से कभी न कभी एकाध भावरूपी मोती उन्हें मिल जाता है । दूसरे लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, कुछ उससे ईर्ष्या भी करते हैं । किन्तु जो शब्द का असली साधक है वह उसे नैवेद्य समझता है । एक मुदित, विभोर स्थिति में वह प्रेममय समर्पण और कृतार्थता का अनुभव करता है ।

शब्दों की पहचान अभिव्यक्ति में प्रथम स्थान रखती है । अज्ञेय एक कविता में तीन शब्दों की याचना करते हैं ।

"मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ ।
एक शब्द वह
जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ ।
और दूसरा
जिसे कह सकूँ
किन्तु दर्द मेरे से
जो ओछा पडता हो ।
और तीसरा खरा धातु
पर जिसको पाकर पूछूँ
क्या न बिना इसके भी काम चलेगा ?
और मौन रह जाऊँ
मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ ।"[1]

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 98.

सही शब्द पहचानना, सही शब्द ढालना, शब्द - शोधन करना भी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है । अज्ञेय कहते हैं कि यदि उन्हें एक शब्द ही मिल गया तो वे अपने को धन्य मानेंगे । यहाँ वे तीन शब्द पाना चाहते हैं । एक वह है जो जिह्वा पर ला सकें, दूसरा वह जिसे कह सकें, तीसरा मौन के बिलकुल निकट हो । तीन शब्दों में ही वे एक को ही कह पाने की स्थिति में अपने को रखना चाहते हैं ।

और एक कविता में अज्ञेय शब्दातीत अर्थ के बारे में कहते हैं । वे मानते हैं कि शब्द स्पाकार चोला है उनके अतीत शब्द या सत्य मौजूद है ।

"किन्तु स्पाकार
चोला है
किसी संकेत शब्दातीत का,
ज़िन्दगी के किसी
गहरे इशारे का ।
शब्द
स्पाकार
फिर संकेत -
ये हर मोड पर बिखरे हुए संकेत -
अनगिनती इशारे ज़िन्दगी के
ओट में जिन्की छिपा है
अर्थ ।

अर्थ दो, अर्थ दो ।

मन हमें स्पाकार इतने व्यर्थ दो ।
हम समझते हैं इशारा ज़िन्दगी का -
हमें पार उतार दो -
रूप मत, बस सार दो ।"[1]

अज्ञेय की राय में, शब्द तो शब्दातीत की ओर एक संकेत है । स्पाकार तो इस संकेत को आवृत किया हुआ चोला है । इस चोले के अनावृत होने पर शब्दों में ज़िन्दगी के बारे में गहरे संकेत मिलते हैं । शब्दों के इन अनगिनती संकेतों की ओट में ही "अर्थ" छिपा रहता है । शब्द रूपी मोह की दीवारों को तोडकर वे अर्थ का साक्षात्कार पाने का मन्त्र पाना भी चाहते हैं । कवि यही प्रार्थना करता है कि स्पाकार का शब्दमय यह व्यर्थ चोला न दीजिए, बल्कि जीवन का सार रूपी अर्थ ही दीजिए । स्पाकार व्यक्ति को भ्रम में डाल देता है और वह अर्थ को छोडकर स्पाकार के पीछे पड जाता है । सर्जक की साधना तभी सफल हो सकती है जब वह गंभीर अर्थ को पकडे, रूप को छोड दे ।

कभी कभी कवि को लगाता है कि जो कुछ है, वह सबकुछ कहा नहीं जा सकता । शब्द और भाव के इस रहस्यमय स्वरूप को वे बताते हैं -

"है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया ।

उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया ।
इसलिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया ।

---

1. "अरी ओ करुणा प्रभामय" (अज्ञेय) - पृ: 33.

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं ।
शायद केवल इतना ही: जो दर्द है
वह बडा है, मुझीसे
सहा नहीं गया ।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह
कहा नहीं गया ।"[1]

अर्थ और भावों का जो बाह्य रूप शब्द है, वह अज्ञेय को कभी पूर्ण और तृप्त नहीं लगता । जितना भी कहें, फिर भी बहुत कुछ अभी कहने को बाकी है । क्योंकि विशाल भाव सागर में उनका बहना संभव नहीं, अनुभूति की वेदना उनसे असह्य है । सिर्फ भौतिक पीडा ही कवि की पीडा नहीं होती, बल्कि शब्दातीत अर्थ को पकडने की निरन्तर चेष्टा के बावजूद उसे न पकड पाने की पीडा ही एक सर्जक की असली पीडा है । अभी बहुत कुछ कवि की अनुभूतियों में गूँज रहा है जिसे कहा नहीं जा सका है, तभी तो बार बार उसे कहने की चेष्टा करता है ।

अभी अज्ञेय कहते हैं कि भाषा की पकड में से अर्थ फिसल जाता है -

"तुम सतत
चिरन्तन छिने जाते हुए
क्षण का सुख हो -
(इसीमें उस सुख की अलौकिकता है)
भाषा की पकड में से फिसली जाती हुई
भावना का अर्थ
(वही तो अर्थ सनातन है)"[2]

"बावरा अहेरी" (अज्ञेय) - पृ: 64-65.
"कितनी नावों में कितनी बार" - वही - पृ: 60.

काव्यानुभूति इतनी अलौकिक है कि वह हमेशा छीन ली जाती है । भावना का अर्थ भाषा की पकड में से फिसल जाता है ।

अज्ञेय ने शब्द और सत्य के संयोग में कवि को एक साधन या माध्यम माना है । कवि के चारों ओर सत्य विभिन्न प्रकार के मिलते हैं । लेकिन सत्य वही है जो कवि के ही रक्त पर पले, उनके ही आँसू में गले, उनकी भभूत में मिलकर उनका ही अंग बन जाता है । "सत्य तो बहुत मिले" नामक कविता में इसके बारे में लिखते हुए उन्होंने समझाया है कि शेष सत्य केवल सत्याभास है ।

"खोज में जब निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले ।
कुछ नये कुछ पुराने मिले
कुछ अपने कुछ बिराने मिले

पर तुम
नभ के तुम कि गुहा-गह्वर के तुम
मोम के तुम, पत्थर के तुम
तुम किसी देवता से नहीं निकले
तुम मेरे साथ मेंरी ही आँसू में गले
मेरे ही रक्त पर पले
अनुभव के दाह पर क्षण-क्षण उकसती
मेरी अशमित चिता पर
तुम मेरे ही साथ जले

तुम -
तुम्हें तो
भस्म हो
मैं ने फिर अपनी भभूत में पाया ।
अंग रमाया ।
खोज में जब निकल ही आया,
सत्य तो बहुत मिले -
एक ही पाया ।"[1]

अज्ञेय ने पुराने, दिखावे, बहाने, मुँह चुराये, सफेदपोश, लोभी डरावने, झाग, पडे, खडे, झडे, सडे, बिखरे, कहे - अनकहे नानाविध सत्यों के साक्षात् के बाद एक ऐसा सत्य पाया जिसको भभूत की पवित्रता और अगढता के साथ अपने शरीर में रमा लिया । सत्यान्वेषी की साधना की चिता अशमित है, जिसमें साधक जलता है और उसकी जलन ही सत्य की ज्योति-शिखा है । एक का जलना दूसरे के प्रकाश - धर्म का बनना है ।

अज्ञेय भाषा में अर्थ की साधना पर भी बल देते हैं । शब्द के भीतर अर्थ छिपा रहता है । कवि शब्दों में नया संस्कार उत्पन्न करता है और कभी कभी उसमें नया अर्थ भरता है । नया अर्थ भरने की शक्ति तभी आ सकती है जबकि उसे नया गंभीर अर्थ मिले । ऐसा बार बार नहीं होता । इसलिए अज्ञेय मानते हैं

"अर्थ एक है मिलता है तो एक बार (गुडसा गूँगे को)
और उसे दोहराना
दोहरे भ्रम में पड जाना है ।"[2]

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 17-18.
2. "अरी ओ करुणा प्रभामय" - वही - पृ: 152.

यहाँ अर्थ का प्रयोग वे गहन अनुभव अथवा रहस्यमय अनुभव के रूप में कर रहे हैं । रहस्यवादी कवि आत्मानुभव अथवा ईश्वर - साक्षात्कार को "गूँगे का गुड" के समान मानते हैं । उसी परंपरा में अज्ञेय अर्थ को जोड देते हैं । संत एवं साधक रूपाकार से परे निराकार तत्व की अवधारणा करते हैं । कवि अज्ञेय भी रूपाकार के पीछे जाकर किसी गहन अर्थ को उपलब्ध कर लेना चाहते हैं ।

काव्य और यथार्थ

छायावाद की कोरी कल्पना और भावुकता की स्वप्न-भूमि से प्रयोगवाद ने कविता को मुक्त कर यथार्थ का सुदृढ धरातल प्रदान किया । भवन्ती में अज्ञेय का कथन है -

"कविता का वास्तविकता से संबन्ध है, घनिष्ठ संबन्ध है । कल्पना, प्रतिभ-ज्ञान, पर्यवेक्षण सभी से कविता वास्तविकता को स्वायत्त, आत्मसात् करती है, संवेद्य और बहुजन-संप्रेष्य बनाती हुई फिर से रचती है ।"[1]

"घर की याद" शीर्षक कविता में अज्ञेय ने यथार्थ जीवनानुभूति और काव्य का संबन्ध यो व्यक्त किया है -

"क्या हुआ
अगर मेरी यादों की भूमि
वह (कल्पित) भूमि नहीं है जिसे भाव-भूमि कहते हैं,
वह है जिसपर भावना और कल्पना दोनों टिकते हैं
गोचर अनुभवों की भूमि
अगर मेरा घर

---

1. "भवन्ती" (अज्ञेय) - पृ: 64.

वैसा नहीं है जिसे सिर्फ सोचा जा सकता है, वरन्
वैसा है जिसे देखा, छुआ, सूँघा, हाँ चखा जा सके'
चाहे सिर्फ मेरी आँखों से, मेरे स्पर्श, मेरी नासा,
मेरी जीभ से' क्या हुआ'"[1]

अज्ञेय का कहना है कि कवि की यादों की भूमि भावों की भूमि नहीं है, जहाँ भावना और कल्पना का साम्राज्य है - बल्कि उनकी भूमि गोचर अनुभवों पर आधारित है । उन्हें विश्वास है कि इससे काव्य का कोई दोष नहीं होगा ।

"त्रिशंकु" में अज्ञेय कहते हैं - "संसार की अनुभूतियाँ और घटनाएँ साहित्यकार के लिए मिट्टी है जिनसे वह प्रतिमा बनाता है । वह निरी सामग्री है, उपकरण है ।"[2] कुम्हार के लिए जैसे मिट्टी है, वैसे कवि के लिए सांसारिक अनुभूतियाँ काव्य की आधार सामग्री है ।

एक कविता में अज्ञेय अपने को जीवन का कवि घोषित करते हैं -

"एक तीक्षण अपांग से कविता उत्पन्न हो जाती है,
एक चुम्बन में प्रणय फलीभूत हो जाता है,
पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ,
क्योंकि मैं उसके असंख्य हृदयों का गाथाकार हूँ ।
एक ही टीस से आँसू उमड आते हैं,
एक झिडकी से हृदय उच्छ्वसित हो उठता है,
पर मैं अखिल विश्व की पीडा संचित कर रहा हूँ -
क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ ।"[3]

---

1. "पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ" {अज्ञेय} - पृ: 50.
2. "त्रिशंकु" - वही - पृ: 72.
3. "सदानीरा" खण्ड-। - वही - पृ: 136.

एक तीक्षण दृष्टि से कविता जन्म लेती है, प्रणय की सफलता एक चुंबन में होती है । लेकिन कवि असंख्य हृदयों की गाथा गाते हुए अखिल विश्व के प्रेम की तलाश करता है । कवि अखिल संसार की पीडा संचित करना चाहता है । क्योंकि वह जीवन का कवि है । समस्त संसार के प्रेम, दुःख को अपनाना उसका काव्य-लक्ष्य है ।

अज्ञेय की आरंभिक रचनाओं में समाज-बोध की स्थिति एक विशिष्ट रूप में दिखलायी पडती है । वह घृणा का गान तो गाता है, किन्तु विद्रोह की शक्ति अभी पूरी नहीं है । शोषकों को वह ललकार तो देता है, किन्तु उनसे भिडने की उचित तैयारी अभी नहीं है । इसलिए संगठित अन्य वर्ग के सामने उसे बार बार पराजय का दुःख भोगना पडता है ।

"मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यंचा टूट गयी है
स्खलित हुआ है बाण यद्यपि ध्वनि
दिग्दिगंत में फूट गयी है" - [1]

ललकारना व्यर्थ तो नहीं गया, क्योंकि दिग्दिगंत में उसकी व्याप्ति हो गयी है, किन्तु प्रत्यंचा के टूट जाने में पराजय का भाव तो निहित है । यह पराजय है या सफलता - स्वयं कवि इसका निश्चय नहीं कर पाता । यह द्वन्द्व कवि को नियतिवादिता में ले जाता है । वह सोचने लगता है कि उसकी यही नियति है । वह नदी के द्वीप की तरह अलग पडा है ।

"किन्तु हम हैं द्वीप ।
हम धारा नहीं हैं ।
स्थिर समर्पण है हमारा । हम सदा से
द्वीप हैं स्रोतस्विनी के ।
किन्तु हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होना है ।

---

1. "पूर्वा" (अज्ञेय) - पृ: 74.

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं ।
पैर उखड़ेंगे । प्लवन होगा । ठहरेंगे । सहेंगे ।
बह जायेंगे ।"[1]

"धारा" समूह के साथ चलने का बोध देता है और द्वीपवत् स्थिति एकाकीपन में पड़े रहने का । जो व्यक्ति द्वीप की तरह है वह भला विद्रोह कैसे कर सकेगा ।

अज्ञेय समाज को महत्व देते हैं, किन्तु व्यक्ति की उपेक्षा करके नहीं । व्यक्ति चाहे "लघु-मानव" ही क्यों न हो उसकी सुरक्षा तथा स्वतंत्र विकास के वे पक्षधर हैं । कवि को अकेले दीपक की आस्था में विश्वास है ।

"यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसे भी पंक्ति को दे दो" -[2]

वह अपनी तुलना स्नेह से भरे हुए उस दीपक से करता है जो अकेला है किन्तु अकेला होने पर भी गर्व से भरा है । दीपक अकेलेपन में भी सुशोभित है, सार्थक है । उसके व्यक्तित्व को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं । किन्तु यदि आवश्यक हो तो इसे पंक्ति को या समूह को दिया जा सकता है । कवि के मानव वाद में हम व्यष्टि और समष्टि का समन्वय देखते हैं ।

"मैं वहाँ हूँ" कविता में अज्ञेय ने स्वयं को एक सेतु कहा है जो - जो है और जो होगा दोनों को मिलाता है ।

"दूर दूर दूर . मैं सेतु हूँ
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं ।

---

1. "पूर्वा" (अज्ञेय) - पृ: 251.
2. "बावरा अहेरी" - वही - पृ: 62-63.

वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,

जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी
जिनके नीचे बहती है
मुडती बल खाती,
नये मार्ग फोडती
नये करारे तोडती
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती, जाती -
मैं वही हूँ - दूर दूर दूर ।"[1]

मानव जीवन एक गति है जो वर्तमान और भविष्य को संयुक्त करती है । वह शून्य से नहीं बल्कि अर्थवत्ता से जुडा हुआ है । समस्त मानव-समूह की एकता में कवि सेतु बनना चाहता है । इस सेतु के नीचे जन-जीवन की अविरत धारा बहती है जो नित्य नये पथ की ओर अग्रसर होती हुई सागर की ओर प्रयाण करती है । कवि का दायित्व है कि वह ऐसा सेतु बने जो व्यक्ति को सामान्य जन-जीवन और समूह से सुपृक्त करे ।

"मरु और खेत" के संवाद से अज्ञेय ने सर्जक की व्यापक दृष्टि का चित्र प्रस्तुत किया है । लू और पाला की पीडा सहकर भी खेत जब नया अंकुर देता है तब सृजन का अनिर्वचनीय आनंद उसकी सबसे बडी संपत्ति और आत्मतोष है । अपनी हस्ती को मिटाकर ही कुछ दिया जा सकता है, रचा जा सकता है, यह आस्था रचनाकार की अनिवार्य शर्त है । -

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 21-22.

"किन्तु जब मेरी छाती फटकर अंकुर एक फूटेगा
और भोली गर्वभरी आस्था से निहारेगा,
तब उस एकमात्र क्षण में -
किन्तु काका आपसे क्या कहूँ और
नव सर्जना में जो
अपने को होम कर होते हैं आनंदमग्न
उनकी तो दृष्टि और होती है ।"[1]

अपने को होम कर देना ही सर्जना का मूल तत्व है । कवि अपनी छाती फटकर फूटनेवाले अंकुरों को देखकर आनंदमग्न हो जाता है ।

अज्ञेय ने "सुनहले शैवाल" में जीवनानुभूति को काव्य में अनिवार्य माना है -

"जीवनानुभूति एक पंजा कि जिसमें
तुम्हारे साथ मैं भी तो पकड में
आ गया हूँ ।
एक जाल, जिसमें
तुम्हारे साथ मैं भी बँध गया हूँ
जीवनानुभूतिः
एक चक्की । एक कोल्हू ।"[2]

कवि जीवनानुभूति के पंजे में अपने को भी बंधा हुआ मानता है । यथार्थ जीवन की अनुभूतियों में वे फँस गये हैं । वह चक्की या कोल्हू के समान उसे समा लेती है

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 23-24
2. "सुनहले शैवाल" - वही - पृः 94.

अज्ञेय ने अपनी कविता में अधिकांश तात्विक विषयों पर विवेचन किया है, जो देश और काल की सीमा में बँधनेवाले नहीं हैं । एक तत्वदर्शी के लिए सत्य की खोज वस्तुतः जीवन की ही खोज है । वह उसके जीवन की चरम उपलब्धि है । अज्ञेय ने अपनी अनेक कविताओं में अज्ञात सत्य की खोज की है । सत्य के प्रत्येक क्षण को आत्मसात् करने की जिज्ञासा उनमें निरन्तर बनी रहती है

"यह सुन्दर है, यह शिव है,
यह मेरा हो, पर बँधा नहीं है मुझसे
निजी धर्म से मर्त्य है ।
जीवन निस्संग समर्पण है
जीवन का
एक यही तो सत्य है ।"[1]

कवि बताता है कि सत्य तो सुन्दर और शिव भी है । यद्यपि वह मेरा है, फिर भी मुझसे बंधा हुआ नहीं है । मनुष्य-जीवन का इस सत्य के प्रति निस्संग समर्पण होना चाहिए । "तारसप्तक" के वक्तव्य में लगभग यही मत वे प्रस्तुत करते हैं - "कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है ।"[2]

क्षण की महत्ता

नये कवियों का काल चिन्तन क्षण के महत्व से जुडा हुआ है । किन्तु क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है । अज्ञेय के अनुसार सर्जना के क्षण कभी भी लंबे नहीं होते । जीने के संदर्भ में वे दिन, महीने, वर्ष की बात नहीं करते ।

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 28.
2. "आत्मनेपद" (अज्ञेय) - पृः 35.

"हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं ।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें -

शाश्वत वही हमारे लिए है ।
अजिर अमर है
वेदितव्य
अक्षर है ।"[1]

अज्ञेय क्षण को अद्वितीय मानते हुए कहते हैं कि उसे पूर्णतः वे जीना चाहते हैं ।

काल की अनुभूति हमें अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूप में होती है । अतीत घटित हो चुके हैं, उसे हम बदल नहीं सकते । भविष्य तो आया नहीं, इसलिए उसे बदलने के सवाल का अर्थ नहीं । केवल वर्तमान ही रह जाता है । लेकिन वर्तमान भी पूर्णतः हमारे वश में नहीं । अज्ञेय यह सब महसूस करते हैं, फिर भी ऐसे क्षणों की तलाश में रहते हैं जो उन्हें देश कालातीत अनुभूति दे सके । -

"होते हैं क्षणः जो देश-काल-मुक्त हो जाते हैं ।
होते हैं पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं ?
या क्या हम लाते हैं ?"[2]

अज्ञेय ऐसे ही क्षण की माँग करते हैं जो देशकालातीत हो, जो किसीभी सीमा में बँध न सकें और सबके लिए सुलभ हो सकें । "क्षण" विशेष को पकड लेना ही संभवतः अमरत्व को पकड लेना है ।

क्षणवाद की व्याख्या करते हुए अज्ञेय ने कहा:

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 44.
2. "क्योंकि मैं उसे जानता हूँ" - वही - पृः ।.

"एक क्षण क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त संपूर्णता
इससे कदापि बडा नहीं था महांबुधि जो
पिया था अगस्त ने
एक क्षण । होने का
अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण
होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के क्षण का
आज हम आचमन करते हैं ।"[1]

अज्ञेय मानते हैं कि क्षण में संपूर्णता प्रवाहमान है । जीवन में एक एक क्षण जिसका अखण्ड अस्तित्व पारावार (काल) में सत्य के साक्षात्कार के लिए है उसीके प्रति आचमन की पवित्रता भी साथ में जुडी है ।' सत्य के साक्षात् क्षण में बाह्य और अन्तर दोनों को पवित्र करने की शक्ति है । अज्ञेय ने क्षण को काल या अखण्ड इकाई के रूप में मान्यता दी है ।

जीवन इतना चंचल और सार्थक है कि जैसे प्रत्येक साँस इतिहास की पंक्ति बनने को आतुर है । जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी सत्य के साक्षात्कार का संगोपन रूप लिए खडा है, और सत्य के साक्षात् का नित्य क्षण बनने के लिए उद्विग्न है । -

"यह छोटा-सा जाना हुआ क्षण है
कि होकर नहीं देता ;
यह मैं हूँ"[2]

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृ: 44.
2. "कितनी नावों में कितनी बार" - वही - पृ: 9.

क्षण छोटा - सा होकर भी वह उनसे जाना हुआ है, उसमें उन्हींका रूप है ।

"सुनहले शैवाल" में भी अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें क्षण का मूल्य व्यक्त हुआ है -

"मैं ने देखा
एक बून्द सहसा
उछली सागर के झाग से
रंगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से ।
मुझको दीख गया
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक - छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से ।"[1]

सागर के झाग से सहसा उछली एक बून्द को कवि देखता है । एक क्षण में वह सूरज की ढलती आग से रंगी भी गयी । कवि को लगा कि यह नश्वरता से उसकी मुक्ति है । विराट् के सम्मुख यह आलोक-छुआ अपनापन अपना विशेष अर्थ रखता है ।

"क्योंकि मैं उसे जानता हूँ" में अज्ञेय ने क्षण और काव्य का संबन्ध व्यक्त किया है -

"क्षण की अद्वितीयता - क्षण की अनुभूति -
वही कवि गाता है ।
होते हैं क्षण: जो देश - काल - मुक्त हो जाते हैं ।
होते हैं पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं ?
या क्या हम लाते हैं ?

---

1. "सुनहले शैवाल" (अज्ञेय) - पृ: 10.

उनका होना, जीना, भोगा जाना
है स्वैर - सिद्ध, सब स्वतः पूर्त ।
- हम इसीलिए तो गाते हैं ।"[1]

अज्ञेय के विचार में, कवि के गीतों में अद्वितीय क्षणों की अनुभूति गायी जाती है । देश काल से मुक्त होनेवाले ऐसे अपूर्व क्षण दुहराते नहीं । उनकी अनुभूति इसीलिए कवि गाता है ।

"मोड पर का गीत" में भी लगभग ऐसा ही भाव अभिव्यक्त है, यथा -

"यह गीत है जो मरेगा नहीं ।
इसमें कहीं कोई दावा नहीं,
न मेरे बारे में, न तुम्हारे बारे में,

जाना और जीना
जीना और जाना
न यह गहरी बात है कि इनमें होड है
न यही कि इनमें तोड है
गहरी बात यह कि दोनों के बीच
एक क्षण है कहीं, एक मोड है
जिसपर एक स्वयंसिद्ध जोड है, और वहीं,
उसपर ही गाना है
यह गीत जो मरेगा नहीं ।"[2]

---

1. "क्योंकि मैं उसे जानता हूँ" (अज्ञेय) - पृः 1.
2. वही - पृः 2.

कवि जानता है कि इस गीत में उसके या दूसरे के बारे में कोई दावा नहीं । फिर भी वह मरेगा नहीं । क्योंकि जाने और जीने, मृत्यु और जीवन के बीच का मोड और जोड इसी क्षण में है । कवि की दृष्टि में क्षण मृत्यु और जीवन का संधि-स्थल है ।

"इत्यलम्" की "हियहारिल" कविता में अज्ञेय ने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है । यह प्रकृत रहस्यवाद नहीं, बल्कि व्यक्तिवादी रहस्यवाद माना जाता है । कवि किसी अगोचर सत्ता की खोज में तत्पर न होकर अपने अन्तर्गत व्याप्त शक्ति की खोज में ही उत्युक जान पडता है -

"मैं भी एक प्रवाह में हूँ -
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है,
मैं उस असीम शक्ति से
संबन्ध जोडना चाहता हूँ -
अभिभूत होना चाहता हूँ
जो मेरे भीतर है
शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का एक अणु हूँ,
मैं भी असीम हूँ ।
एक असीम बून्द -
असीम समुद्र को अपने भीतर -
प्रतिबिंबित करती है ।"[1]

---

1. "पूर्वा" {अज्ञेय} - पृः 79.

अज्ञेय का रहस्यवाद स्पष्ट रूप से ईश्वरोन्मुख रहस्यवाद नहीं है । वह अस्मिता की खोज से युक्त आत्मोन्मुखी रहस्यवाद है । उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वे अपने ही भीतर की असीम शक्ति से संबन्ध जोडना चाहते हैं, उसीसे अभिभूत होना चाहते हैं । वे यह पाते हैं कि उनका "मैं" - "शक्ति का एक अणु" है और शक्ति असीम है । इसलिए उनका "मैं" भी असीम है ।

वेदना

आदि कवि से लेकर आज तक कवियों ने काव्य में वेदना और करुणा का अंकन विशेष रूप से किया है । अज्ञेय ने भी अपनी कतिपय कविताओं में वेदना-संबन्धी अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है ।

"दर्द कुछ मैला नहीं,
कुछ असुन्दर, अनिष्ट नहीं,
दर्द की अपनी एक दीप्ति है -
ग्लानि वह नहीं देता ।
तुमने यदि
दर्द ही लिखा है,
भद्दा कुछ नहीं लिखा, झूठा कुछ नहीं लिखा
तो आश्वस्त रहो :"[1]

अज्ञेय वेदना को मैला, असुन्दर या अशुभ मानने का यहाँ विरोध करते हैं । वेदना की अपनी एक दीप्ति है जो दर्शनीय है । उससे ग्लानि नहीं होती । अगर कोई कवि केवल वेदना-भरे गीत ही लिखता है तो उसमें बुरा मानने की कोई भी बात नहीं है । उसने तो कुछ भी झूठा नहीं लिखा ।

---

1. "सुनहले शैवाल" (अज्ञेय) - पृ: 38.

"इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" में अज्ञेय ने अपनी कविता को व्यथाओं को याद दिलाने के लिए उद्दिष्ट माना है

"एक दिन जब
सिवा अपनी व्यथा के कुछ
याद करने को नहीं होगा -
क्योंकि कृतियाँ दूसरे के याद करने के लिए है।"[1]

अज्ञेय मानते हैं कि भविष्य में अपनी वेदना के अतिरिक्त कुछ नहीं याद आएगा। कृतियाँ तो दूसरों को, व्यथाओं के बारे में याद दिलाने के लिए हैं।

"हरी घास पर क्षण भर" में उन्होंने दुःख को एक दर्शन के रूप में स्वीकार किया है -

"दुःख सबको माँजता है
और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"[2]

करुणा के बारे में प्राचीन काल से ही यह मत प्रचलित है कि मानव-हृदय को पवित्र और उज्ज्वल बनाने की क्षमता उसमें है। अज्ञेय भी इसी तरह कहते हैं कि दुःख सबको पवित्र बनाता है। वह तो स्वयं सभीको मुक्ति न देता, लेकिन जिनको वह उभार उठाता है उनको यह सिखा देता है कि सबको मुक्त रखना ही उचित है।

"इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" की एक कविता में प्राचीन कवियों के समान अज्ञेय ने करुणा - कण पाने के लिए विराट् से याचना की है -

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः 12.
2. "हरी घास पर क्षण भर" - वही - पृः 55.

"भावों का अनन्त क्षीरोदधि,
शब्द-शेष फैले सहस्र - फन,
एक अर्थ से तुम हो अच्युत,
मुझको भी दो दो करुणा - कण ।"[1]

कवि भावों की कल्पना क्षीर सागर के रूप में करता है । भावों के अनन्त क्षीर सागर में शब्द तो शेष - नाग के समान अपने फन फैले हैं । इसमें निवास करनेवाले अच्युत, तुम मुझे करुणा के कण दे दो ।

कवि और परंपरा

परेपरा का अंध अनुकरण या परंपरा का निषेध दोनों उचित नहीं है । दोनों के बीच का मार्ग स्वीकार्य है । अज्ञेय ने "दूसरा सप्तक" की भूमिका में यह व्यक्त किया है कि कवि का परंपरा से क्या संबन्ध है । "परंपरा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक - बजाकर तोड - मरोड कर देखकर आत्मसात् नहीं कर लेता"[2] - यहाँ अज्ञेय की राय है कि परंपरा को अपने अनुकूल बनाकर अपने लिए आवश्यक तत्वों को अपना लेना कवि का धर्म है ।

प्रयोगवाद के प्रस्तावना काल से ही परंपरा के प्रति विद्रोह और प्रयोग के प्रति आग्रह का भाव लक्षित किया जा सकता है । अज्ञेय ने अन्य कवियों को भी परंपरा से हटकर चलने की सलाह दी है । परंपरा से हटकर चलने में अकेले चलना पडता है, अपना मार्ग स्वयं बनाना पडता है और भटकने का खतरा रहता है । लक्ष्य मिले या न मिले, अपने - अपने मार्ग पर चलते रहना ही श्रेयस्कर है । ते कहते हैं -

---

1. "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" (अज्ञेय) - पृः ।।.
2. "दूसरा सप्तक" - वही - पृः 7.

"मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूँ उसीपर
सदा जिसे पद कहा गया, जो
इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर
कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी ।"[1]

परंपरा व्यक्ति की अनुभूतियों को महत्व नहीं देती । उसकी दृष्टि में स्थापित सत्य ही सब कुछ है किन्तु नये कवियों ने व्यष्टि-सत्य अथवा व्यक्ति-अनुभूति को भी महत्व दिया है ।

छन्द

छन्द की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए अज्ञेय ने कहा है -

"छन्द काव्य - भाषा की आँख है ।"[2]

इतना ही नहीं, - "छन्द के द्वारा हम साधारण बोलचाल के गद्य की लय को नियमित करते हैं"[3]

"पूर्वा" में छन्द के बारे में उनकी कुछ पंक्तियाँ हैं

"छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास ।
सब कुछ में है नियम की साँस ।
कौन - सा वह अर्घ जिसकी अलंकृति नहीं कर सकती
यही पैरों तले की घास" "[4]

---

1. "अरी ओ करुणा प्रभामय" (अज्ञेय) - पृ: 25.
2. "भवन्ती" - वही - पृ: 23.
3. वही - पृ: 23
4. "पूर्वा" - वही - पृ: 253.

नयी कविता का छन्द-विधान पैरों तले की घास की तरह है जिसका कोई तिनका छोटा, कोई बडा, कोई नुकीला, कोई खुरदरा, कोई जड-तरह तरह का है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अज्ञेय की कविताओं में काव्य के विभिन्न पक्षों और तत्वों से संबन्धित उनकी प्रौढ तथा मौलिक चिन्तना ने अभिव्यक्ति पायी है ।

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता में काव्य - चिन्तन

सामान्य दृष्टि से, गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता हिन्दी में छायावाद और नयी कविता की संधि-रेखा से आरंभ हुई थी जिसे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का संधिस्थल माना जा सकता है । लेकिन मुक्तिबोध प्रगतिवादियों से या नयी कवितावालों से पूरी तरह मिल नहीं पाए । साहित्य या कला के प्रति एक असाधारण दृष्टि रखनेवाले मुक्तिबोध ने अल्पकाल जीकर अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया । "चाँद का मुँह टेढा है", "भूरी भूरी खाक धूल" इन दो काव्य-संग्रहों तथा "नयी कविता का आत्म संघर्ष", "एक साहित्यिक की डायरी", "नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र" आदि आलोचनात्मक कृतियों में मुक्तिबोध की असामान्य, प्रगतिशील काव्य दृष्टि का परिचय मिलता है । उनके काव्य-संबन्धी विचार हिन्दी काव्य-चिन्तन के क्षेत्र के लिए अमूल्य देन हैं ।

मुक्तिबोध ने काव्य के कथ्य पक्ष के बारे में अपने सुदृढ मत अभिव्यक्त किये हैं । उनका हम इस प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं ।

रचना प्रक्रिया

हिन्दी काव्यालोचन में रचना प्रक्रिया पर मुक्तिबोध ने ही सबसे अधिक और गंभीर चिन्तन प्रस्तुत किया है । उनकी दृष्टि में रचना-प्रक्रिया जीवन-प्रक्रिया से जुडी हुई है ।

उनकी कविता में संवेदना का रूप सारे युग बोध को समेटता हुआ, सृजन-प्रक्रिया में अभिव्यक्त होनेवाला है । अतः संवेदन का रूप अन्तर्जगत् से संबन्धित है, जो बाह्य यथार्थ का आभ्यन्तरीकरण है । कवि लिखता है -

"अन्तर्जीवन के मूल्यवान जो संवेदन,
उनका विवेक-संगत प्रयोग हो सका नहीं ।"[1]

कवि यहाँ नये कवियों को याद दिलाना चाहता है कि काव्य-सर्जना में संवेदना का विवेक-संगत प्रयोग होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।

काव्य की सृजन-प्रक्रिया में मुक्तिबोध ज्ञान तत्व और संवेदना दोनों को उचित स्थान देना चाहते हैं । इनमें संवेदना-पक्ष, उनके अनुसार, अधिक महत्वपूर्ण है । क्योंकि संवेदना-पक्ष ही ज्ञान पक्ष को काव्योपयोगी बनाता है ।

अनुभव और ज्ञान की विद्युत् धाराओं से जो निरन्तर रुधिर प्रवाहों की गतिविधियों में परिणत होकर अन्तःकरण को आन्दोलित कर दे, ऐसी ज्ञान की पीडा कवि की दृष्टि को सदैव नये क्षितिजों की ओर ले जाती है ।

"ज्वलन्त अनुभव
ऐसे कि विद्युत् धाराएँ झकझोर
ज्ञान को वेदना रूप में लहराए
ज्ञान की पीडा
रुधिर प्रवाहों की गतियों में
परिणत होकर
अन्तःकरण को व्याकुल कर दे ।"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 119.
2. वही - पृः 259.

यह व्याकुलता ही रचना को जन्म देती है । परन्तु यह रचना उसी समय जन्म लेगी, जब कवि को "पत्थरी ढाँचे से छुटकारा मिल जाए ।" जब यह ज्ञान-संवेदन की पीडा व्यक्ति के निजी संदर्भ से हटकर व्यापक समूह की पीडा से आत्मसात् होगी तभी उसको अर्थवत्ता मिलेगी ।

"संदर्भ हटा, व्यक्ति का कहीं उल्लेख न कर
जब भव्य तुम्हारा संवेदन
सबके सम्मुख रख सका, तभी
अनुभवी ज्ञान-संवेदन की दुर्दम पीडा
झलमला उठी ।"[1]

मुक्तिबोध में जो ज्ञान की तडप या पीडा है, उसकी यही विशेषता है कि वह उनकी गंभीरता और विवेक का गहरा पुट ली हुई है । स्वयं कवि ने कहा है -

"जहाँ उसने तुम्हारे मन व आत्मा को
समझकर श्वेत चकमक के घने टुकडे
परस्पर तडातड तेज़ दे रगडा
कि उससे आग पैदा की
और हर अंगार में से एक
जीवन-स्वप्न चमका और
तडपा ज्ञान ।।"[2]

कवि के अनुसार मन व आत्मा के संघर्ष से जो आग पैदा होती है उसके हर अंगार में से जीवन के नये नये स्वप्न चमकते हैं और ज्ञान की तडप होती है ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 177.
2. वही - पृ: 156.

अन्तर और बाह्य के संघर्ष से कवि वस्तुनिष्ट सत्य का साक्षात्कार करता है और तब वैयक्तिकता का परिहार भी होता है । अपने अन्तः स्थित संवेदन की मुक्तिबोध ने "जीवन-मर्म-संवृत सेवेदनात्मक अभिप्राय" की संज्ञा दी है । "एक स्वप्न कथा" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है -

"कि मेरे ही अन्तः स्थित संवेदन
मुझपर ही
झूम, बरस, गरज, कडक उठते हैं ।
उनका वार
बिलकुल मुझीपर है,
बिजली का हर्फ
सिर्फ मुझी पर गिर
तहस-नहस करता है
बहुत बहस करता है ।"[1]

कवि को लगता है कि उनके अन्तः स्थित संवेदन उनपर झूमने, बरसने और गरजने लगते हैं । उनका प्रभाव उनपर पडता है ।

मुक्तिबोध के कला-सृजन में संवेदनात्मक उद्देश्य प्रथम स्थान रखता है । इसके महत्व के बारे में उन्होंने लिखा है - "संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत् की वह धारा है जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है । कला-विधान करती है । अभिव्यक्ति -विधान करती है । आत्म चरितात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं ।"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 189-190.
2. "नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र" - वही - पृः 94.

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण

मुक्तिबोध ने सृजन प्रक्रिया में बाह्य के आभ्यन्तरीकरण को अनिवार्य माना है । इसमें कवि तीन तत्वों को गतिशील पाते हैं - बाह्य, अन्तर और चेतस् । ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बाह्य सत्ता के रूप हैं, जिनका रचनाप्रक्रिया के संदर्भ में आभ्यन्तरीकरण होता है । आत्मचेतस् सत्ता इस आभ्यन्तरीकरण को भाव-विचार सत्ता के रूप में परिवर्तित करके कल्पना-शक्ति के द्वारा जीवन का पुनः सृजन करती है । बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की इस प्रक्रिया में व्यक्ति की जीवन-दृष्टि और मूल्य-दृष्टि का विकास होता है ।

"जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का
बाहरी दुनिया में,
उतनी ही तेज़ी से भीतरी दुनिया में
चलता है द्वन्द्व कि
फिक्र से फिक्र लगी हुई है ।"[1]

बाहरी दुनिया के ही समान तीव्र द्वन्द्व भीतरी दुनिया में चलता है । बाह्य के आभ्यन्तरीकरण को पलायन की दृष्टि से देखना उचित नहीं । वह तो यथार्थ की गहरी अनुभूति पर आधारित है । रोमानी दृष्टि से यथार्थ को वे अधिक संवेदनशील बना देते हैं । जैसे वे कहते हैं -

"ऐसा हस्तक्षेप कि मानवानुभव सब
अकस्मात् प्रबुद्ध अंगारों को लिए, नयी
विशद विशाल किसी
भूमिका में बंध जाए
अपार प्रकाशमय व्याख्या में तथ जाए

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 286.

और हर नज़र में नया पहलू निकल आए
और, मन बदल जाए ।"[1]

कवि मानवानुभवों को नयी, विशाल भूमिका में बाँध लेना चाहता है । हर नज़र में नये पहलू के निकलने से मन के परिवर्तन की ओर लक्ष्य करता है ।

व्यक्तित्वान्तरण

कवि मुक्तिबोध ने सृजनात्मक प्रक्रिया में "व्यक्तित्वान्तरण" की आवश्यकता पर बल दिया है । कवि के लिए आत्मचेतना का विस्तार करके विश्वचेतस् होना ज़रूरी है । व्यक्तित्वान्तरण का एक आयाम वह है जहाँ कवि या रचनाकार अपने सृजन में पुनर्जन्म लेकर व्यक्तित्व के आन्तरिक दृष्टिकोण को कविता में अभिव्यक्त करता है । यह यथार्थ बोध कवि की रचना में अधूरा होते हुए भी एक सतत खोज है जिसमें वह आत्मचेतस् को विश्व चेतस् में स्थान्तरित कर नये अनुभव तथा ज्ञान-क्षेत्रों की अभिव्यक्ति करना चाहता है ।

"कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ सच ।"[2]

मुक्ति बोध हमेशा अपने व्यक्तित्व के ऐसे विराट् आयामीकरण के इच्छुक रहे हैं जिसमें जन समाज का बहुत-सा अंश समाहित हो जाय । सत्य को नये सिरे से

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 257.
2. वही - पृ: 164.

समझने और जीन के लिए व्यक्तित्वान्तरण आवश्यक है । सत्य निरन्तर गतिशील है । उससे संपर्क बनाये रखने के लिए नित नया जन्म लेना पडता है । अपने को बदलते रहना पडता है ।

"आत्म विस्तार
यह बेकार नहीं जाएगा
ज़मीन में गडे हुए देहों की खाक से
शरीर की मिट्ठी से धूल से
खिलेगे गुलाबी फूल ।"[1]

कवि को विश्वास है कि यह आत्मचेतस् का विश्व चेतस् के रूप में विस्तार जगत् में मंगल कार्य का सूचक है । "मुझे कदम कदम पर" शीर्षक कविता में भी कवि ने अपने "स्व" को समस्त जगत् में विभाजित कर जीने की आकांक्षा प्रकट की है

"मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीडा है
पल भर मैं सबमें से गुज़रना चाहता हूँ
इस तरह खुद ही को दिये दिये फिरता हूँ ।"[2]

कवि प्रत्येक वाणी में महाकाव्य की विराटता पाते हैं । पल भर में पूरा जीवन जीना चाहते हैं और अपने हृदय को विश्व हृदय में घुल मिल देना चाहते हैं । यह आत्मविलयन वे सृजनात्मकता में आवश्यक मानते हैं ।

मुक्तिबोध के काव्य-विषयक चिन्तन में उनके द्वारा प्रतिपादित तीन क्षणों का विवेचन भी समाहित है । मुक्तिबोध के अनुसार सृजन-प्रक्रिया के तीन क्षण है -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 66.
2. वही - पृ: 72.

पहला है जीवन का तीव्र अनुभव - क्षण । दूसरा क्षण है - इस अनुभव का कवि के दुखते मूलों से अलग हो जाना और एक ऐसी फैंटसी का रूप धारण कर लेना । तीसरा क्षण है फैंटसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया की शुरुआत और पूर्णता तक पहूँचने की गतिशीलता । बाह्य यथार्थ के आघातें से ये तीन क्षण संबद्ध रहते हैं जिनसे कवि-मन उद्वेलित होता है । "एक साहित्यिक की डायरी" में इसके बारे में वे लिखते हैं - "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण । दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुःखते हुए मूलों से अलग हो जाना और एक फैंटसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटसी अपनी आँखों के सामने खडी हो । तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैंटसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था की गतिमानता ।"[1]

फैंटसी

मुक्तिबोध की काव्यचेतना में फैंटसी का निरालापन मिलता है, जो विशेष आकर्षक है । "एक साहित्यिक की डायरी" और "कामायनी एक पुनर्विचार" में उन्होंने इससे संबन्धित अपने सुदृढ विचार व्यक्त किये हैं । उनका मत है कि कला के प्रथम क्षण की तीव्र अनुभूति दूसरे क्षण में विधायक कल्पना के द्वारा फैंटसी में बदल जाती है और तीसरे क्षण में शब्दबद्ध होने की लंबी प्रक्रिया में वह विकसित, परिवर्तित होती हुई, नवीन रूप में प्रकट होती है ।

मुक्तिबोध की फैंटसी स्थिर नहीं है, वह एक गतिशील तत्व है जो उसकी कविता को अर्थ प्रदान करती है तो दूसरी ओर जीवन के भयानक "शून्य को स्थापित करती है । फैंटसी एक प्रकार से, यथार्थ-बोध को अर्थवत्ता और गहराई देती है ।

श्री लल्लन राय ने अपनी पुस्तक - "मुक्तिबोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता" में उनकी फैंटसी की इस विशेषता को स्पष्ट किया है -

---

1. "एक साहित्यिक की डायरी" (मुक्तिबोध) - पृः 19.

"फैंटसी मुक्तिबोध की एक विशिष्ट और यथार्थपरक अवधारण है । कोई कपोल-कल्पित इकाई नहीं । जब जीवनानुभव सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक अनुभूति के रूप में निर्वैयक्तिकता की स्थिति उत्पन्न करते हैं, तभी एक आभास रूप में फैन्टसी का जन्म होता है ।"[1]

स्वयं कवि ने फैंटसी को यथार्थ से संबद्ध माना है -

"अनजाने हाथ मित्रता के
मेरे हाथों में पहुँच ऊष्मा करते हैं
मैं अपनों से घिर उठता हूँ
मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैंटसी में
यह निश्चत है कि फैंटसी कल वास्तव होगी ।"[2]

कवि को लगता है कि मित्रता के हाथों की ऊष्मा उनके हाथों तक पहुँचती है । वे एक फैंटसी में विचरण करते हैं । उनको विश्वास है कि फैंटसी कल यथार्थ होगी ।

मुक्तिबोध केवल चौंकाने या चमत्कृत करने के लिए फैंटसी के प्रति लगाव नहीं रखो । बल्कि यह उनके विवेकपूर्ण चिन्तन पर आधारित है । फैंटसी का प्रयोग केवल एक साधन है जो यथार्थ को गहराई और अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए है । इसलिए मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को रूमानी, मर्मस्पर्शी या कोमल नहीं कहा । क्योंकि उनकी कविताओं में फैंटसी का भयानक रचनात्मक संदर्भ है । वह यथार्थ की विसंगतिपूर्ण भयानकता को बिंबित करता है । जैसे वे कहते हैं -

"इसी लिए मेरी ये कविताएँ
भयानक हिडिंबा है
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ
विकृताकृति-बिंबा हैं ।"[3]

---

1. "मुक्तिबोध का साहित्यविवेक और उनकी कविता" (लल्लन राय) पृ:21.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 118-119.
3. वही - पृ: 193.

अपनी कविताओं में यथार्थ की कठोरता और भयानकता ही वे पाते हैं ।

मुक्तिबोध की फैंटसी न केवल जीवनानुभवों से जुडी होती है, बल्कि वह सर्जनात्मक होती है । उसमें एक संवेदनात्मक उद्देश्य होता है । फैंटसी के मर्म को शब्दबद्ध करते समय अनेक अनुभव चित्र, भाव और स्वर तैर आते हैं । कलाकार को फैंटसी के उद्देश्य और दिशा के निर्वाह के लिए भाव-संपादन करना पडता है । इस संदर्भ में कवि की संशोधन वृत्ति अत्यन्त सजग रहती है ताकि फैंटसी की काट-छांट और बनाव-श्रृंगार हो सके । वे कहते हैं -

"खूब काट-छांट और गहरी छील-छाल,
रंदों और वसूलों से मेरी देख भाल,
मेरा अभिनव संशोधन अविरत
क्रमागत ।"[1]

अभिव्यक्ति के संघर्ष में फैंटसी का मूल मर्म अनेक जीवनानुभवों से उत्पन्न भावों और स्वरों से संयुक्त होकर एक "पर्सपेक्टिव" का रूप धारण कर लेता है । अभिव्यक्ति का यह संघर्ष बहुत तीखा होता है । इस संघर्ष में पडकर फैंटसी किस प्रकार बदलती रहती है, इसकी ओर भी मुक्तिबोध ने संकेत किया है ।

"ये गरजती, गूँजती आन्दोलिता
गहराइयों से उठ रहीं ध्वनियाँ, अत:
उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त्त में
हर शब्द निज-प्रतिशब्द को भी काटता,
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार कृति
है बना रहा
ध्वनि लड रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ"[2]

---

1. "तारसप्तक" (सं) अज्ञेय - पृ: 77.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - प: 13.

ध्वनियाँ गरजती, गूँजती, आन्दोलिता गहराइयों से उठती हैं । शब्दों के आवर्त में हर शब्द का प्रति-शब्द से संघर्ष होता है । बिंबों को भी विकृताकार होना पडता है । ध्वनि अपनी प्रतिध्वनि से लडती है । यहाँ फैंटसी के विकास की प्रक्रिया का सूक्ष्म और स्पष्ट चित्र हमें मिलता है ।

मुक्तिबोध की फैंटसी भविष्य के सपने देखती है । आज के ही नहीं, भविष्य के सत्य को भी वह वाणी देती है -

"वे जगत-समीक्षा करते-से
मेरे प्रतीक रूपक सपने फैंलाते हैं
आगामी के
दरवाजे दुनिया के सारे खुल जाते हैं . "[1]

मुक्तिबोध की फैंटसी जगत-समीक्षा करती हैं, साथ ही आगामी के सपने फैलाती है और दुनिया के सारे बन्द दरवाजों को खोलती हैं । लेकिन इन फैंटसियों को केवल स्वप्न या दिवास्वप्न नहीं माना जा सकता । इनमें मनुष्य की दशा को उसके नाना रूपों में प्रस्तुत करने की क्षमता है । श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में - "मुक्ति-बोध की कविता मनुष्य की दशा को सैकडों स्तरों पर और सैकडों रूपों में उपस्थित करती है । ये कविताएँ अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं, मनुष्य के आत्मसंहार के भयानक और आक्रामक चित्र है ..."[2]

मुक्तिबोध ने माना है कि फैंटसियों के उपयोग से सबसे बडी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है । फैंटसी में अनेक स्वप्न, अनेक कथा और विचारधाराएँ एक दूसरे में मिल जाती हैं -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 118.
2. "आलोचना" (त्रैमासिक) जुलाई-सितंबर 1968 - पृ: 58.

"स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
विचार धारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न ।।
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध विपरीत,
नेपथ्य-संगीत ।।"[1]

फैंटसी से संबन्धित उनकी धारणा का स्पष्ट चित्र इन पंक्तियों में मिलता है । स्वप्न के भीतर वर्तमान स्वप्न, विचारधारा के भीतर प्रच्छन्न अन्य विचार, कथ्य के भीतर विपरीत नेपथ्य संगीत-वास्तविकता और स्वप्न के सुन्दर समन्वय को उसकी पूरी सूक्ष्मता के साथ कवि इन शब्दों में प्रस्तुत करता है ।

और कुछ पंक्तियों में मुक्तिबोध ने फैंटसी को "ब्रह्माण्ड-दीप्ति" तथा "रवि-किरण-बिन्दु" के रूप में कहा है -

"यह निश्चित है कि फैंटसी कल वास्तव होगी ।
मेरा तो सिर फिर जाता है
औ ब्रह्माण्ड-दीप्ति-सी घिर उठती
रवि-किरण-बिन्दु आँखों में स्थिर हो जाता है ।"[2]

उन्हें पूरा विश्वास है कि फैंटसी कल वास्तव होगी । उनका संपूर्ण अस्तित्व उसके "ब्रह्माण्ड-दीप्ति" युक्त आलोक तथा "रवि-किरण-बिन्द" में विलीन हो जाता है ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 16.
2. वही - पृः 119.

मुक्तिबोध फैंटसी के सौन्दर्य-बोध में कल्पना के रोल को मानते हैं - फैंटसियों के सौन्दर्य बोध के बारे में वे "एक साहित्यिक की डायरी" में लिखो हैं- "कलाकार का वास्तविक अनुभव-अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फैंटसी - इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है । वह रोल, वह भूमिका एक सृजन-शील भूमिका है ।"[1]

रचना-प्रक्रिया

कभी कभी ऐसा होता है कि कलाकार अपने जिन भावों की अभि-व्यक्ति करना चाहता है, वे भाव इतने अस्पष्ट होते हैं कि कलाकार को उसके लिए उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते । मुक्तिबोध ने रचना-प्रक्रिया की इस स्थिति के बारे में विचार किया है -

"ज्यों कोई चींटी शिलालेख पर चढती है
अक्षर अक्षर रेंगती-नहीं कुछ पढती है,
त्यों मन
भीतर के लेखों को छू लेता है
बेचैन भटकता है, बेकार ठिठकता है
पर, पकड, नहीं पाता उसके अक्षर स्वर ।।"[2]

सृजन-प्रक्रिया में कभी कभी कलाकार शब्दों और अक्षरों की पहचान में भी असमर्थ होता है । यह कलाकार की असमर्थता और अक्षमता का सूचक नहीं । समर्थ से समर्थ साहित्यकार भी इस समस्या से जूझता है । मुक्तिबोध इसे "अभिव्यक्ति - संघर्ष" की संज्ञा देते हैं ।

---

1. "एक साहित्यिक की डायरी" (मुक्तिबोध) - पृ: 21.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" (वही) - पृ: 231.

अभिव्यक्ति संघर्ष के दौरान मूल फैंटसी इस प्रकार बदलती रहती है कि कविता समाप्त होने पर कवि यह देखकर विस्मित होता है कि फैंटसी को क्या होना था और क्या बन गया । और जब कवि पूर्व स्थिति को अंतिम स्थिति से मिलान करके देखता है तो आश्चर्य से चीख उठता है -

"मैं उसका नहीं कर्ता
पिता धाता
कि वह दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है, वह विश्व शास्त्री है ।"[1]

कवि और काव्य का संबन्ध कर्ता-पिता-धाता और दुहिता का नहीं, वह तो परम स्वाधीन है, विश्व का वही शासन करती है ।

काव्य की रचना-प्रक्रिया में मुक्तिबोध के अनुसार "कंडीशन्ड साहित्यिक रिल्फैक्सेस" बाधक होता है । यह भाव एवं अभिव्यक्ति की जडीभूत वृत्ति है । अपनी विकास-यात्रा में कवि को निरन्तर इस बाधा का सामना करना पडता है । नहीं तो वह अपने निर्मित कटघरे में फँस जाता है । बहुत से कवि आत्म संघर्ष का खतरा उठाने से डरते हैं । क्योंकि -

"खतरा उठाया तो
मानसिक यंत्र-सी बनी हुई आत्मा
आदतन बने हुए अमृतन भाव-चित्र,
विचार - चरित्र ही
टूट - फूट जायेंगे
फ्रेमें सब टूटेंगी व टंटा होगा निज से ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 164.

इसलिए सत्य हमारे यहाँ हैं सतही
पहले से बनी हुई राहों पर घूमते हैं
यंत्रबद्ध गति से ।"[1]

पहले से बनी हुई राहों पर, यंत्रबद्ध गति से चलते चलते सत्य तो सतही हो गये है । आत्मा तो मानसिक यंत्र हो गयी है । खतरा उठायें तो ये सब फ्रेमें टूट जायेंगी और सत्य का नया स्वतंत्र साक्षात्कार होगा ।

अतः मुक्तिबोध की ललकार है कि -

"अब अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगी" जिससे "अरुण कमल" अर्थात् नये जीवनसत्य का उद्घाटन हो ।

कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है । "अंधेरे में" कविता में कवि ने निजी समस्याओं का निरूपण किया है । यहाँ उन्होंने अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से गुज़रते समय होनेवाले घोर संघर्ष को सूचित करते हुए लिखा है -

"किन्तु असन्तोष मुझको है गहरा
शब्दाभिव्यक्ति - अभाव का संकेत ।
काव्य चमत्कार उतना ही रंगीन
परन्तु ठण्डा ।"[2]

शब्दाभिव्यक्ति में कभी कभी कवि को गहरी अतृप्ति होती है । काव्य-चमत्कार ठण्डा होते हुए देखते हैं । इन अधूरे शब्दों में कवि को टटोलना पडता है -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 87.
2. वही - पृः 305.

"बात अभी कहाँ पूरी हुई है
आत्मा की एकता में हुई है ।
इसीलिए
स्वयं अधूरे ये शब्द और
टूटी हुई लाइनें, न उभरे हुए चित्र
टटोलता हूँ उनमें कि
कोई उलझा अटका हुआ सत्य कहीं मिल जाए,
यह बात कौन - सी ।।"[1]

कवि को लगता है कि ये शब्द अधूरे, लाइनें टूटी हुई और चित्र न उभरे हुए है । इनमें कहीं अटका हुआ, उलझा हुआ सत्य मिल जाए, यही उनकी प्रतीक्षा है ।

"मुझे नहीं मालूम
सही हूँ या गलत हूँ या कुछ और
सत्य हूँ कि मात्र मैं निवेदन सौन्दर्य ।"[2]

यह सच है कि कवि व्यक्ति और जगत् की सीमाओं के ऊपर उठकर प्रेम तथा सौन्दर्य के शाश्वत अधिष्ठान की खोज में तल्लीन है । किन्तु इस प्रयाण में वे अनुभव करते हैं कि वे महान् नहीं है । उनके प्राण, अहं और उनकी चेतना क्षुद्रता की सीमाओं में बन्दी है । उनकी कविता में आद्यन्त यह अधूरेपन का बोध दृष्टिगत होता है ।

"चंबल की घाटी में" अपने व्यक्तित्व के अधूरेपन को आत्म व्यर्थता की शैली में कवि व्यक्त करता है -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 87.
2. वही - पृ: 84.

"मैं एक थमा हुआ मात्र आवेग
रुका हुआ एक ज़बर्दस्त कार्यक्रम
मैं एक स्थगित हुआ अगला अध्याय
अनिवार्य
आगे ढकेली गयी प्रतीक्षित
महत्वपूर्ण तिथि
मैं एक शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य ।।"[1]

कवि अपने अधूरेपन के अनुभव से इतने निराश होते हैं कि अपने को वे "एक थमा हुआ आवेग" या "स्थगित हुआ अगला अध्याय" या यहाँ तक कि "शून्य में छटपटाता हुआ उद्देश्य" पाते हैं ।

मुक्तिबोध की रचना हर क्षण बेचैनी और ऐंठन में से निकलती है । यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यह बेचैनी रचना में कैसे स्थान्तरित होती है । "अंधेरी में" कविता में कवि की समस्या है कि समाज के संघर्षों और उत्थान-पतन के बीच रचना कैसे बाहर से अन्दर आती है और फिर कैसे बाहर दूर तक परिव्याप्त हो जाती है । कविता के अंतिम अंश में वे लिखते हैं -

परम अभिव्यक्ति
लगातार घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है ।
इसीलिए मैं हर गली में
और हर सडक पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" - (मुक्तिबोध) - पृ: 219.

प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक - प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ।।"[1]

कवि का अन्तर्मन "परम अभिव्यक्ति" की खोज में निरन्तर "हर गली में", "हर सडक" पर भटकता रहता है । वह प्रत्येक आत्मा के इतिहास, प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श तक पहुँचने के लिए आकुल है । मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया के मूल में, उनके अन्तर्मन की यह व्याकुलता प्रकट है । आगे वे कहते हैं -

"खोजता हूँ पठार . पहाड समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा ।"[2]

आत्मसंभवा, अनिवार अभिव्यक्ति की खोज में पठार, पहाड, समुन्दर तक वे जाने को तैयार हैं ।

यथार्थ की अभिव्यक्ति

मुक्तिबोध ने काव्य की सृजन-प्रक्रिया को जीवन-प्रक्रिया के समानान्तर प्रतिष्ठित किया है । जीवन की तरह उनकी कविताएँ लंबी होते हुए भी अधूरी-सी लगती हैं । कारण यह है कि वास्तविकता का एक साक्षात्कार कवि को दूसरे

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 317.
2. वही - पृ: 317.

साक्षात्कार तक पहुँचा देता है और यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती, चलती रहती है । वास्तविकता का यह अंतहीन साक्षात्कार ही उनकी कविताओं को गति और विस्तार देता है, उसमें जीवन और व्यक्तित्व का समस्त प्रवाह बहने लगाता है । कवि खीझकर कहता है

"नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है ।
वे मैं उसका नहीं कर्ता,
पिता - धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती,
परम स्वाधीन है, वह विश्व शास्त्री है ।
गहन गंभीर छाया आगमिष्यत् की
लिए, वह जन-चरित्री है ।
नये अनुभव व संवेदन
नये अध्याय प्रकरण जुड
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है
व मेरे कारणों से सकुच जाती है ।"[1]

जीवन का अनुभव-संवेदन ही कविता को विस्तार देता है और वह जीवन यथार्थ के वैभव से जगमगा उठती है किन्तु कवि के अभिव्यक्ति - सामर्थ्य के सीमित होने के कारण कविता की रचना-प्रक्रिया का सकुचना स्वाभाविक हो जाता है ।

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया की विशेषता यह है कि वह रचना के बाद भी समाप्त नहीं होती । वह रचना के पहले, रचना के भीतर और रचना के बाद तक निरंतर चलती रहती है ।

---

1. "चाँद का कुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 164.

इस प्रकार रचना-प्रक्रिया जीवन के समानान्तर चलती रहती है । कवि कविता के द्वारा "वास्तविकता को प्रक्षेपित" मात्र नहीं करता वह उसे और अच्छी तरह जानता है उसे पुनः जीता है, पुनः अनुभव करता है । पुनः स्मृति के आधार पर जीवन को भोगने और समझने की प्रक्रिया कलाकार को मुक्त करती है -

"मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ सच ।"[1]

अपनी अधूरी कविता में उमग कर वे जीवन के सत्य की खोज करना चाहते हैं ।

काव्य आभ्यन्तर जीवन-जगत् का ही बाह्यीकृत रूप है । वह कृति द्वारा स्वानुभूत जीवन की पुनर्रचना है । इसलिए मुक्तिबोध बाह्य-जीवन के ज्ञान और उसके आभ्यन्तरीकरण पर बल देते हैं और उन्हें यह चिन्ता सताती है

"हम दिल के सुनहले तीर
बाहर क्यों नहीं फेंक पाते
तेज़ तेज़
और बाहर की चीज़
उसी तेज़ी से वापस क्यों नहीं फेंकती
अपने पूरे लहरीले रंग
कि जिनसे दिल
जरा-सा सुलगें और भभक जाय
उस बाहर के भीतर की तस्वीर
उभर आए ।"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 164.
2. "रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त" - वही - उद्धृत-"ज्ञानोदय"फरवरी-69.

उनके अनुसार काव्य"बाहर के भीतर की तस्वीर" है । मुक्तिबोध "काव्यात्मन् फणिधर" से आग्रह करते हैं कि वह अन्तर-बाहर का व्यापक सर्वेक्षण करें -

"जो भूगर्भशास्त्री
भीतर का बाहर का
व्यापक सर्वेक्षण कर डालो ।"[1]

अनुभूति के स्तर पर मानव जीवन के यथार्थ को सृजनात्मक वाणी देना मुक्तिबोध का सिद्धान्त था

"भूखे चूलहे के भोले अंगारों में रम
जन-पथ पर मरे शहीदों के
अंतिम शब्दों में विलम विलम
लेखक की दुर्दम कलम चली ।"[2]

लेखक की दुर्दम लेखनी शहीदों के अंतिम शब्दों में विलम विलम चलती है । भूख और संघर्षों से गुजुरते हुए प्राण छोडनेवाले इन बेचारों की व्यथा को वाणी देना कलाकार का परम कर्तव्य है । और एक कविता में वे लिखते हैं -

"शब्दों शब्दों में वाक्यों में
मानवी अभिप्रायों का जो सूरज निकला
उसकी विश्वाकुल एक किरन
तुम भी तो हो,
धरती के जो को अकुलानेवाली
छवि मधुरा कविता की
प्यारी प्यारी सी एक कहन
तुम भी - तो हो ।"[3]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 142.
2. वही - पृ: 172.

कवि की दृष्टि में शब्दों और वाक्यों में मानवी अभिप्रायों के सूरज निकलते हैं । उसकी किरणें विश्व को आकुल करती हैं । कविता की छवि धरती के हृदय को आकुलता प्रदान करती है । धरती के प्रति आकुलता कविता का एक महत्वपूर्ण गुण है ।

"तारसप्तक" में "मृत्यु और कवि" शीर्षक कविता में कविता और जीवन के अनिवार्य संबन्ध को मुक्तिबोध ने समझाया है

"तुम कवि हो, यह फैल चले मृदु गीत
निबल मानव के घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से जीवन की गति
जीवन का स्वर"[1]

कवि का यही कर्तव्य है कि वह दुर्बल मानव के घर आशा की ज्योति फैलाकर जीवन का स्वर गुंजा दे । कवि व्यक्तित्व अपने गहरे अकेलेपन से निकलकर बाहर के अभावग्रस्त जीवन से साक्षात्कार करता है और इस व्यापक साक्षात्कार के बाद

"हिये में प्रकाश - सा होता है
खुलती हैं दिशाएँ उजला आँचल पसारे हुए
रास्ते पर रात होते हुए भी मन में प्रात ।
नहा-सा मैं उठता भव्य किसी नव-स्फूर्ति से
असह्य-सा स्वयं-बोध विश्व-चेतना-सा कुछ
नव शक्ति देता है ।
निज उत्तरदायित्व की विशेष सविशेषता
रास्ते पर चलते हुए गहरी गति देती है ।"[2]

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 20.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 81.

आत्मान्वेषण के मार्ग से, आत्मसंशोधन को लक्ष्य कर अग्रसर होने पर उसे अन्तर्मन से अपना अभीष्ट आत्म संकल्प प्राप्त हो ही जाता है ।

काव्य-लक्ष्य

कवि अपने आत्म संघर्ष के द्वारा यथार्थ का साक्षात्कार करना चाहता है । यही कारण है कि वह ज़िन्दगी के चित्र बनाने के लिए उत्सुक है, उसी चित्र-निर्माण में वह अपने को समर्पित भी पाता है । मुक्तिबोध मानव ज़िन्दगी के प्रति प्रतिबद्ध है । विचार या मत इसी प्रतिबद्धता के सहायक हैं -

"तस्वीरें बनाने की
इच्छा अभी बाकी है -
ज़िन्दगी भूरी ही नहीं, वह खाकी है ।

पैरो के नखो से या डंडे की नोंक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
तस्वीरें बनती हैं
बशर्ते कि जिन्दगी के चित्र सो
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो ।"[1]

कवि जीवन की तस्वीर बनाने के इच्छुक है । लेकिन वह कभी पूरी नहीं होती ।

कवि मनु-पुत्र पर गहरा विश्वास रखता है । मनु-पुत्र को विराटता की ओर ले चलना उनका लक्ष्य है । कवि की मान्यता है कि प्रत्येक के हृदयाकाश में एक ऐसी ही तारा संस्थित है । वह विराट् का पुत्र है - परमात्मा का अंश है । वे प्रत्येक मनुष्य पर विश्वास करते हैं -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 41-42.

"और जाने क्यों
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र गति,
जो शून्य में निस्संग,
जिसका पथ विराट-
वह छिपा प्रत्येक उर में,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद,
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।
उसमें भागता है एक तारा,
जोकि अपने ही प्रगति पथ का सहारा,
जोकि अपना ही स्वयं बन चला चित्र
भित्तिहीन विराट पुत्र ।
इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।"[1]

यहाँ प्रत्येक-मनु-पुत्र पर विश्वास करनेवाला कवि गहरी आस्था का संदेश देता है । किन्तु कवि अनुभव करता है कि इस विराट् पुत्र को बाँधने की शक्ति उसमें नहीं । आत्मा की अनुभूति को शब्दों द्वारा वे संप्रेषित नहीं कर सकते । अभिव्यक्ति की इस असमर्थता के कारण वे पूछते हैं -

"क्या हमारे भाव शब्दातीत हैं?
या तुम्हारा रूप भावातीत है?
हम न गा सकते तुम्हारा गीत है ।"[2]

वे अनुभव कर लेते हैं कि या तो उस "विराट्" के रूप भावातीत हैं या हमारे भाव शब्दातीत हैं । वे नाम और रूप के आवरण को भेद कर अर्थ की तह तक पहुँचना चाहते हैं । वे समझते हैं कि यदि कवि जीवन के प्रश्नों में ही उलझ गया, तो

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 48-49.
2. वही - पृ: 16.

वह सतही और उथला बन जाएगा । इसलिए वे इन प्रश्नों से भी महान प्रश्न का उत्तर पाना चाहते हैं

"अर्थ खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या यह प्रश्न जीवन का अमर ।"[1]

यह उनकी प्रमुख काव्य-जिज्ञासा है । अपनी सीमाओं को लांघ कर वे जीवन का सही अर्थ पाना चाहते हैं । जीवन के अमर प्रश्न का उत्तर पाने के लिए उनके प्राण आकुल हैं ।

कवि यह जानता है कि जनता पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक दिन तक ठहरने नहीं देगी । इसीलिए वे क्रान्ति के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं -

"कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता ।
पूँजी से जुडा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को ।"[2]

कवि मुक्तिबोध व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विरोध नहीं करते । बल्कि वे व्यक्ति के स्वातंत्र्य को किसी महान् यज्ञ में अर्पित करना चाहते हैं । कवि को पूँजीवाद से लडकर, जनता को मुक्ति दिलाने में कर्तव्य बद्ध होना चाहिए ।

मुक्तिबोध ने कवि-कर्म को एक आसान कार्य नहीं माना । उसे सारी यंत्रणा, सारी यातना के संभावित खतरे उठाना होगा और सौन्दर्यवादी मूल्यों को तोडना होगा । सौन्दर्यवाद के दायरे से निकलने का प्रयास करते समय कवि अभिव्यक्ति के संकट का सामना करता है

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 53.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 310.

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे,
तोडने हैंगे ही मठ और गढ सब ।
तब कहीं देखने मिलेंगी थाहें
जिनमें से प्रतिपल काँपता रहता
अरुण कमल एक
धँसना ही होगा
झील के हिम शीत सुनील जल में
जादुई झील को करनी ही होगी
मेरी प्रतीक्षा ।"[1]

कवि को परंपरावाद के मठ और गढ सब तोडकर सीमित दायरे से बाहर निकलना होगा । झील के हिम शीत जल में धँसकर अरुण कमल प्राप्त करना होगा । कवि एक नव्य जन-जीवन को "अरुण कमल" के प्रतीक के द्वारा अपने लक्ष्य के बारे में स्वीकार किया है । क्रान्ति की इस यात्रा में कभी क्रान्तिकारी एक ही साथ घूमते, रहते, खाते और सोते हैं । अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वे हमेशा संघर्ष-रत हैं, लेकिन सब चुप है -

"सब चुप, साहित्यिक चुप और कवि मन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके ख्याल से यह सब गप हैं
मात्र किंवदन्ती ।"[2]

कवि बुद्धिजीवियों के नपुंसक व्यक्तित्व के प्रति इतना तीखा है कि उनपर वह प्रहार करता है, एक आन्तरिक समझ और वेदना से व्यंग्य करता है । पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति यह व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण स्वयं कवि के अन्तः संघर्ष का द्योतक है ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 306.
2. वही - पृः 311.

कवि जीवन के अंधकार में प्रकाश फैलानेवाला है । वे कवि को "आत्म संयोगी" के रूप में मानते हैं -

"पुराने रोशनी - घर के अंधेरे शून्य-टॉवर से
अचानक एक खिडकी खोल
नीली तेज़ किरने कुछ निकलती हैं ।
वहाँ हूँ मैं
खडा हूँ
मुसकराता फेंकता अपने
चमकते चिह्न,
मीलों दूर तक, उन स्याह लहरों पर
कि सूनी दूरियों के बीच रहकर भी
जगत् से आत्म संयोगी
उपस्थित हूँ ।"[1]

कवि समाज के लिए रोशनी-घर का काम करता है । अंधेरे टॉवर से अचानक निकली हुई किरणों के समान जीवन की नील लहरों पर कवि की चेतना प्रकाश फैला सकती है, वह जगत् की उलझनों के बीच आत्म संयोगी के रूप में उपस्थित है ।

और एक कविता में मुक्तिबोध ने लेखक को जन-मन का अध्ययन करनेवाला "चेतना-पुरुष" माना है -

"मैं लेखक हूँ
प्रतिपल युवजन-व्यक्तित्व अध्ययन करता हूँ
उनके हिये के तालाबों में
सिर से पैरों तक लहू-लुहान नहाता है
चेतना-पुरुष ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 160.

वह बिजली - भरा रक्त है जो घुलता है
श्यामल लहरों में
वे लाल रक्त-रेखाएँ गहरी ज्योतित हैं ।"[1]

कवि "चेतना-पुरूष" होकर युवजन-व्यक्तित्व का अध्ययन करता है । जीवन की श्यामल लहरों में प्रकाशित होनेवाली लाल रक्त रेखाओं का अर्थ पाना चाहता है ।

जीवन के कारखाने में व्यक्ति रोज़ आत्महत्या कर पुनर्जन्म पाता है । लेकिन कवि का गहन अनुभव अग्नि में पिघल कर छोटा दोहा बन जाता है ।

"किन्तु द्वन्द्व-स्थिति में स्थापित यह
मेरा वज़नदार लोहा
उन भयंकर अग्नि-क्रियाओं में
तेज़ ढकेला जाकर
पिघलते हुए दमकते हुए
तेजः पुंज गहन अनुभव का छोटा-सा दोहा बनता हूँ ।"[2]

जीवन की "द्वन्द्व स्थिति" में स्थापित होकर कवि-चेतना का वज़नदार लोहा अनुभव की भयंकर अग्नि से दग्ध स्थापित किया है ।

कवि मानता हैं कि जीवन यात्रा का रास्ता कठिन है । सत्य की अनुभूति कठिन है -

"सत्य को अनुभूत करना सहज है ।
मुश्किल बहुत
उसके कठिन निष्कर्ष मार्गों पर चले चलना
इसलिए इसअमृत निर्झर लहर जल को
और भी पी लो ।"[3]

---

1. "भूरी भूरी खाक धूल" (मुक्तिबोध) - पृः 86.
2. वही - पृः 48.

जीवन के कठिन निष्कर्ष-मार्गों पर चलना
कवि के लिए बहुत मुश्किल लगता है ।

कवि का मन ज़िन्दगी की विसंगतियों के प्रति हमेशा आक्रोश प्रकट करना चाहता है । इसके बारे में मुक्तिबोध यों कहते हैं ।

"हर पल चीखता हूँ । शोर करता हूँ ।
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ ।"[1]

जीवन के हर मोड में चीखते हुए, शोर करते हुए उन्हें कभी कभी अपनी इस आक्रोश-शीलता पर लज्जा होती है । लेकिन कवि के विरोधी तत्वों के प्रति आक्रोश करने में अस्वाभाविकता नहीं । कवि को आत्मचेतस् से विश्वचेतस् होने की उस आवश्यकता को समझाते हुए उन्होंने "नयी कविता का आत्म संघर्ष" में भी लिखा है -

"आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रेगे-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उडकर बाहर जाना ही होगा । कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है ।"[2]

कवि अपने सीमित "अहं" के क्षेत्र से बाहर निकलकर ही विश्व का स्वांशीकरण कला के द्वारा कर सकता है ।

कवि को लगता है कि एकान्त प्रिय कलाकार हमेशा अवहेलना का पात्र होता है -

"मुक्ति का इच्छुक तृषार्त अन्तर
मुक्ति के यत्नों के साथ निरन्तर
सबका था प्यारा ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 149-150.
2. "नयी कविता का आत्म संघर्ष" - वही - पृ: 184.

अपने में द्युतिमान् ।
उनका यों वध हुआ,
मर गया एक युग,
मर गया एक जीवनादर्श ।।"[1]

अपने में द्युतिमान होकर, सबका प्यारा बनकर रहनेवाले आत्मकेन्द्रित व्यक्ति का अपमान होता है ।

कवि के लिए विषयों के ठीक चुनाव पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है । स्वयं कवि ने यह स्वीकार किया है कि हमारे चारों ओर विषयों की कमी नहीं, बल्कि ठीक चुनाव की कमी है -

"लेखक की कठिनाई यह नहीं कि,
कमी है विषयों की
वरन् यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है
और वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है ।"[2]

विषयों का ठीक चुनाव तो जीवन से संबन्ध रखता है । जो समय और काल की सापेक्षता में अर्थवान होता है वही जीवित रहता है । लेखक के लिए यह एक कठिन समस्या है । क्योंकि विषयों का आधिक्य असहनीय रूप से उसे सताता है ।

काव्य-सत्यों का मूल्य

कवि कहता है कि काव्य रूपी रत्नों को अब छिपाकर, सुरक्षित रखना है । क्योंकि उनको जिन्हें सौंपना है, वे आते होंगे । यह काल तुम्हारा नहीं ।

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 299.

"लहराओ, लहराओ, नागात्मक कविताओ,
झाडियों छिपो,
उन श्याम झुरमुटों तले कई
मिल जाय कहीं
वे फेंके गये रत्न, ऐसे
जो बहुत असुविधाकारक थे,
इसलिए कि उनके किरण-सूत्र से होता था
पट-परिवर्तन, यवनिका-पतन
मन में जग में ।
ओ काव्यात्मन् फणिधर, अपना फन फैलाओ ।
मणि-गण को धारण करो, उन्हें
वल्मीक - गुहा में ले जाओ
एकत्र करो "।

काव्यात्मन् रत्न धारण करनेवाले सामूहिक अचेतन को कवि ने "फणिधर" कहा है । उनका कथन है कि यह फणिधर तभी तक काव्यात्मन् को तम की गुहा के नीचे छिपा सकेगा, जब तक "लोग" उसे ढूँढने नहीं आ जाते । ये रत्न जग-परिवर्तन के मूल्य-सत्य हैं जो आज उपेक्षित पडे हुए हैं । मुक्तिबोध का काव्य-सत्य सर्वहारा वर्ग के जीवन की तलाश पर आधारित है ।

मुक्तिबोध कवियों को, इस संक्रमण-काल में धैर्य के साथ प्रतीक्षारत होने का उपदेश देते हैं । एक समय आएगा जब काव्य-मूल्य स्थापित होगा ।

"ओ नागात्मन्
संक्रमण काल में धीर धरो,
ईमान न जाने दो ।।
तुम भटक चलो,

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 132.

इन अन्धकार-मैदानों में सरसर करते ।।
शत-उपेक्षित भूमि में फिंके
चुपचाप छिपाये गये
शुक्र, गुरु, बुध - मंगल
कचरे की परतों - ढँके तुम्हें मिल जायेंगे ।।
खोदो, जड मिट्टी को खोदो ।
ओ भूगर्भशास्त्री
भीतर का बाहर का
व्यापक सर्वेक्षण कर डाले ।"[1]

स्थूल, भौतिक संघातों के इस अंधकार को भेदने पर काव्यात्मन् रत्न की प्राप्ति संभव है । कवि नागात्मक कविताओं से निरन्तर अन्वेषणशील होने का आग्रह करता है । हो सकता है कि उसे शुक्र, गुरु, बुध और मंगल कचरों के बीच दबे मिल जायें ।

"अशक्त" नामक कविता में वे लिखते हैं -

"हम लिखें कविता विरह पर, दुःख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर,
या रचे विज्ञान जीवन के बने -
प्रश्नमय जो अंग सतत क्रुद्ध पर'

खींच लें हम चित्र जीवन में बहे
रम्य मिश्रित रंगधारा के नवल,
चकित हो लें, उल्लसित हो लें कभी
दुःख ढो लें तत्व-चिन्ता कर सकल"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृः 142.
2. "तारसप्तक" (संपादक अज्ञेय) - पृः 16.

मुक्तिबोध के अनुसार कविता का विषय चाहे प्रेम हो या युद्ध हो, वह जीवन की आधार भूमि पर खडा है । जीवन - प्रवाह की मिश्रित रम्य रंगधारा के चित्र खींचने में ही कविता की सार्थकता है ।

साहित्य के स्वतंत्र विकास को मुक्तिबोध ने इतना अनिवार्य माना है कि उसमें बाधा डालनेवाले किसी भी तत्व का विरोध किया है । नये कवियों लघु-मानव के सिद्धान्त का जो प्रचार किया है वह मुक्तिबोध के अनुसार, साहित्य के स्वतंत्र विकास में बाधक है -

"सचाई के अधजले मुर्दों की चिताओं को
फटी हुई फूटी हुई दहक में कवियों ने
बहकती कविताएँ गाना शुरू किया ।"[1]

सचाई को तोड-फोडकर, बहकती कविताएँ गाना उनके लिए स्वीकार्य नहीं । वे तो "प्रत्येक वाणी में महाकाव्य - पीडा" पाने और "पलभर में सबमें से गुज़रने" के उत्सुक हैं ।

शिल्प-पक्ष

मुक्तिबोध ने साहित्य और कला को यथार्थ की कठोर भावभूमि में परखा है । इसलिए उनकी कविता में रूमानी धरातल का अभाव है । मुक्तिबोध काव्य के शिल्प पक्ष पर जो मत रखते थे वह भी इसपर आधारित है ।

मुक्तिबोध ने कलात्मकता को अत्यन्त सीधे सादे ढंग से पहचान लिया है । उनकी सौन्दर्य - दृष्टि साधारण लोगों से बिलकुल भिन्न है । साधारणतया यह माना जाता है कि कला की सफलता इस बात में है कि कलाकार के विचार औ उद्देश्य कहाँ तक कलात्मक ढंग से परोक्ष रूप से प्रतिबिंबित हुए हैं । इसके बारे में मुक्तिबोध का कथन है

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 37.

कवियों में कहीं सौन्दर्यवाद के नाम पर तो अन्य किसी नाम पर यह भय समाया रहता है कि अगर हम जीवन के बुनियादी तथ्य को ही गद्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत करें तो लोग हमारी कलाकृति को कलाहीन कह देंगे अथवा लोग हमें कम्यूनिस्ट कह देंगे . साफ साफ का अर्थ कलाहीन होना या गद्यात्मक होना नहीं है ।"[1]

सीधी - सादी शैली में जीवन के बुनियादी तथ्य को प्रस्तुत करना कलाहीनता या गद्यात्मकता नहीं है । वे धैर्य के साथ लिखते हैं

"कविता में कहने की आदत नहीं
पर कह दूँ . ."[2]

संक्रमणकालीन स्थिति में कला किस प्रकार प्रचारवादी प्रचार-कविता बन सकती है, उसकी ओर मुक्तिबोध ने संकेत किया है

"पैरों की नखों से या डंडे की नोक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
तस्वीरें बनती हैं
बशर्ते कि ज़िन्दगी के चित्र सौ
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो ।
× × ×
फिलहाल तस्वीरें
इस समय हम
नहीं बना पायेंगे

---

1. "नयी कविता का आत्म संघर्ष" (मुक्तिबोध) - पृ: 33.
2. "चाँद का मुँह टेढा है" - वही - पृ: 42.

अलबत्ता पोस्टर हम लगा जायेंगे ।
हम धधकायेंगे ।
मानो या मानो मत
आज तो चन्द्र है सविता है,
पोस्टर ही कविता है ।।"[1]

इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तिबोध पोस्टर - कविता के पक्षपाती हैं । उनकी कोई भी ऐसी कविता नहीं मिलती । लेकिन समय के अनुकूल उनके दो एक कथन ऐसे मिलते ही हैं ।

मुक्तिबोध ने कलाकार की समानता कारीगर से की है

"कारीगर ने साथी के कंधे पर हाथ रख
कहा तब
मेरे भी कर्तव्य सुनो तुम,
धुएँ से कजलाये
कोठे की भीत पर
बाँस की तीली की लेखनी से लिखी थी
राम-कथा व्यथा की
कि आज भी जो सत्य है
लेकिन, भाई कहाँ अब वक्त है
तस्वीरें बनाने की
इच्छा अभी बाकी है, -
ज़िन्दगी भूरी ही नहीं , वह खाकी है ।"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 42-43.
2. वही - पृ: 43.

मुक्तिबोध कलाकार और कारीगर में भेद नहीं करते । बल्कि वह कलाकार में कारीगर होना और कारीगर में कलाकार का अस्तित्व अनिवार्यतः स्वीकार करते हैं । किन्तु यह कारीगरी, काव्य का कोई निरपेक्ष तत्व नहीं । उसकी महत्ता सापेक्ष है । कलाकृति की शिल्पगत कलात्मकता उसका अन्तर्वर्ती तत्व नहीं ।

मुक्तिबोध ने स्फूर्तिमय भाषा-प्रवाह पर बल दिया है ।

"उसी तरह, स्फूर्तिमय भाषा - प्रवाह में
जगमगा उठते हैं भिन्न भिन्न मर्म - केन्द्र ।
सत्य वचन
स्वप्नदृग कवियों के तेजस्वी उद्धरण,
संभावी युद्धों के भव्य-क्षण आलोडन
विराट् चित्रों में
भविष्य आस्फालन
जगमगा उठता है ।"[1]

फैंटसी या बिंब की अभिव्यक्ति मुक्तिबोध की काव्य भाषा को एक प्रवाह या गति देती है । इसीके बारे में मुक्तिबोध कहते हैं कि स्फूर्तिमय भाषा-प्रवाह में भिन्न भिन्न मर्मकेन्द्र, जगमगा उठते हैं, जो विराट् चित्रों में आलोकित हो उठते हैं ।

प्रतीक

मुक्तिबोध ने कविता में प्रतीकों और बिंबों को काव्य-कथ्य के घनत्व को बढाने के लिए आवश्यक माना है । उनके प्रतीक और बिंब कल्पना के सहारे गढे हुए नहीं है । -

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 191.

"प्रतीकों और बिंबों के
असंवृत रूप में ही रह
हमारी ज़िन्दगी है यह"[1]

मुक्तिबोध अपने प्रतीकों और बिंबों में वास्तविक जीवन की घडकनें और ज्ञान-संवेदन की गतिशीलता प्रस्तुत करते हैं ।

इस प्रकार मुक्तिबोध की कविता काव्य सत्य की निरन्तर खोज से स्थापित है । उनकी कविता का अधूरा, दीर्घ स्वभाव उनकी पूर्णता की तलाश की ओर संकेत करता है । हर गली में, हर सडक पर, पठार और समुन्दर में भी अपनी खोई हुई परम अभिव्यक्ति की खोज में भटकना ही उनकी कविता का लक्ष्य है ।

"नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है ।
व मैं उसका नहीं कर्त्ता,
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती,
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है ।
लिये, वह जन-चरित्री है ।
नये अनुभव व संवेदन
नये अध्याय-प्रकरण जुड
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है
व मेरे कारणों से सकुच जाती है ।"[2]

---

1. "चाँद का मुँह टेढा है" (मुक्तिबोध) - पृ: 161.
2. वही - पृ: 164.

मुक्तिबोध की उपर्युक्त काव्यपंक्तियाँ नयी कविता की महत्वपूर्ण विशेषताओं की ओर इशारा करती हैं । साथ ही साथ कालयात्री कविता के स्थायित्व की ओर भी प्रकाश डालती हैं ।

श्री गिरिजा कुमार माथुर

रचना-धर्मिता और आस्वादन

श्री गिरिजा कुमार माथुर की काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में उनकी काव्य-दृष्टि तथा काव्य-रचना के संबन्ध में उनका परिपक्व चिन्तन प्रकट हुआ है । "धूप के धान" की भूमिका में नयी कविता की दुर्बलताओं को समझाते हुए वे सच्चे साहित्य की व्याख्या यों करते हैं । - "नयी कविता से हमारा अर्थ उस समस्त कविता से है जो पुरानी धारा की प्रतिक्रिया-स्वरूप काव्य-क्षितिज पर उदित हुई है । कविता में वस्तु और शैली की हम कोई वर्णाश्रम-व्यवस्था मानने के पक्ष में नहीं है । शैली या विचार वस्तु के श्रेष्ठ तत्व चाहे वह काव्य के किसी निकाय से आये हो, हमारे लिए अछूत नहीं ।"[1]

माथुरजी नयी कविता के अर्थ को व्यापक दृष्टि में लेना चाहते हैं । श्रेष्ठ , नया तत्व चाहे वह वस्तुगत हो या शैलीगत, नये कवि के लिए समान रूप से स्वीकार्य है । क्योंकि वस्तु-शैलियों में कोई स्थापित भेद उनके लिए स्वीकार्य नहीं । प्राचीन काल से लेकर काव्य को विषय और शैली के कटघरों में बाँध लेने की प्रवृत्ति मिलती है । लेकिन नये कवि इन दोनों को पृथक् पृथक् रखे बिना उनके समन्वयात्मक रूप का समर्थन करते हैं ।

नयी कविता के प्रति उनका स्वस्थ और विशाल दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट रूप से प्रकाशित हुआ है ।

---

1. "धूप के धान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 8.

गिरिजा कुमार माथुर मानते हैं कि एक स्वस्थ जीवन-दर्शन कविता की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अनिवार्य है । इसीके अभाव से नये कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति में कुछ कृत्रिमता या "शोमैनशिप" दिखाया है । माथुरजी लिखते हैं -

"कविता की विचार-वस्तु में इसलिए हमें अक्सर उलझाव, दिग्भ्रम, अर्थहीनता, विशृंखलता, भटकती तर्क-विचार पद्धति, दुःखवाद, नियतिवादी पीडा, द्विविधा, संदेह, अश्रद्धा, अनास्था देखने को मिलती है ।

यदि नये कृतिकार को काव्य-साहित्य में अपना गंभीर योगदान देना है तो इन कमज़ोरियों से उसे ऊपर उठना होगा ।"[1]

आजकल कविता की विषय-वस्तु में दर्शित "वैचारिक दिग्भ्रम" का माथुरजी विरोध करते हैं । वे काव्य में निरर्थक चमत्कारों को दूर कर स्वाभाविकता लाना चाहते हैं ।

काव्य और जीवन-यथार्थ

जीवन-यथार्थ के प्रति सचेत दृष्टि की अनिवार्यता गिरिजाकुमार माथुर ने निम्न लिखित पंक्तियों में समझायी है -

"हमने नहीं गायीं
इनामी प्रशस्तियाँ
न लिखे कसीदे
न दिये वह बयान
जिनके शीर्षक बदलकर
कर लेते इस्तेमाल
हर मकसद और मौके पर
हम खडे रहें भाषा के उस असाध्य मोर्चे पर
जहाँ आदमी को आदमी
पत्थर को पत्थर कहना
बडे जिगरे का काम है ।"[2]

---

1. "धूप के धान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 12.
2. "साक्षी रहे वर्तमान" - वही - पृ: 59.

बडे बडे इनाम पाने को लक्ष्य कर प्रशस्तियाँ, कसीदे या बयान प्रस्तुत करना आजकल एक प्रचलित कवि-कर्म हो चुका है । लेकिन माथुरजी इसको कविता का धर्म नहीं मानते । उनके मत में यहाँ आदमी को आदमी कहना या पत्थर को पत्थर कहना ही सबसे बडा सराहनीय कार्य है । अर्थात् काव्य में यथार्थ को यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करना स्वीकार्य है । इनाम या ख्याति के लिए टेढे रूप में प्रस्तुत करना, उनकी राय में, जघन्य है ।

सत्य को सत्य के रूप में प्रस्तुत करने की यह प्रवृत्ति मानव के प्रति प्यार-ममत्व से जुडी हुई है । इस बात को उन्होंने "भीतरी नदी की यात्रा" में यों वाणी दी है ।

"इन कविताओं में मैं आदमी के प्रति प्यार और ममत्व को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ । कोई भी साहित्य या कला जो आदमी के प्रति घृणा का भाव पैदा करती है वह अन्तः मानव विरोधी होती है ।"[1]

नयी हिन्दी कविताओं में जो अव्यवस्थित काव्य भावना और घृणित भाव मिलता है उसका, खुले शब्दों में माथुरजी यहाँ विरोध करते हैं । इसके बदले माथुरजी आदमी और जीवन के प्रति प्यार और ममत्व की पुनः स्थापना करना चाहते हैं । उनका लक्ष्य एक नयी रचना-धर्मिता को प्रस्तुत करना है जिसमें प्रकृति और मनुष्य जीवन की स्वाभाविक लय मिलती है ।

भावुकता

गिरिजाकुमार माथुर काव्य के भाव-पक्ष के बारे में अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टि रखते हैं । वे कोरी भावुकता या कोमल भावों को महत्वपूर्ण नहीं मानते । "प्रौढ रोमांस" नामक कविता इसकी परिचायक है ।

---

1. "भीतरी नदी की यात्रा" (गिरिजा कुमार माथुर) - भूमिका

"काव्य कला की मधुर कल्पना
केवल शारीरिक है

हमने भी सोचा था पहले
इस जीवन में
सबसे अधिक मूल्य होता कोमल भावों का
पर ठोकर पर ठोकर खाकर हमने जाना
तोल तराजू के पलडों में
मन के संघर्षों से बाहर के संघर्ष
अधिक बोझिल हैं ।"[1]

कवि की, पहले यह धारणा थी कि केवल मधुर, कोमल कल्पनाएँ ही काव्य में सबकुछ है । लेकिन धीरे धीरे जीवन की कठोर वास्तविकताओं से टकराकर उन्होंने यह सत्य जान लिया कि केवल मानसिक संघर्ष ही नहीं बाहरी संघर्ष की भी काव्य में सशक्त अभिव्यक्ति होनी चाहिए ।

कलाकार और संघर्ष

माथुरजी की राय में कलाकार का जीवन संघर्ष और क्रांन्ति का पर्याय है । कलाकारिता के नाम पर जो खोखलापन मिलता है, उसपर तीखा व्यंग्य करते हुए सच्ची कलाकारिता का तत्व समझाते हैं -

"वे सब रंग-बिरंगे कपडे पहिने
सज - धज कर फिर आयेंगे
अपनी सबसे अच्छी
बहुरूपिया पोशाकों में
और घूमेंगे निरूद्देश्य
निरापद सडकों पर

---

1. "धूम के धान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 39.

या बैठ जायेंगे सस्ते रेस्त्राओं में
जहाँ जुटों से बँटे नाराज़ झुण्ड
सिर्फ निरामिष बहसों में
डुबाते हैं गुस्सा
या झुंझलाहट मिटाने को करते हैं निन्दा
आपस की दुनिया की
समाज की सरकारों की
कलमुँही गृहस्थी की
बासी पत्नियों की
परोक्ष रसवाली चर्या
रइसों के व्यभिचार की
न कर सकनेवाली क्रान्ति की"[1]

आजकल कलाकारिता केवल रसमय चर्याओं तक सीमित रह चुकी है । कलाकार बहुवर्ण की पोशाकों में सज-धजकर निरुद्देश्य घूमते हैं । कभी कभी रेस्त्राओं में बैठकर, झुण्ड में बँटकर बहसों में डूबते हैं । दुनिया, समाज, सरकार या गृहस्थी की निंदा करते हुए, संभव न हो सकनेवाली क्रान्तियों पर बहस करते हुए वे यों ही समय गँवा देते हैं । कलाकार के इस व्यर्थ जीवन के बारे में माथुरजी का जो गहरा दुःख है, वह यहाँ वाणी पा गया है ।

आजकल के कलाकारों में इस क्रान्तिकारिता और संघर्ष के प्रति विमुखता मिलती है । इसलिए वे इतिहास को विनाश की ओर ले जाते हैं । जैसे माथुरजी लिखते हैं -

---

1. "साक्षी रहे वर्तमान" (गिरिजाकुमार माथुर) - पृः 36.

"वे शब्दों से बडे बडे
आन्दोलन कर सकते हैं
इतिहास की मूर्ति
मिनटों में मिटा सकते हैं
वे इतिहास - हंता आधुनिक हैं
इतिहास रच नहीं सकते हैं

वे कंकालों का वर्णन
बहुत अच्छा कर सकते हैं
पर ज़िन्दा कंकालों को देख नहीं सकते हैं
वे विद्रोही कलाकार हैं
वक्त आने पर
कहीं और चले जायेंगे ।"[1]

यहाँ कवि विद्रोह और क्रान्ति का ढिंढोरा पीटनेवाले कलाकारों का पोल खोल देता है । आजकल के विद्रोही केवल शब्दों से ही क्रान्ति कर सकते हैं, असल में कुछ न कर सकते । वे इतिहास नहीं रचते, पर इतिहास का हनन करते हैं । वे जिन्दे कंकालों के रूप में दिखायी पडनेवाले मानवों की ओर दृष्टि नहीं डालते । पर कंकालों का वर्णन तो करते हैं ।

क्रान्ति को प्रायः तूफान के समान माना जाता है । लेकिन माथुरजी रचना को तूफान नहीं, ठहराव मानते हैं -

---

1. "साक्षी रहे वर्तमान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृः 36.

"दौडो मत, जिन्दगी न केवल बहाव है
निराधार तिनका नहीं, गति का जमाव है
ठहरो, तूफानों को मन में रच जाने दो
रचना तूफान नहीं, रचना ठहराव है ।"[1]

ज़िन्दगी को बहाव मानकर, उनमें निराधार तिनका मानने से कवि विरोध करते हैं । उनके लिए जीवन गति का जमाव है । रचना में तूफान की कल्पना करने के बदले वे यह मानते हैं कि तूफान मन में ही मचे । रचना में तो ठहराव ही है ।

कविता का लक्ष्य

कवि की राय में समय रचनाकार के सामने कई प्रश्नचिह्न लगा देता है । कवि को अपने लक्ष्य के प्रति सचेत होने देता है -

"आज भी उसी तरह
समय के प्रभु पूछते हैं -
शायर क्या होता है ?
पेशा क्या करता है ?
कविता किस आती है ?
क्या इस्तेमाल है ?"[2]

हर एक सचेत कवि समय के संदर्भ में रचना - धर्मिता का मर्म पहचानना चाहता है । गिरिजा कुमार माथुर को लगता है कि समय कवि से कई प्रश्न पूछता है । वह पूछता है कि रचना माने क्या है, उसको लक्ष्य क्या है, उसका उपयोग क्या है ?

---

1. "शिलापंरव चमकीले" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 67.
2. "भीतरी नदी की यात्रा" - वही - पृ: 59.

माथुरजी को कभी कभी लगता है कि रचनाकार का जीवन निरर्थक हो जाता है । मन के चित्र को रूप देने के यत्न में ज़िन्दगी बीत जाती है ।

"उम्र सारी कटी
बिंब टुकडे संजोते
समय कट गया
हर कदम पर अहं
टूटकर ढह गया
स्वप्न आता रहा
अक्स उतरा नहीं
यत्न पीडा यही
ज़िन्दगी बन गयी ।"[1]

कवि को कभी कभी निराशा हो जाती है कि उम्र तो बीत चुकी है । इतने वर्षों में टुकडे बिंबों को संजोने के प्रयत्न में समय कट गया । हर कदम निराश होकर अहं पर चोट लगी । कभी कभी स्वप्न और पीडा का यह सम्मिलन ही ज़िन्दगी बन गया ।

अनुभूति

माथुरजी रचनाकार की अनुभूति के दो स्तर मानते हैं - व्यक्तिगत और सामाजिक - जिसमें जीवन की समग्र अनुभूति हो जाय । "भीतरी नदी की यात्रा" की भूमिका में वे इसको व्यक्त करते हैं -

---

1. "शिलापंख चमकीले" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 15.

"असलियत में जीवन की समस्त अनुभूतियों को मैं दो स्तरों पर भोगता रहा हूँ । एक को मैं आत्मीय और व्यक्तिगत (Personal) कहूँगा और दूसरे को सामाजिक ।"[1]

प्रत्येक सचेत कलाकार के सामने अनुभूति के दो स्तर अवश्य मिलते हैं - आत्मीय और सामाजिक । गिरिजा कुमार माथुर भी इसका अनुभव करते हैं ।

अनुभूति की महत्ता वे यों बताते हैं -

"अनुभव का आसमान
व्यक्त करेगी वाणी
जो कुछ है बेज़ुबान ।"[2]

अनुभूति की प्रामाणिकता नये कवियों की कविता का प्राण-तत्व है । यहाँ कवि स्पष्ट शब्दों में समझाता है कि अनुभव का आसमान ही वाणी में अभिव्यक्त होता है । अर्थात् अनुभव - संपन्नता कवि - वाणी के मूल में वर्तमान रहती है । विराम, जटिल जीवनानुभव ही कवि को कवि बनाते हैं ।

अनुभूति का ताप व्यक्तित्व को प्रताप देता है -

"अग्नि दो, तपन दो, नया ताप दो
मिट्टी के ठण्डे इस पुतले को
दीपित व्यक्तित्व का
अखण्डित प्रताप दो
तीखी अनुभूति से
बुझें न तेज़ अंगारे"[3]

---

1. "भीतरी नदी की यात्रा" (गिरिजा कुमार माथुर) - भूमिका से उद्धृत
2. "शिलापंख - चमकीले" - वही - पृ: 84.
3. वही - पृ: 83.

व्यक्तित्व, जो मिट्टी के पुतले के समान ठण्डा है, तीखी अनुभूति से, दार्पित व्यक्तित्व के अखण्डित प्रताप से युक्त हो जाय । अग्नि का ताप और प्रताप उसमें आ जाय । जीवन के तेज़ अंगारे बुझने न दें ।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं का अनुभव होता है । कवि इस प्रसिद्ध विश्वास की ओर संकेत करते हुए कहता है -

"विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य शिव का तब हमें विश्वास है
और है विश्वास जन कल्याण का
रंग, रस का, त्याग का बलिदान का ।"[1]

संसार में सब कहीं कुटिलता और त्रास का विलास है । इसीलिए हमें सत्य-शिव पर विश्वास और आश्रय लेना पडता है । जन-कल्याण, रंग-रस, त्याग बलिदान की भूमि काव्य ही दे सकता है ।

गिरिजा कुमार को अपनी कविता का उद्देश्य यही लगता है । कवि सत्य का संदेश वाहक है । इसीको उन्होंने यों शब्दयित किया है -

"आज मेरे स्वर बनेंगे
सत्य के संदेश वाहक
आज मेरे गीत होंगे
जागरण की रागिनी के ।"[2]

---

1. "धूप के धान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृः 109.
2. "आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि- गिरि कुमार माथुर" - पृः 13.

कवि अपने स्वर को सत्य का संदेश वाहक बनाना चाहता है । अपने गीतों से जागरण की नयी रागिणियाँ सुनाना चाहता है ।

शब्द

माथुरजी मानते हैं कि प्रत्येक शब्द के पीछे अनुभूति की अदम्य शक्ति निहित है । कवि के शब्द स्वयं कवि हैं -

"हमारे शब्द नहीं खोखले भोंपू
जिनमें से किसी गैर की आवाज़ भरभराए
हमारे शब्द स्वयं हम हैं
हमारे आखिरी निचोड
शरीर के प्लाज़्मा
उनके अर्थ हैं
यातना के दाँतों दबी
चीखती इच्छाएँ
वक्त के भारी बदलाव में
बेलौस भोगी सचाइयाँ "।

शब्दों के खिलवाड में कवि विश्वास नहीं करता । अपने शब्दों में कवि अपने यातना-भरे जीवन के निचोड देना चाहता है । उनकी चीखती इच्छाएँ और भोगी सचाईयाँ उनके शब्दों में मुखरित हैं ।

कविता का हर शब्द कवि की अनुभूति से जीवन्त हो उठता है । इसे माथुरजी "भोगी सचाइयाँ" कहते हैं । ये भोगी सचाइयाँ जब वाणी पाती हैं तब उनकी दिगुनी शक्ति होती है ।

---

1. "शिलापंख चमकीले" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 43.

"शब्दों की चट्टानों के पार
ज्वार भरा सागर लहराता है
दर्द भरा सागर लहराता है ।"[1]

कवि शब्दों की, चट्टानों से तुलना करता है और कहता है कि शब्दों की चट्टानों के पार दर्द का सागर लहराता है जहाँ ज्वार भरा है ।

"बंद अगर होगा मन
आग बन जाएगा
रोका हुआ हर शब्द
चिराग बन जाएगा"[2]

मन की भावनाओं का दमन करने पर वे तप्त होकर आग बन जायेंगी । शब्द अगर रोके जाते हैं तो चिराग बनकर जलने लगते हैं ।

शब्द और अर्थ के संबन्ध को गिरिजा कुमार माथुर ने कई संदर्भों में व्यक्त किया है । उनकी मान्यता है कि संदर्भ से ही अर्थ जन्म लेता है ।

"एक और दुनिया आगे आने को है
एक और दुनिया ठक्कन सी जमी बैठी है
शब्द नहीं
अर्थ नहीं -
शब्द तो उपजते हैं संदर्भ से
अर्थ जन्म लेता संबन्ध से
संबन्ध होता सदा
प्यार का, विश्वास का
-3

---

1. "साक्षी रहे वर्तमान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 59.
2. वही - पृ: 78.

शब्दों के, संबन्धों के साथ जुडे रहने के कारण ही गिरिजा कुमारजी कहते हैं कि वस्तुएँ एक दूसरे की पर्याय नहीं होती । "इतिहास के जर्राहों से" शीर्षक कविता में वे यों लिखते हैं -

"वह चाहे शब्द हो, नाम हो
या वस्तु हो
किसका कसूर है
जो तुम्हारा हठ मानने से करता है इनकार
सच और झूठ के
सीधे - सादे फर्क को
-कि वस्तुएँ एक दूसरे की पर्याय नहीं होतीं,
-कि अर्थ वह लबादा नहीं
जो एक शब्द के कंधे से उतारकर
दूसरे पर डाल दिया जाता है ।"[1]

चाहे शब्द हो, नाम हो, या वस्तु हो वे एक दूसरे से बदले नहीं जा सकते । वस्तुएँ एक दूसरे का पर्याय तो नहीं । इसलिए शब्द-अर्थ का संबन्ध भी टाल नहीं सकते ।

शब्दों की सार्थकता का चित्रण "सार्थकता" नामक कविता में भी मिलता है ।

"तुमने मेरी रचना के
सिर्फ एक शब्द पर
किंचित् मुसका दिया
अर्थ बन गयी भाषा ।"[2]

---

1. "साक्षी रहे वर्तमान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 53.
2. "जो बंध नहीं सका" - वही - पृ: 72.

कवि की कविता का एक ही शब्द अगर दूसरों को प्रभावित कर सका, तो कवि अपनी कविता को अर्थवान मानकर तुष्ट हो जाता है ।

"खुले बातों की रात" में प्रेम के संदर्भ में माथुरजी शब्दों पर चिन्तन करते हैं –

"मेरे शब्दों की खुशबू
तुम्हारी बाँहों की लिपटती गन्ध है
उनके चटकीले रंगों पर
तुम्हारी होंठों की छाप है
मेरी वाणी की उग्रता में
तुम्हारी नयी इच्छाओं का ताप है ।"[1]

प्रेम के संदर्भ में कवि अपने शब्दों की सूक्ष्मता पर प्रकाश डालना चाहता है । अपनी प्रेयसी की बाँहों की गन्ध उसे अपने शब्दों की सुगन्धि में मिलती है । उसके शब्दों के रंग पर प्रियतमा की होंठों की छाप है । उसकी वाणी की उग्रता प्रियतमा की नयी इच्छाओं का ताप ली हुई है ।

जहाँ शब्द और अर्थ का यह स्वाभाविक संबन्ध तोड दिया जाता है, तब उनकी तीक्ष्णता नष्ट हो जाती है ।

"तुम शब्दों को उनके अर्थ से उखाडकर
सालों साल
कीलों की तरह ठोकते रहे बार बार
दूसरे असंभव प्रेमों पर
मनमाने शीर्षकों की तरह जडते रहे

---

1. "भीतरी नदी की यात्रा" (गिरिजा कुमार माथुर) – पृ: 7.

कुदते त्रिखान से
मुजरिम कहते रहे
उन अर्थों को
जो शब्दों के नहीं
तुम्हारे थे - "[1]

शब्दों को उनके दायरे से निकालकर, अपने दायरे में ला खडा करना उन्हें उचित नहीं लगता । सालों से यही होता रहा है कि शब्दों को असंभव, फ्रेमों में, मनमाने शीर्षकों में जोडते रहे । शब्दों को उनके अर्थ से उखाडने पर उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार आरोपित अर्थ की बात वे और एक कविता में भी कहते हैं -

"अर्थहीन सत्य यही
आरोपित अर्थ सभी
मिटनेवाले इन आलेखों में
युगों में
और कहीं लाखों में
काई एक चिह्न छोड जाती है ज़िन्दगी
इतिहास - धूल नहीं ।"[2]

अर्थहीन सत्य और आरोपित अर्थ युग-इतिहास में मिटते हैं । कहीं लाखों में केवल कोई एक चिह्न ज़िन्दगी में छोड जाता है ।

रचनाकार को कभी कभी शून्यता का बोध होता है । उसे लगता है कि अपनी वाणी यों ही बिखर गयी है जिसका कोई प्रभाव नहीं । "रचनाहीन" नामक कविता में शब्दों की इस स्थिति पर वे विचार करते हैं -

---

1. "साक्षी रहे वर्तमान" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृ: 55.
2. "शिलापंख चमकीले" - वही - पृ: 40.

"बहुत बहुत सोचा दिमाग ने
कुछ नहीं हुआ
एक एक कर सारे विचार
तरकश में से निकले
भटक गये
बहुत बहुत बातों की जबान ने
कुछ नहीं हुआ
शब्द सारे बाहर फिंके
बिना किसी बडी उपलब्धि के
बिखर गये ।"[1]

कवि को लगता है कि दिमाग ने तो बहुत कुछ सोच लिया, लेकिन कुछ भी लाभ नहीं हुआ । तरकस से निकलनेवाले बाणों के समान विचार एक एक करके निकल गये । बहुत वाणी बोली गयी, लेकिन व्यर्थ हुई, सारे शब्द यों ही बिखर गये ।

"या निशा सर्वभूतानां" शीर्षक कविता में माथुरजी अर्थ और सत्य का संबन्ध यों बताते हैं –

"बेमतलब हर काम
प्रतिचिह्न हम अपने आप
लगा लेते हैं
गढ मनमाने अर्थ
स्वयं उत्तर देते हैं
और खडा करते हैं
तर्क, कलसफे का रंगीन तमाशा

---

1. "भीतरी नदी की यात्रा" (गिरिजा कुमार माथुर) – पृ: 68.

अर्थः चढाते
अर्थः
बंधी मुट्ठी का पानी
नई कथा
जो बहुत पुरानी
(सत्यः नहीं कुछ
इसका ही विस्मरण भस्म
जीवन भर का सत्य है)
यही बहाने
खेल खिलौने
और टूटना-बनना इनका
दर्द इसीका
सदा साथ है
सत्य है ।"[1]

अर्थ के बारे में सोचते सोचते कवि को कुछ क्षणों में ऐसा भी लगता है कि हम तो बेमतलब हर काम अपने आप लगा लेते हैं और स्वयं मनमाने अर्थ गढ लेते हैं । उन्हें यह एक रंगीन तमाशा प्रतीत होता है कि अर्थ तो बंधी मुट्ठी के पानी के समान रिसनेवाला है । सबकुछ नष्ट होकर अन्त में केवल टूटने - बनने का दर्द ही सदा साथ रहता है ।

---

1. "शिलापंख चमकीले" (गिरिजा कुमार माथुर) - पृः 63.

भारत भूषण अग्रवाल

वर्तमान समाज में कवि का भावुक मन आघातों पर आघात पाकर प्रक्षुब्ध हो उठता है । आज की यांत्रिक सभ्यता में व्यक्ति की अभिलाषाएँ दूर जाती हैं । कवि भारत भूषण अग्रवाल अपनी कविता के द्वारा इसकी प्रक्रिया व्यक्त करना चाहते हैं । "तारसप्तक" में अपने वक्तव्य में कवि यह व्यक्त करता है - कम से कम मुझे मेरी कविता ने भावों का उत्थान (सब्लिमेशन) नहीं दिया, न उसने मेरे हृदय का परिष्कार किया । दूषित समाज ने मुझे जो असामाजिक कमज़ोरियाँ और गलित स्वार्थ दान में दिये, मेरी कविता ने उन्हींकी पीठ ठोकी । संसार को सच्चा मानकर उसमें कर्म करना क्योंकि वास्तविक शक्ति और सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है, इसीलिए मैं ने कविताएँ लिखकर मानों स्वप्न में अपनी अभिलाषाएँ पूरी कीं और संसार को मिथ्या सिद्ध किया । कर्म से पलायन ही मेरी कविताओं का स्पन्दन रहा ।"[1]

जीवन के प्रति निराशा - भरी दृष्टि रखते हुए वे कहते हैं कि संसार को सच्चा मानकर उसकी कमज़ोरियों से लडने की सामर्थ्य के अभाव में वे कविताएँ लिखकर स्वप्न में अपनी अभिलाषाएँ पूर्ण करना चाहते हैं ।

काव्य और ज़िन्दगी

भारत भूषण अग्रवाल की दृष्टि में काव्य का किसी "छाया-लोक" से संबन्ध सराहनीय नहीं । कविता ज़िन्दगी की चलती सडक से संबन्धित है ।

"मैं ने कविता से कहा
न जाने तुम्हें यह छाया - लोक क्यों पसन्द है
जहाँ दिन में भी रात नज़र आती है

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) से उद्धृत - पृ: 86.

जहाँ बाहर का मौसम भी
"राइट आफ एडमीशन रिज़र्व्ड" की तख्ती देखकर
सीढियों पर ही ठिठक जाता है
जहाँ एकान्त में भी हम अकेले नहीं हैं
और जहाँ हम
बैरों को चलते - फिरते देखने के अलावा
कुछ कर नहीं सकते
और ऊबकर
बार - बार कही हुई बात को फिर से कहने लगते हैं ।
आओ, उठो
बाहर खुले में चलें
जहाँ ज़िन्दगी चलती सडक है
और हर क्षण एक कर्म है ।"[1]

कवि "बाहर खुले में" चलकर कविता को व्यापक भूमिका देना चाहता है । भाषा-लोक के अन्धकार में रहने से जीवन का स्पर्श मिले बिना कविता का विनाश हो जाएगा ।

भारत भूषण अग्रवाल ने मानवीय दर्द के गीत गाना कवि का धर्म माना था । "ओ अप्रस्तुत मन" में वे लिखते हैं

"औ मैं । जिसका स्वर सदा दर्द से गीला रहा,
जिसके भर्राए गले से कुछ चीखें ही निकल सकीं,
मैं सारा बल लगाकर । आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था ।"[2]

---

1. "उतना वह सूरज है" (भारत भूषण अग्रवाल) - पृ: 40-41.
2. "ओ अप्रस्तुत मन" - वही - पृ: 109-110.

कवि स्वीकार करता है कि वह आँखें खोलकर, सारा बल लगाकर जीवन के यथार्थ को देख रहा था । इसलिए उसका गला दर्द से भर्राया हुआ था । उसने बहुत कुछ कहना चाहा । लेकिन दुःख के कारण केवल चीखें ही बाहर निकलीं । पूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं हुई । यहाँ कवि अपनी कविता को दर्द से उठी हुई चीख के रूप में मानता है ।

भारत भूषण मानते थे कि कवि अपने परिवेश की जडता और अकेलेपन के बावजूद जूझने और संघर्ष करने को बाध्य है ।

"कब तक यह सोचूँगा कि मेरा स्वर हीन है
और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं,
कब तक प्रतीक्षा करूँ संगी संगीतकों की
कि आएँ वे गाजे बाजे के साथ
और
स्वर-दान करें वाणी के यज्ञ में[1]।

परिवेश की जडताओं को देखकर उनका मन और किसीकी प्रतीक्षा किये बिना, उनसे जूझने के लिए तैयार होता है । वे अपने स्वर को दीन-हीन मानकर, निस्तब्धता को विवशता के रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते । अपने शब्द - यज्ञ में संगी मिलने की भी उन्हें आशा नहीं । इसलिए वे अकेले जडता से जूझना चाहते हैं ।

"चीरफाड" शीर्षक कविता में भारत भूषण ने कहा है कि कविता में ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न होता है

---

1. "अनुपस्थित लोग" (भारत भूषण अग्रवाल) - पृ: 82.

"कब तक मैं सुविधा की छत पर चढा
कविता के बाँस से
ज़िन्दगी की कटी पतंग फाँसने का यत्न करता रहूँगा
और फिर घबराकर देखूँगा
कि वह सामने
मिट्टी में खेलते लडकों के झुण्ड में जा पडी है
और वे गुत्थम गुत्था होकर उसकी चिन्दियाँ उडाते हैं ।"[1]

जिस प्रकार छत पर खडा होकर एक व्यक्ति कटी पतंग पकडने की कोशिश करता है और अन्त में वह पतंग नीचे खेलनेवाले बच्चों के झुण्ड में आ पडता है, उसी प्रकार कविता रूपी बाँस से कवि जीवन की पतंग को पकड लेना चाहता है । उसका श्रम कभी सफल नहीं होता है । जीवन उसके हाथ तक नहीं आता । वह मिट्टी में गिर जाता है ।

भारत भूषण को इस बात का पूरा अहसास है कि कवि का "स्व ही किरण है" जिससे अनुप्रेरित हो गहरे अंधियारे को चीरती हुई जागरण की अनगिनत प्रतिध्वनियाँ आसमान को भर देंगी -

"तू भी ओ मेरे अप्रस्तुत मन । हेर दे ।
घुटते तिमिर को स्वरों से बिखेर दे ।।
अभी पल झपते ही । मौन अंधियारे से
तेरे अनगिनती अपरिचित सहभोगी
प्रतिध्वनि उठायेंगे । गायेंगे ।!!"[2]

---

1. "एक उठा हुआ हाथ" (भारत भूषण) - पृ: 68.
2. "ओ अप्रस्तुत मन" - वही - पृ: 150.

कवि-मन को घुटते अंधकार में अपने स्वर का प्रकाश बिखरना चाहिए । एक पल में ही इस स्वर की प्रतिध्वनि मिल जायेगी । क्योंकि इस अंधकार में अनेक अपरिचित सहभोगी जागरण के आलोक की प्रतीक्षा कर रहे हैं । कवि-वाणी इसलिए अंधकार में आलोक बिखेर दे ।

भाषा और भाव

भारत भूषण अग्रवाल मानते हैं कि आज की भाषा जीर्ण हो गयी है । संवेदन में उसकी क्षमता कम हो गयी है ।

"कितनी संकुचित, जीर्ण वृद्धा हो गयी आज कवि की भाषा ।
कितने प्रत्यावर्तन जीवन में चंचल लहरों के समान
आये, बह गये , काल बुद्बुद - सा उठा, मिटा, पर परंपरा
अभिभुक्त अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की व्यक्ति की । नव विचार, नव-ज्ञान रीति,
नित-नित नवीन जीवन के स्वर, पर प्राचीना
अब भी है वाणी की वीणा । कुछ अनुभव करते प्राण
किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा ।
इस भाँति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार
सुख - दुःख प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना - मात्र ।"[1]

नये कवि अनुभव करते हैं कि काव्य भाषा दीर्घकालीन प्रयोग से जीर्ण-शीर्ण हो गयी है । जीवन में कितने ही परिवर्तन आ गये हैं । व्यक्ति और समाज के जीवन में नये विचार, नयी रीति-नीति बिकसित हुई । लेकिन वाणी की वीणा में

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) से उद्धृत - पृः 88.

वही पुराना स्वर निकलता है । अनुभव के विपरीत अभिव्यक्ति होती है । इसलिए आज के उत्कट विचार प्रकट हुए बिना कल्पना-मात्र रह जाते हैं । संवेदन और संप्रेषण की यह कमी आज के कवियों के लिए एक कठिन बाधा के रूप में उपस्थित होती है ।

भाषा के संबन्ध में भारत भूषण की धारणा है कि नये कवि को पूर्वजों की संकुचित, जीर्ण, बूढ़ा भाषा के स्थान पर नयी अर्थवत्ता और नयी अभिव्यक्ति के माध्यम ढूँढने होंगे । शून्य, खोखले, विलासी शब्द जाल के स्थान पर दैनिक जीवन की यथार्थ भाषा ज़रूरी है -

"हमकोन ज़रूरत आज देववाणी की, हम खुद ढालेंगे ।
जीवन की भट्ठी में भाषा, जी-चाहा रूप बना लेंगे ।"[1]

भारत भूषण के मत में कवि को प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है, नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है । परिशुद्धतावादी चाहे कितनी ही क्यों न उसकी निंदा करे, यही अच्छा है कि काव्य की भाषा जीवन की भट्ठी में बनायी गयी हो ।

नये कवियों ने संप्रेषण और अभिंव्यक्ति के माध्यमों में मौन को विशेष स्थान दिया है । भारत भूषण ने भी स्वीकार किया है कि जो अभिव्यक्त नहीं हुआ, वही सच है -

"जो लिखा नहीं गया । घुमडकर भीतर ही रहा
वही सच है । जो मैं देना चाहता हूँ"[2]

---

1. "तारसप्तक" (संपादक अज्ञेय) - पृ: 89.
2. "उतना वह सूरज है" (भारत भूषण) - पृ: 84.

कुछ अनुभूतियाँ तो अभिव्यक्ति नहीं पा सकतीं । उनमें सत्य की मात्रा अधिक है । वही सच कवि देना चाहता है ।

भारत भूषण अग्रवाल ने हिन्दी के प्रति गहरी वफादारी प्रकट की है ।

"हम हिन्दी का भविष्य कैसे बना पायेंगे
हम । जो आज तक
एक भी ऐसी पुस्तक न छाप सके
जिसमें व्याकरण और मुद्रण की
भूलें न हों ।"[1]

व्याकरण और मुद्रण में सावधानी रखे बिना हम हिन्दी को सुधार नहीं सकेंगे । कवि शुद्ध हिन्दी को विकसित करना एक अनिवार्य बात मानता है ।

विदेशी भाषा को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करनेवालों के प्रति भारत भूषण ने व्यंग्य किया है

"हमें अपनी भाषा की समस्या का हल मिल गया
जिसे हम भूल से विदेशी कहते थे
वही हमारी अपनी भाषा है ।"[2]

भाषा की समस्या को, विदेशी भाषा के स्वीकार के द्वारा हल करनेवालों पर यहाँ उन्होंने व्यंग्य किया है ।

हर एक युग में कवि नये नये सौन्दर्य-जगत् की खोज करता है । नयी कविता में पुरानी परंपरागत सौन्दर्य दृष्टि के बंधन से मुक्ति पाने की

---

1. "अनुपस्थित लोग" (भारत भूषण) - पृ: 64.
2. "उतना वह सूरज है" - वही - पृ: 57.

आकुलता मिलती है । इस मुक्त सौन्दर्य बोध के बारे में भारत भूषण अग्रवाल ने "फूटा प्रभात" शीर्षक कविता में लिखा है -

"खुल गये बंध छवि के बंधन
फूटा प्रभात फूटा विहान
छूटे दिनकर के शर ज्यों छवि के वह्नि बाण
§केशर फूलों के प्रखर बाण§
आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप
लौ भरे सीप"[1]

प्रभाकर श्रोत्रिय की राय में, यहाँ कवि "काव्य-परंपरा में बंधे होने के बावजूद, छवि के बंधन खुले जानकर गद्गदायमान है ।"[2] वही पुरानी भाषा, पुरानी उत्प्रेक्षाएँ, रूपक, शब्द की फिजूलखर्ची आदि से दम घुट गया है । सौन्दर्य तत्व के इन रूढिगत प्रयोगों से ऊबकर नया कवि काव्य सत्य के नये नये प्रयोगों को लेकर चला । नये सौन्दर्य बोध का यह स्वरूप इन पंक्तियों में मिलता है ।

श्री भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में काव्य-चिन्तन

नये कवियों ने काव्य के भावपक्ष और शिल्प पक्ष को नवीन दिशाओं से आगे बढाने का स्तुत्य प्रयास किया था । इनमें श्री भवानी प्रसाद मिश्र का नाम विशेष स्मरणीय है । वे काव्य को जीवन की साधारणता से संपृक्त करना चाहते थे । काव्य की भाषा को अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति बनाये रखने के लिए उसको यथासंभव सीधी-सादी और स्वाभाविक बनाया ।

---

1. "तारसप्तक" §सं अज्ञेय§ से उद्धृत - पृ: 100.
2. "रचना एक यातना है" §प्रभाकर श्रोत्रिय§ - पृ: 36.

काव्य की परिभाषा

भारतीय दृष्टि ने काव्य को शिव या मंगल की भावना से संपृक्त माना है । श्री भवानी प्रसाद मिश्र ने भी काव्य के मंगल स्वरूप को पहचाना है । "रवीन्द्रनाथ के निधन पर" नामक कविता में इसका उदाहरण मिलता है । उन्होंने लिखा –

"कविता यदा मंगल है
दुःख की या हर्ष की हो
पल की हो, वर्ष की हो
भारत ने कविता को मंगल कहा है सदा"[1]

यहाँ भारतीय काव्य-दृष्टि का समर्थन करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि काव्य मंगल का ही स्वरूप है । कविता का विषय चाहे हर्ष का हो, या दुःख का हो, वह एक क्षण पर आधारित हो या वर्षों पर हो, वह मंगलमय ही है । इसी भावना के कारण उन्होंने काव्य को विराट् व्यापक सत्य की अभिव्यक्ति माना है ।

"ओ मतवाली दुनिया, मेरा पागलपन तू क्या पहचाने
कितने गीत बिखर जाते हैं मेरी झोली से अनजाने !
सरिता की गति में, कोयल की कुहू में, तरु के मर्मर में,
मधुपों के गुन्-गुन् गीतों में, झरनों के झर्-झर्-झर् स्वर में,
गिरि की गहन कंदराओं में ये बसते हैं बनकर झाईं,
जड में, चेतन में पडती है मेरे गीतों की परछाईं !
मेरे यहाँ रहन रक्खी है युगों से युग की वाणी,
मेरे गीतों में बसती है सत्य सुंदरी, माँ कल्याणी !"[2]

---

1. "गांधी पंचशती" (भवानी प्रसाद मिश्र) – पृः 34.
2. "गीत फरोश" – वही – पृः 5.

कवि समस्त प्रकृति में अपने गीतों की परछाई देखना चाहता है । दुनिया तो मतवाली है, लेकिन कवि का पागलपन नहीं पहचानती । झरनों और सरिताओं की गति में, कोयलों और मधुपों के स्वर में, वृक्षों के मर्मर तथा गिरियों की अंधेरी कंदराओं में - सब कहीं कवि के गीत बिखरे पडे हैं । इन गीतों में युग की वाणी मुखरित है । इसीलिए इनमें सत्य, शिव और सुन्दर का सम्मिलन है जो मंगलकारिणी माँ के समान लगती है ।

और एक कविता में भवानी प्रसाद ने कला को सत्य के अनुरूप माना है । उनकी राय में कला मानव को ऊपर उठाती है ।

"कला वह है
जो सत्य के अनुरूप हो
और
उठानेवाली हो
हमारी
पीढियों को
"।

सत्य पर अधिष्ठित कला में ऐसी उदात्तता है कि वह मनुष्य को ऊपर उठाती है । यही नहीं, आगे वे कहते हैं -

"कलाकार को तो
लौकिक का ही सहारा है
लौकिक के सहारे
लोकोपयोगी रचना ही
करनी है
और ऐसा करते करते

---

1. "शरीर, कविता, फसलें और फूल" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृ: 19.

जितनी अलौकिकता आ जाये
उतनी अपने भीतर भरनी है ।"[1]

कलाकार इस लौकिक जीवन के माध्यम से, लोकोपयोगी रचना करके अलौकिक सत्य तक पहुँच सकता है ।

रचना क्या है

रचनाधर्मिता के बारे में हर एक कवि का अपना मन्तव्य होता है । भवानी प्रसाद ने रचना-धर्मिता के बारे में विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है । उन्होंने एक जगह कहा है कि रचना कोई अनोखी नयी वस्तु नहीं, हमारी सत्ता से भिन्न नहीं । "परिवर्तन जिए" नामक काव्य संग्रह में "रचना" शीर्षक उनकी एक कविता मिलती है जिसमें रचनाकारिता के बारे में वे लिखते हैं -

"सर्जन का क्या मतलब है
क्या चीज़ है यह -
रचना
बचना कैसे बनेगा उससे
जो चारों तरफ है हमारे
हम उसीके उठायेंगे
तोडेंगे और मरोडेंगे
बहुत हुआ तो
बनाकर कोई साँचा
ढालेंगे उसे

---

1. "शरीर, कविता, फसलें और फूल" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृ: 19.

या
उबालेंगे उसे
अपने आवेशों में
बुनेंगे
यादों के ताने-बाने
रचना कोई
नयी चीज़ नहीं है
याने
हमारे भीतर की है
बाहर की है
दूर की ही पास की
ज़्यादातर तो
एकदम आसपास की है ।"[1]

वे रचनाधर्मिता को सूक्ष्म, व्यापक चेतना के रूप में देखते हैं । सर्जना हमारे भीतर, बाहर, चारों तरफ-पास और दूर- रहती है । सृजन-कर्म में हम उसीको उठाते हैं, तोड-मरोड देते हैं, नये साँचे में ढालते हैं । कभी कभी उसीको हम उबालते हैं, नये आवेशों के रेशों में बुनाते हैं । उनके अनुसार रचना किसी नयी चीज़ का निर्माण नहीं है । बल्कि हमारे अन्दर और बाहर सदा व्याप्त चेतना का आवाहन है ।

"अंधेरी कविताएँ" संग्रह में उन्होंने और एक दृष्टि से काव्य रचना पर चिन्तन किया है । उनका मत है कि कवि वक्ता है और कविता कहना है । "तुमसे" नामक कविता में इस दृष्टिकोण को शब्द बद्ध किया है -

---

1. "परिवर्तन जिए" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृ: 30.

"मैं तुमसे कह रहा हूँ
और कहना
कविता में चल रहा है
कहना शुरू कर दिया है
तौला नहीं है इसका छन्द
सिर्फ खोलकर हवा में
प्राण भर दिया है
मैं कह रहा हूँ
तुम्हें सुनना चाहिए ।"[1]

कवि का मन्तव्य है कि कविता में केवल कथन ही होता है । छन्द तौलकर नहीं, बल्कि खुले तौर पर वे अपने भाव व्यक्त करते हैं । कवि का यह कथन पाठक सुन लेता है ।

काव्य का लक्ष्य

हर एक कवि की रचना किसी लक्ष्य से प्रेरित होती है । भवानी प्रसादजी को लगता है कि रचना-कर्म वस्तुओं को सही रूप से पहचान लेने का माध्यम है । "बुनी हुई रस्सी" की भूमिका में वे लिखते हैं -

असल में मैं इन दिनों इसलिए लिखता हूँ कि मुझे कुछ चीज़ें ठीक ठीक समझ लेनी हैं और मैं नहीं जानता मेरे लिए लिखते रहने के सिवा समझने का और क्या साधन है"[2]

---

1. "अंधेरी कविताएँ" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृ: 28.
2. "बुनी हुई रस्सी" - भूमिका - वही - पृ:7.

अपनी रचनाओं के द्वारा कवि किसी को कुछ समझाने का आग्रह करने के बदले, यही चाहते है कि लिखते लिखते वे चीज़ों को स्वयं पहचान और समझ सकें ।

"गांधी पंचशती" में उन्होंने लिखा है कि कविता एक ओर कमज़ोरी है, तो दूसरी ओर वह शक्ति भी है ।

"कविता कुल मिलाकर मन की कमज़ोरी है
वह शक्ति भी है तो उस पथिक जैसी
जो अंधेरे में और आधी रात में
गाता चल रहा है यों कि लगे
वह अकेला नहीं है
आखिरकार कोई है उस के साथ में ।"[1]

एक सरल, स्वाभाविक उदाहरण के द्वारा कवि यहाँ अपनी कविता का स्वरूप समझाता है । अंधेरे में अकेले चलनेवाला व्यक्ति भय के कारण गाता रहता है । गाने से उसे कुछ धैर्य मिलता है । उसी प्रकार कवि भी इसलिए कविता रचना करता है ताकि अपने को अकेला न पाए । कविता-रचना से एक शक्ति उस में आ जाती है ।

कवि मानवता के मूल्य-नाश के प्रति बोधवान है । वे आशा करते है कि काव्य-कर्म के द्वारा वे मानवता के इन विगत मूल्यों को पुनः लौट आने का परिवेश प्रदान करेंगे -

"मैं कविता जो लिखता हूँ
सो कवि होने के लिए

---

11. "गाँधी पंचशती" (भवानी प्रसाद मिश्र) पृष्ठ 423

और इस आशा में कि
लोग कविता लिखें या न लिखें
किसी दिन कवि हो जायेंगे
शब्द वे जो बोलेंगे साधारणतया भी
सबके दुःख दर्द गायेंगे
और लौटेंगे मूल्य मानवता के
बदल जायेंगे आज के
ईंट के फर्शों की तरह जमे हुए
संवेदना-हीन मन । "[1]

मिश्रजी अनुभव करते है कि आज का मानव-मन इतना संवेदनाहीन हो गया है कि वह ईंट के फर्श की तरह निश्चल है । कवि इस स्थिति को परिवर्तित करना चाहता है । उनकी आशा है कि वे कविता लिखते लिखते कवि हो जायेंगे । उनके साथ लोग भी कवि हो जायेंगे, तब वे मानव के दुःख-दर्द के गायक बन जाएँगे । इसके फलस्वरूप मानव-मूल्यों की पुनः स्थापना होगी ।

कभी कभी कवि को लगता है कि कविता का मूल्य नहीं । वे कविता बेचते है -

"जी हाँ हुजूर, मैं गति बेचता हूँ
मैं तरह तरह के गीत बेचता हूँ,
मैं किसिम किसिम के गीत बेचता हूँ"[2]

आजकल के कवि अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए कविता करते है । इसपर व्यंग्य करते हुए वे कहते है कि वे कई प्रकार के गीत बेचते है ।

---

1. "तूस की आग" (भवानी प्रसाद मिश्र) पृः 117-118
2. "गीत फरोश" - वही - पृः 166

वे जानते है कि गीत बेचना पाप है । किन्तु वे लाचार है -

"ग्राहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ,
या भीतर जाकर पूछ आइए आप,
है गीत बेचना जैसे बिलकुल पाप,
क्या करूँ मगर लाचार,
हारकर गीत बेचता हूँ । "[1]

बेचनेवाला ग्राहक की मर्जी के अनुसार करता है । उसीप्रकार आजकल कवि को भी गीत ग्राहकों की मर्जी के लिए बहुत कुछ करना पडता है । यद्यपि वह जानता है कि यह पाप है फिर भी उसे विवश होकर गीत बेचना ही पडता है ।

औरएक कविता में उन्होंने लिखा है कि काव्य का कोई अगर लक्ष्य नहीं, तो फूलों के समान नश्वर है ।

"कविता और फूल
सब एक है
सबको बोना बखरना गोडना पडता है
सत्य हो शिव हो सुन्दर हो
आखिरकार इन सबको
किसी न किसी पल
तोडना पडता है । "[2]

कभी कभी कवि को ऐसा लगता है कि कविता फूल के समान नश्वर है । कविता के बारे में कहा जाता तो है कि वह सत्य, शिव, सुन्दर है । लेकिन किसी न किसी दिन उसका भी अन्त होता है, जैसे सुन्दर फूल का भी नाश होता है ।

---

1. "गीत फरोश" (भैवानी प्रसाद मिश्र) पृः 168
2. "अंधेरी कविताएँ" - वही- पृः 3

काव्य और जीवन

जीवन काव्य की आधार-भूमि है । काव्य और परिवेश के इस अभिन्न संबन्ध को नये कवियों ने सर्वप्रथम माना है । विभिन्न कवियों ने विभिन्न दृष्टियों से इसे देखा है । भवानी-प्रसादजी ने एक जगह लिखा है कि लिखना जीवन के खिलाफ होना है -

"असल में लिखना मैं ने
शुरू किया था एक प्रार्थना से
और प्रार्थना इसलिए शुरू की थी
कि मैं जीवन के खिलाफ हो गया हूँ
पक्ष प्रार्थना का लेना
हमेशा
जीवन के खिलाफ होने जैसा है
प्रार्थना में डूबकर आदमी
जीवन को भूल जाना चाहता है
कम से कम उस जीवन को
जो वह जी रहा है
और काल्पनिक किसी
जीवन के रख्याल में करता है
गर्क होने कोशिश "[1]

कवि यहाँ सृजन-प्रक्रिया और जीवन का संबन्ध एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है । प्रार्थना तो किसी काल्पनिक जीवन के रख्याल में की जाती है और उसमें आदमी जो जीवन जी रहा है उसे भूल जाता है । उसी प्रकार कविता लिखते समय भी असली जीवन के खिलाफ होना पडता है ।

---

1. "खुशबू के शिलालेख (भवानी प्रसाद मिश्र) पृ: 78

अन्य सभी नये कवियों के समान मिश्रजी ने भी जीवन के दुःख भरे स्वरूप को सही रूप से पहचान लिया है । जीवन से अनुप्राणित काव्य कभी कभी दुःख -बिन्दुओं से भी लिप्त हो जाता है । जैसे वे लिखते हैं -

"इन कविताओं के तल में
रोज़मर्रा का दुःखी चेहरा
प्रतिबिंबित है इस जल में
गोताजन हैं इसमें छोटे सुख
दीर्घ दुःख
चित लेटे हैं इसकी लहरों पर"[1]

अपनी कविताओं के तल में कवि नित्य जीवन में दुःख झेलते हुए साधारण मानव का चेहरा ही देख पाते हैं । जीवन के इस सागर में दीर्घ दुःख और छोटे सुख ही मिलते हैं ।

"चकित है दुःख" नामक काव्य-संग्रह में भी भवानीप्रसाद ने काव्य की दुःख भरी भूमिका की ओर संकेत किया है -

"उस परिस्थिति को शब्द दो जिसमें ज़िन्दगी और मौत
और खतरा और रोज़मर्रा की
सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं
करुणा और भय का जिसमें अवकाश नहीं बचता"[2]

कवि ज़िन्दगी और मौत का, दैनिक जीवन के खतरे की कथा कहना चाहता है जहाँ करुणा और भय से मुक्ति नहीं होती ।

---

1. "अंधेरी कविताएँ" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृः 6.
2. "चकित है दुःख" - वही - पृः 90.

विशेषकर नये कवि परिवेश की चेतना से प्रबुद्ध हैं । कविता के लिए परिवेश की पृष्ठभूमि को वे हमेशा स्वीकार करते हैं । भवानी प्रसाद आगे बताते हैं -

"आसमान और इच्छोगिल दोनों को मिलाकर
एक कविता बना दें हम
तो वह कविता इन सेनाओं के आडे आ सकती है
मगर जब से सेनाएँ पैदा हुई हैं
दो सेनाओं के आडे आनेवाली
परिपूर्ण कोई कविता कभी लिखी नहीं गई
युद्ध की कविता युद्ध के क्षेत्र में घूमती रही
और शान्ति की कविता युद्ध की परिधि-पर
उसका केन्द्र नहीं ढूँढा शान्ति की कविता ने ।"[1]

कवि की राय में प्रत्येक कविता अपने अपने परिवेश की सीमा में बंधी हुई है । युद्ध की कविता तो युद्ध के क्षेत्र तक सीमित है तो शान्ति की कविता युद्ध की परिधि तक नहीं आती । इसीलिए कवि की कामना है कि परिपूर्णता से युक्त एक कविता रचने की चेष्टा करें ।

"बुनी हुई रस्सी" की भूमिका में भवानी प्रसाद मिश्रजी ने काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं - "एक बात "युग बोध" के बारे में - अक्सर कहा जाता है कि कविता अपने ज़माने में बंधी हुई होती है और कोई भी कवि अपने देश - काल से अतीत होकर नहीं लिख सकता । एक सीमित अर्थ में यह बात सही है । किन्तु यों मुझे लगता है कि किसी भी काल की कविता अपने ही ज़माने से बद्ध नहीं रही । क्योंकि कोई भी ज़माना

---

1. "चकित है दुःख" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृः 91.

अपने में बद्ध नहीं रहता । वह सदा कम ज़्यादा अपने अब तक के ज़माने से संबद्ध रहता है और इसलिए किसी भी समय की ठीक कविता में तब तक का समग्र काल प्रतिबिंबित होता रहा है ।"[1]

यहाँ भवानी प्रसाद कविता के बारे में प्रचलित साधारण मत का समर्थन करते हैं कि कविता तो अपने युग से संबद्ध रहती है । लेकिन वे यह भी मानते हैं कि कोई भी युग अपने पूर्वयुगों से कटा हुआ नहीं होता । पूर्वयुगों से वह अवश्य संबद्ध रहता है । इसीलिए कविता भी केवल एक युग तक सीमित नहीं रहती ।

एक कविता में भवानी प्रसाद ने शब्दों को धरती पर आधारित रामना है –

"अंजुलि में भरे शब्दों का
धरती के सिवा
सहारा भी क्या है
विवशता यह
उनकी और मेरी
रंग भी ला सकती है
छा जा सकती है
शब्दों की शाद्वल दूर्वा
अभिनव किसी अर्थ में धरती-भर
विचारों के नये पर खुल सकते हैं
सुधा वर्षणशील आकाश की
ओस से

---

1. "बुनी हुई रस्सी" (भवानी प्रसाद मिश्र) – पृः ।।.

कृतार्थ होने तक धुल सकते हैं
शब्द और अर्थ और विचार ।"[1]

धरती ही शब्दों के लिए सहारा है । किसी नये अर्थ में ये शब्द-शादवल-दूर्वा धरती-भर छा जा सकती है । उनमें विचारों के पर खुल सकते हैं, आकाश की सुधा-सम ओस से वे धुल सकते हैं ।

काव्य और कवि का व्यक्तित्व

काव्य में कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिंबित होना अनिवार्य है । भवानी प्रसाद मिश्र ने इसको पूर्णतः स्वीकार किया है । जैसे वे लिखते हैं -

"जब कभी मैं अपने से पूछता हूँ कि कविता के संदर्भ में तुम अपने को क्या मानते हो और सोचता हूँ तो कुछ ऐसा भान होता है कि मैं कवि नहीं हूँ । मैं कविता नहीं लिखता, कविता मुझको लिखती है । कविता लिखते समय मेरा मन और मन ही नहीं समूचा अस्तित्व शब्दों से ध्वनित होनेवाली झंकार से काँपता रहता है । ये झंकारें कभी अकेली-अकेली बजती हैं, कभी समवेत होकर समुदायों में । इसीलिए मैं कविता के संदर्भ में, अपने को शब्दों की रौ में बहनेवाला कोई व्यक्ति सोचता हूँ "[2]

यहाँ भवानी प्रसाद ने काव्य रचना की आन्तरिक प्रक्रिया को उसकी पूरी सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त किया है । उनके लिए काव्य की रचना एक श्रमपूर्ण यत्न नहीं है । बल्कि कविता एक सहज प्रेरणा के समान बहती है जिसके साथ कवि का समूचा अस्तित्व बहता है । शब्दों के झंकारमय प्रवाह में कवि अनजाने बहता रहता है ।

---

1. "शरीर, कविता, फसलें और फूल" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृः 10.
2. "बुनी हुई रस्सी" - वही - पृः 7.

"तूस की आग" कविता "करेगी यह" में भी कवि-व्यक्तित्व और कवि की एकात्मकता के बारे में भवानी प्रसाद ने लिखा है -

"जैसे अभी दो मिनिट पहले
जब मैं कविता लिखने
नहीं बैठा था तब
कागज़ कागज़ था
मैं मैं था और कलम कलम
मगर जब लिखने बैठा
तो हम तीन नहीं रहे
एक हो गये
किन्हीं अलग अलग अस्तित्वों का
एकाएक और इतनी आसानी से
एक हो जाना अपने आप में
एक करिश्मा है
बडी आसानी से होते हैं
कविता के बल पर करिश्मे
"।

कवि काव्य रचना प्रक्रिया के बारे में आश्चर्य प्रकट करते हैं कि दो क्षण पहले जो सिर्फ कागज़ था, कलम थी और कवि कवि था - वे तीनों एक होकर अब कविता बन गयी है । इतनी आसानी से तीनों का सम्मिलन कविता में हुआ है । यहाँ पर कवि वस्तुतः कागज़ पर लिखित कविता के बाह्य स्वाकार की ओर संकेत करता है ।

---

1. "तूस की आग" (भवानी प्रसाद मिश्र) - पृः 115.

"खुशबू के शिलालेख" में वे लिखते हैं कि कवि का समूचापन उसके दिखने से भी उसके लिखने में आता है । "चीजों का रूप" शीर्षक कविता में श्री भवानी प्रसाद ने यह स्पष्ट अभिव्यक्त किया है ।

और दिखने का मतलब
केवल
चेहरा नहीं किसी का
कवि के समूचे लिखने में
उसके समूचे दिखने का हाथ
रहता है ।
कुल मिलकर कवि जैसा दिखता है
वैसा दिखता है
और जिस तरह आपके दिखने में आप का
जितना हाथ है या नहीं है
उसी तरह आपके लिखने में
आपका हाथ है या नहीं है
चीज़ों का रूप
उनका स्वरूप है स्वभाव है
अनुकरण उनका रूप नहीं है ।"[1]

चीज़ों का स्वरूप और स्वभाव अनुकरण के आधार पर देखा नहीं जाता । कवि कविता में अनुकरण नहीं करता ।

---

1. "खुशबू के शिलालेख" (भवानी प्रसाद) - पृ: 21.

श्री भवानी प्रसाद मिश्र मानते हैं कि किसी भी कर्म के सामान काव्य रचना साधारण है । अगर कवि से कोई पूछेगा कि कविता लिखने से तुम्हें क्या मिला, तो उसका जवाब वे यों देंगे ।

"क्योंकि कविता लिखना
कोई एक काम नहीं है
वह जाने कितने गण्य और
नगण्य चीज़ों का सिलसिला है
जो अभी यहाँ टूटा है तो
जाने कहाँ कैसे और किससे
जा मिला है ।"[1]

यहाँ कवि बताना चाहता है कि काव्य रचना इतनी स्वाभाविक है कि यह प्रश्न ही नहीं आता कि काव्य-रचना से क्या लाभ हुआ । कवि काव्य रचना में कितनी गण्य तथा नगण्य चीज़ों का सिलसिला देखता है ।

मिश्रजी के लिए कविता कृत्रिम भावों का प्रकाशन नहीं । बल्कि उनके जो अनुभूत सत्य हैं उन्हींको सीधे-सादे ढंग से उन्होंने काव्य बद्ध किया है "दूसरा सप्तक" की भूमिका में वे लिखते हैं –" मेरे सामने जो कुछ साफ है वह खूब साफ है, और जो साफ नहीं है, उसकी बात करने का अर्थ दूसरों के लिए एक उलझन की संभावना पैदा करने जैसा है । कदाचित् इसीलिए मैं ने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है जो मेरी ठीक पकड में आ गया है ।"[2]

---

1. "तूस की आग" (भवानी प्रसाद) – पृः 115.
2. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) – पृः 5.

जब कवि ऐसी बातों की चर्चा करता है जो उसके सामने पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं, तब दूसरों के लिए उलझन पैदा होती है । इसलिए कवि साफ और स्पष्ट बातों को ही अपनी कविता में अभिव्यक्त करना चाहता है ।

कभी उनको लगता है कि यह उनके हाथों का काम ही नहीं - "दूसरा सप्तक" में ही वे आगे लिखते हैं -

बेशक "भूल से" ही यह सब हाथों बन पडता है क्योंकि कभी को ई दर्शन, वाद या जिसे टेकनीक कहते हैं, मैं ने नहीं सोचा ।"[1]

दर्शन, वाद या किसी टेकनीक को अपने कामों के आधार में ने देखने पर भी कवि को ऐसा लगता है कि यह सब उनके हाथों का काम नहीं है, इसलिए कहते हैं कि यह सब "भूल से" ही हो जाता है ।

काव्य - भाषा

भवानी प्रसादजी भाषा की साधारणता और सरलता पर बल देते हैं । कृत्रिम आडंबरों से मुक्त होकर भाषा कवि की अनुभूति को ईमानदारी से अभिव्यक्त करे, यही उनकी इच्छा है । इसीलिए वे लिखते हैं -

"कलम अपनी साध,
और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध ।
यह कि तेरी-भर न हो तो कह,
और बहते बने सादे ढंग से तो वह
जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख,
और इसके बाद भी हमसे बडा तू दिख ।"[2]

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं. अज्ञेय) - पृः 5.
2. "गीत फरोश" (भवानी प्रसाद) - पृः 1.

कलम साधकर, मन की बात सीधे कहना ही उनकी दृष्टि में कवि-कर्म है । उनकी इस काव्य दृष्टि में बहुत ही स्वाभाविकता मिलती है कि जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह लिखना ही काव्य है । काव्य भाषा की साधारणता पर वे बल देते हैं ।

वे चाहते हैं कि शब्द और वे एकात्म हो जायें ।

"याने अब मैं और मेरे शब्द
अलग-अलग नहीं हैं
एक हैं ।
मैं चाहता हूँ
कि कभी उनकी शर्म न बनूँ
क्योंकि वे मेरी टेक है,
मैं उन्हें सिर्फ बरतूँ नहीं,
उन्हें जिऊँ -
बात कठिन है
लेकिन करना चाहिए
शब्दकार को
अगर ज़रूरत पडे
तो अपने शब्दों पर
मरना चाहिए !!"[1]

कवि और शब्द का अलग अलग अस्तित्व काव्य रचना में बाधा हो जाता है । शब्दों को वे जीना चाहते हैं इतना ही नहीं ज़रूरत पडे तो शब्दों के लिए मरने को भी वे तैयार हैं । क्योंकि कविता में कवि के अस्तित्व और शब्द की एकात्मकता अनिवार्य है । कवि के लिए अर्थवान शब्द ही सबकुछ है । उसीमें उसका ज़ीना है, उसीमें उसका मरना है ।

---

1. "गीत फरोश" (भवानी प्रसाद) - पृ: 9.

कवि को मालूम है कि शब्द उसके हर एक पग में उनके साथ सहज रूप से चलते हैं -

"मुझे लगता है शब्द
शोर में और चुप्पी में
समान रूप से सजग है
अपनेपन के साथ
चेतना के गहरे से गहरे
विश्लेषण के साथ !"[1]

कवि कविता में बलपूर्वक शब्दों का प्रयोग नहीं करता है । बल्कि शब्द तो उनके साथ ही हमेशा रहते हैं कि वे उनके अस्तित्व का ही अंग है । वे उनके अपनेपन के साथ इतने जुडे हुए हैं कि शोर में और निस्तब्धता में समान रूप से सजग हैं । लेकिन वे जानते हैं कि शब्द उनके बन्धन में हमेशा नहीं रहते । उनकी स्वतंत्र सत्ता भी है -

"मैं ने देखा है
कि कभी कभी
एक मीठे विरोध में
वे मेरे खिलाए तक खडे हो गये हैं ।
सोचता हूँ
कि मेरे शब्द
अब मुझसे भी बडे हो गये हैं ।।
वे अब सिर्फ मेरी नहीं सुनते,
अपनी भी मुझे सुनाते हैं,

---

1. "परिवर्तन जिए" (भवानी प्रसाद) - पृ: 119.

यानी
मेरी - अपनी
इस बीस - पच्चीस साल की
पहचान को भुनाते हैं ।"[1]

शब्दों को अपने में समाये हुए पाकर भी कवि को कभी कभी उनसे मीठा विरोध सहना पडता है । कभी कभी शब्द कवि से बडे हो जाते हैं और उनकी पकड में नहीं आते । तब शब्द के अनुसार उन्हें चलना पडता है ।

कभी कभी शब्द और अर्थ का संबन्ध विचित्र हो जाता है । शब्द हमें कठिन रास्तों पर ले जाते हैं । "कोष बाह्य" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"तेज होती है शब्दों की ध्वनि
और रास्ता वे जिसपर हमें
चलाते हैं होता कठिन
मकसद कठिन यात्राओं का
चाहे जितना प्यारा हो हम
ज़्यादातर रद कर देते हैं उन्हें
बहला लेते हैं मन कमतर बातों से
अर्थ समझकर शब्दों का
छोड देते हैं ध्वनि को
जो हमें खींचती है घर के बाहर
कोषगत अर्थ का उपयोग
ज़रूर करते हैं हम ज़रूरत पडने पर

---

1. "गीतफरोश" (भवानी प्रसाद) - पृ: 9-10.

खींचकर उसे तलवार की तरह
रक्त से सन जाते हैं हमारे हाथों
और खुश होते हैं हम कि हमने
कोष बाह्य उपयोग कर लिया उनका !"[1]

भवानी प्रसाद को ऐसा अनुभव होता है कि कभी कभी शब्दों की ध्वनि तेज़ हो जाती है । शब्द कवि को कठिन रास्तों से ले चलते हैं । इस कठिन यात्रा के सहारे शब्दों को कोषगत अर्थ के बाहर नये नये अर्थों में प्रयुक्त करके हम साहस का अनुभव करते हैं । काव्य की गतिशीलता और जीवन्तता का मर्म भी भी इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है । भाषा कोषों में नहीं, जीवन में जी जिा रहती है । जीवन प्रवाह के साथ भाषा का रूप भी बदलता है । शब्दों में स्थाकार बदलते हैं, अर्थ-छवियाँ बदलती हैं ।

वास्तव में उनकी इच्छा है कि शब्द अनुभूति से अभिन्न होकर बरस जावें । "शब्दों के तल्प पर" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"शब्द अर्थों की घटा उठा दें और बरसें
बाँधकर छडी
कि मेरे छिन पल घडी
उतराते फिरें उनमें
गाते फिरे मेरे प्राण
लगभग शब्दों से अछूते
अर्थवान गान"[2]

---

1. "संप्रति" (भवानी प्रसाद) - पृ: 43.
2. "खुशबू के शिलालेख" (वही) - पृ: 144.

शब्दों की, वर्षा से तुलना करते हुए कवि कहता है कि अर्थ के बादल उठा [illegible] शब्दों की वर्षा हो जाय । इस आनंद में कवि अपने प्राणों को गीत से [illegible] बनाना चाहता है । कवि शब्दों से अछूते अर्थवान गान गाना चाहता है [illegible] उनमें शब्द-अर्थ की भिन्नता मिट जाय ।

और एक कविता में कवि ने शब्दों की लय के बारे में कहा है

"यह जुबान जो बोलती है
आखिर बोलकर भी कितना
और क्या खोलती है
और दिमाग जागता रहकर भी
जगाता किसे है
सिवा भीतर के भय को
इसीलिए मैं
ज़्यादा महत्व देता हूँ
शब्दों की लय को
।"

जुबान के बोलने से, दिमाग के जागते रहने से जो असर पडता है, उससे ज़्यादा असर शब्दों की लय से होता है । इसलिए कवि शब्द की लय को अधिक महत्व देता है ।

भाषा की साधना न करनेवाले कमज़ोर कवियों के कारण आजकल शब्दों की क्षमता कम हो गयी है । भाषा की इसी उदात्त स्थिति पर वे अत्यधिक दुःखी हैं । अपनी एक कविता में वे गाते हैं -

---

1. "शरीर, कविता, फसलें और फूल" (भवानी प्रसाद) - पृः 16.

"हाय रे ऐसी उदासी,
यह निराशा - जडी भाषा,
आज जीवन को विकलतर
बनाकर करती तमाशा,
जिसे जीवन व्रत बनाकर
आज तक मैं चल रहा था,
शुक्र तारे की तरह जो हर प्रभात
जल रहा था,
आज संशय किरन उनकी मूर्ति -
पोंछे दे रही है ।"[1]

नये कवियों की भाषा के बारे में, एक प्रमुख शिकायत यह रही है कि भाषा बिगाडी जा रही है । यहाँ भवानी- प्रसादजी भाषा की इस कर्म की ओर यहाँ संकेत कर रहे हैं । आजकल भाषा इतनी उदास है, उसमें निराशा जडीभूत हो गयी है । भाषा की इस विकलता के कारण जीवन की मूर्ति संशय - छाया से आच्छन्न हो रही है ।

और एक कविता में भी भवानी प्रसाद ने शब्दों की इस कमज़ोरी को शब्दायित किया है -

"शब्दों की गति से सन्तोष हो जाता था पहले
अब नहीं होता उतने ही से संतोष
चाहे जितने स्निग्ध और प्रखर
प्रांजल और तरल होकर निकलें वे
पहुँचाते नहीं लगते अब वे

---

1. "गीतफरोश" (भवानी प्रसाद) - पृ: 162.

मेरे मन के भीतर पडी
परछाइयों की शोभा सब तक
..."[1]

पहले कवि को शब्दों की गति में सन्तोष था, उसकी सफलता में विश्वास था । लेकिन आजकल कवि को लगता है कि अपने मन के भीतर पडी परछाइयों की शोभा को शब्द पहुँचाते नहीं । चाहे शब्द जितने ही स्निग्ध, प्रखर और प्रांजल हो, उनमें मन की आन्तरिकता तक पहुंचने की क्षमता कम है । उनको आश्चर्य होता है कि उनसे ही निकलनेवाले शब्द क्यों उनके अस्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते हैं । वे लिखते हैं –

जब वे मुझसे ही
निकलते हैं प्रायः बनकर एक ओघ
तारतम्य में बँधकर
अर्पण मेरे सर्वस्व का
क्यों नहीं बना पाया है अब तक उन्हें
दर्पण मेरे समूचे भीतरी अस्तित्व का
देह को खोलकर आत्मा की तहें
बावजूद इतनी लगन के
कब तक छुपी रहें
और तो और मेरे आगे !"[2]

---

1. "खुशबू के शिलालेख" (भवानी प्रसाद) – पृः 148.
2. वही – पृः 150-51.

कवि को आश्चर्य होता है कि जो शब्द उनके अन्दर से निकलते हैं, वे क्यों उनके सर्वस्व का अर्पण नहीं बन सकते हैं, क्यों वे उनके सम्पूर्ण भीतरी अस्तित्व का दर्पण नहीं होता । इतनी लगन के बावजूद भी वे क्यों छिपे रहते हैं । कवि का संकेत है कि भाषा अपूर्ण है, उसकी सीमा है । वह पूर्णतः मानव-मन की अभिव्यक्ति नहीं कर पाती ।

"तारसप्तक" में एक कविता में वाणी को उन्होंने दीन कहा है -

"वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता
कहने में अर्थ-नहीं
कहना पर व्यर्थ-नहीं
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता ।"[1]

कवि कभी कभी वाणी में एक दीनता का भाव पाता है । कथन में कुछ अर्थ प्राप्ति नहीं होता । लेकिन ऐसा होते हुए भी उन्हें विश्वास है कि उनका कहना व्यर्थ नहीं होता । कथन की प्रक्रिया में उन्हें एक तल्लीनता का अनुभव होता है ।

कल्पना की विराटता

कवि कल्पना के विराट् होने के पक्ष में है । "दृष्टियों के बल पर" नामक कविता में वे लिखते हैं -

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 25.

"कल्पना को विराट् होना चाहिए
वह केवल फूल तक जा पायी
और दर्शन
जिस बोलचाल में
देखना कह सकते हैं
और जो बहुत दूर तक नहीं जा सकता
आर - पार चला गया"[1]

कवि आशा करता है कि कल्पना विराट् और व्यापक बन जाय । दर्शन तो बहुत दूर तक नहीं जा सकता । कल्पना को दूर, व्यापक दृष्टि पाने का प्रयास करना चाहिए ।

क्षण का काव्य

भवानी प्रसाद कवियों से प्रार्थना करते हैं कि क्षण का काव्य लिखने की अपेक्षा न करो ।

"मत अपेक्षा करो हे कवि लिखो क्षण का काव्य
किन्तु क्षुण का काव्य क्या है तय करो
मत कि स्वर को शोर ही में लय करो
सच कहो कवि आत्मा से पूछकर
सच कहो कवि मत किसी का भय करो
मत लिखो रणवादियों के बीच रण का काव्य
मत अपेक्षा करो हे, कवि लिखो क्षण का काव्य ।"[2]

---

1. "परिवर्तन जिए" (भवानी प्रसाद) - पृः 111.
2. "गाँधी पंचशती" (वही) - पृः 95.

भवानीप्रसाद कवियों से अनुरोध करते हैं कि क्षण का काव्य लिखने के पहले यह तय करना चाहिए कि क्षण का काव्य क्या है । अपने स्वर को श्रो में समाने से वे सहमत नहीं हैं । किसी का भय करना भी वे आवश्यक नहीं मानते । रणवादियों के बीच रण का काव्य लिखने से कोई फायदा नहीं । समय की माँग के अनुसार, युग की पुकार के अनुसार काव्य रचना ही उचित है । यह कवि का मन्तव्य लगता है ।

शमशेर बहादुर सिंह

नयी कविता में आधुनिक मानव के संघर्षमय व्यक्तित्व की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुई है । श्री शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में आधुनिक कविता की यह विशेषता विशेष द्रष्टव्य है । काव्य सत्यों के प्रति उनका एक विशेष दृष्टिकोण है । जहाँ तहाँ उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों के बारे में अपने मत व्यक्त किये हैं । उन्हें हम इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं ।

"दूसरा सप्तक" की भूमिका में शमशेर बहादुर सिंह ने काव्य संबन्धी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है ।

काव्य तत्व

हर एक चीज़ को, हर एक भावना को वे अपनेपन के साथ लेना चाहते हैं । इसके बारे में वे लिखते हैं - "अपनी कविता में मेरी खास कोशिश यह रही है कि हर चीज़ की, हर भावना की जो एक अपनी भाषा होती है जिसमें वह कलाकार से बातें करती है, उसको सीखूँ ।"[1]

---

1. दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 77.

जब कलाकार हर चीज़ की, हर भावना की आन्तरिक चेतना का आवाहन कर सकता है, उससे बातें कर सकता है तभी उनकी काव्य चेतना संपूर्ण होगी । वे चीज़ों को अपने रंग से रंगा देना नहीं चाहते ।

शमशेर बहादुर सिंह काव्य में कवि के व्यक्तित्व का स्थान नगण्य मानते हैं । इसीलिए वे लिखते हैं -

"बात बोलेगी
हम नहीं ।
भेद खोलेगी
बात ही ।
सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या देखें ।"[1]

व्यक्तित्व का पर्दा सत्य के मुख पर आवरण डालता है । इसीलिए कवि "झूठ की आँखें" की संज्ञा देते हैं । कवि यही चाहते हैं कि बात ही भेद खोलेगी तो वही अच्छा है । कवि सत्य से साक्षात्कार करना उचित मानते हैं ।

कभी कभी वे अपना, काव्य-कला से तादात्म्य भी देखते हैं -

"कवि-कला का फूल हूँ मैं
वास रंग पराग लेकर
छा गया हूँ भाव-जग में
भूलता है कवि-हृदय तो
कवि-हृदय की भूल हूँ मैं !"[2]

---

1. "कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ" (शमशेर) - पृ: 83.
2. "उदिता" - वही - पृ: 18.

कवि अपने को काव्य-कला का फूल मानते हैं । वे भाव-जग में रंग, पराग और सुगन्ध लेकर छा गये हैं । जब कवि-हृदय भूलता है तो उससे भी वे तादात्म्य पाते हैं । कवि यहाँ अपने व्यक्तित्व को एक अलग सत्ता न मानकर उसका, कविता की आत्मा से तादात्म्य पाते हैं ।

और एक कविता में भी उन्होंने काव्य से अपनी एकात्मता व्यक्त की है -

"हूँ
और वहीं
एक
बडा नन्हा - सा
बडी गहराइयोंवाला
अणु है अणु
नहीं मालूम ? अणु
गूँजता हुआ
एक व्यर्थ का अभ्युदय,
या कि
व्यर्थ का तुक
क्षण का
निरन्तर -
एक बून्द लहू
और लो मेरा आविभवि
कि भवता
कि है - हो - था

अभी तक
वही मैं कोई
एक कविता"[1]

कवि कल्पना करता है कि वह गहराइयोंवाला नन्हा-सा अणु है ।

विलयनवादी काव्य तो उनका आदर्श ही है -

"एक विलयनवादी काव्य जो कि केवल
मैं लिखता - लिख सकता - हमेशा नहीं -
वैसा काव्य । जैसा कि इनमें
ध्वनित - अध्वनित:
स्व

इत्यादि"[2]

आविर्भाव, भवता, कविता, काव्य जैसे शब्द एक तरल अन्त:स्फूर्ति से चिटक कर आते हैं । यह आत्मतम काव्य प्रक्रिया है -

"इसलिए उसमें अपने खो दिया
जाना गवारा करता हूँ ।"[3]

कविता को शमशेर "केवल प्रलाप" मानना चाहते हैं -

---

1. "चुका भी हूँ नहीं मैं" (शमशेर) पृ: 12.
2. "शमशेर" (संपादक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 95.
3. वही - पृ: 96.

"तो । इसमें और कुछ नहीं ।
कोई संगीत नहीं । केवल प्रलाप ।
केवल तम ।
केवल प्रलाप । केवल मैं और आप । अनाप / शनाप ।"[1]

अपनी कविता को असाधारण वस्तु मानने के बदले वे इसमें एक स्वाभाविकता देखते हैं । इसीलिए वे कहते हैं कि "इसमें और कुछ नहीं ।" कविता में संगीत के बदले प्रलाप का स्वरूप देखते हैं । कवि और पाठक का आपसी वार्तालाप ही, उनकी कविता है ।

वर्तमान युग की संवेदना उलझी हुई है । यह उलझन समाज, व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में अनेक स्तरों पर देखा जा सकता है । कवि का भाव-बोध इस उलझन को अनेक टूटी हुई, बिखरी हुई अनुभूतियों द्वारा समेटना चाहता है । अपनी एक कविता में वे इस उलझन भरी युग संवेदना की काव्यगत अभिव्यक्ति को बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

"टूटी हुई, बिखरी हुई चाय
की दली हुई पांव के नीचे
पत्तियाँ
मेरी कविता
कुछ ऐसी मेरी खाल
मुझसे अलग-सी, मिट्टी में
मिली-सी !"[2]

---

1. "शमशेर" (संपादक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 96.
2. "कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ" (शमशेर) - पृ: 131.

शमशेर के काव्य की यह विशेषता है कि वह बिंब से प्रेरणा पाती है । इन बिंबों के पश्चात्तल में चित्रात्मक संवेदना का भी विशेष स्थान है । एक बार चित्र प्रदर्शिनी के कुछ चित्रों से प्रेरणा पाकर उन्होंने कुछ कविताएँ लिखीं । तब तो शमशेर का यही विचार है कि चित्र और कविता तो दो कैनवास हैं - एक स्थिर और दूसरा तरल है ।

"एक स्वच्छ और निर्मल
कविता यहाँ बह रही है
एक जवान कविता
वास्तव में, ये दो कैनवास हैं
एक तरल: एक स्थिर
दोनों पारदर्शी
एक दूसरे में छिपे हुए !"[1]

एक कविता तो स्वच्छ निर्मल होकर, तरल होकर बह रही है तो चित्र भी कविता ही है जो स्थिर है । लेकिन दोनों एक दूसरे में छिपे हुए हैं ।

कवि ने काव्य के प्रति अपने दृष्टिकोण को एक जगह "शराब" के संदर्भ में चित्रित किया है । "शराब" तो मानवता का "सार" है, उसका सुन्दर, पवित्र, सार-रूप है - इसे कवि अपने काव्य का विषय बनाना चाहता है ।

"नशा मुझे नहीं होता । नहीं होता ।
मुझे पीनेवालों को होता
है - मेरी कविता को
अगर वो उठा सकें और एक घूंट

---

1. "इतने पास अपने" (शमशेर) - पृ: 55.

पी सकें
अगर !
इसलिए बस
मुझे वही शराब दो । बस ।
(- मुझे नशा नहीं चाहिए)[1]

मानवता का सार रूपी सुन्दर "शराब" प्रदान करनेवाले कवि को नशा नहीं होता लेकिन इस शराब को जो स्वीकार करता है उस पाठक को ही नशे का अनुभव होता है । अगर वे उनकी कविता की चेतना रूपी शराब का एक घूंट पी सकें तो ज़रूर उन्हें नशे का अनुभव होगा । कवि ऐसा "शराब" देने की प्रार्थना करते हैं ।

लेकिन यह "शराब" कभी धरती की धडकनों से दूर नहीं होता । वे धरती की गंध और सहजता पर अपनी कविता को प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं -

"तुमने धरती का पद्य पढा है ?
उसकी सहजता प्राण है ।
तुमने अपनी यादों की पुस्तक खोली है ?
जब यादें मिटती हुई एकाएक स्पष्ट हो गयी हो ?
जब आँसू छलक न जाकर
आकाश का फूल बन गया हो ?
- वह मेरी कविताओं - सा मुझे लगेगा !"[2]

कविता, शमशेर की राय में, धरती का पद्य है उसकी सहज स्वाभाविकता उसकी अपनी प्राण सत्ता है । कभी कभी यादों की पुस्तक उसमें खोली जाती है ।

---

1. "चुका भी हूँ नहीं मैं - (शमशेर) - पृ: 14.
2. "शमशेर" (सं सर्वेश्वर) - पृ: 100.

ऐसे भी अवसर आते हैं जब मिटी हुई यादें एकाएक स्पष्ट होने लगती हैं । कभी आँसू आकाश - कुसुम के समान हो जाता है । ये सब पूरी तन्मयता के साथ उनकी कविता में मिलते हैं ।

शमशेर कला और सृजन को संघर्ष के विशेष संदर्भ में परखते हैं । उनकी राय में कला मानव-आत्मा का संघर्ष है ।

"कला सबसे बडा संघर्ष बन जाती है
मनुष्य की आत्मा का -
प्रेम का केवल कितना विशाल हो जाता है
आकाश जितना
और केवल उसीके दूसरे अर्थ-सौन्दर्य हो जाते हैं
मनुष्य की आत्मा में ।"[1]

शमशेरजी के अनुसार कला तो मानव की आत्मा का एक महान संघर्ष है । लेकिन प्रेम का विशाल आकाश इस संघर्ष को नये अर्थ-सौन्दर्य से रूपांतरित करता है ।

काव्य - रचना - प्रक्रिया

रचना प्रक्रिया की जिन सूक्ष्म, अभौम अनुभूतियों और संघर्षों से होकर कवि-मन को चलना पडता है, उनके बारे में विभिन्न कवियों ने अपने अनुभव अभिव्यंजित किये हैं । शमशेर ने भी अपनी कुछ कविताओं में रचना धर्मिता की गहराइयों तक जाने की कोशिश की है -

"तब मेरे लिए पहाड अरावली के
पुरातन - तम

---

1. "इतने पास अपने" (शमशेर) - पृ: 44.

खोद खोद डाल गये होंगे
सदैव के एक भविष्य में अभी से
नग्नतम बिवाइयाँ दरारें
धरती के सीने में अन्दर तक चली गयी हुई
घूम घूम कर
एक स्थिर चक्कर में
कविता की पंक्तियों की तरह -
अभी से
।"[1]

शमशेर काव्य की रचना-प्रक्रिया में उत्खनन की प्रक्रिया से तादात्म्य पाते हैं । पहाड अरावली के पुरातनतम खोद और उसकी नग्नतम बिवाइयों और दरारों की स्थिति कवि के अन्दर भी होती है । धरती के सीने में जिस प्रकार ये अन्दर तक चलती हैं, उसी प्रकार घूम-घूम कर, एक स्थिर चक्कर में कविता की पंक्तियाँ भी कवि-हृदय की गहराइयों तक जाती हैं ।

कला का तटस्थ रूप शमशेर की एक महत्वपूर्ण काव्य - मान्यता है ।

"हमारे
तुम्हारे
बीचोंबीच
खडी
मूर्त्त लय - सी
अमर ।"[2]

---

1. "शमशेर" (सं सर्वेश्वर) - पृ: 93.
2. "इतने पास अपने" (शमशेर) - पृ: 65.

व्यक्ति और व्यक्ति के बीच होनेवाली "मूर्त्त लय" के समान कला में भी एक तटस्थ मूर्त्त लय कवि देखता है जो अमर तत्व के समान खडी हुई है ।

इसी तटस्थता में कवि एकता की अनुभूति भी पाता है ।

"हम दोनों की राग -
जनित, हमारे प्राणों
के बीच की
वह एकता !
संभवत
वही तटस्थ
कला है ।
वही
सत्य !"[1]

कला में कवि मूर्त्त लय - सी जो तटस्थता देखता है, उसको यहाँ वे और भी प्रकाशित करते हैं । एक दूसरे के राग से जो एकता उत्पन्न होती है वही एक दूसरे के प्राणों के बीच भी मिलती है । शायद वही एकता कला की तटस्थ भूमिका है । वही तटस्थ कला सत्य है ।

शमशेर का सृजनात्मक बोध "तथागतीकरण" की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है । यह एक सामरस्य - भाव का सूचक है । इस तथागतीकारण की प्रक्रिया में "इन उन मैं तुम" सबका सामंजस्यपूर्ण रूप मिलता है -

"तथापि यह वह इन उनमें तुम सबका
तथागतीकरण है कला यह"[2]

---

1. "इतने पास अपने" (शमशेर) - पृ: 66.
2. वही - पृ: 24.

सृजनात्मकता में सबका विलयन हो जाता है । इन - उन - तुम के विलयन की प्रक्रिया में कवि की अन्तश्चेतना की कृति के रूप में परिणति हो सकती है । शमशेर के काव्य में व्यक्ति आदमी का पर्याय है । वह उनके काव्य का स्रोत है ।

"समय के चौराहों के चकित केन्द्रों से
उद्भूत होता है कोई: "उसे - व्यक्ति कहो"
कि यह काव्य है
आत्मतम !"[1]

व्यक्ति समय के चौराहों में चकित रहता है । उसी साधारण व्यक्ति का भाव शमशेर का कवि प्रस्तुत करता है । आगे वे स्पष्ट करते हैं

"क्योंकि वहाँ मेरा एक "महीन युग-भाव" है
वही शायद मेरे लिए भाव । शायद
मेरे ही अनेक बिंबों के लिए मात्र ।
जिन्हें मेरे पाठक कहा जाए मात्र ।"[2]

कवि अपने भाव को "महीन युग - भाव" बताते हैं । उस भाव में अनेक बिंब मिलते हैं जो उनके हैं ।

काव्य-लक्ष्य

शमशेर ने अपनी कुछ कविताओं में काव्य के लक्ष्य या उद्देश्य पर विचार किया है । उनकी एक कविता है -

---

1. "शमशेर" (संपादक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 95.
2. वही ।

"मैं ने शाम से पूछा -
या शाम ने मुझसे पूछा
इन बातों का मतलब ?

उसने मुझसे पूछा, तुम्हारी कविताओं का क्या मतलब है
मैं ने कहा - कुछ नहीं ।
उसने पूछा - फिर तुम इन्हें क्यों लिखते हो ?
मैं ने कहा - ये लिख जाती है । तब
इनकी रक्षा कैसे हो जाती है ?
उसने क्यों यह प्रश्न किया ?
मैं ने पूछा:
मेरी रक्षा कहाँ होती है ? मेरी साँस तो -
तुम्हारी कविताएँ हैं उसने कहा । पर -
इन साँसों की रक्षा कैसे होती आई ?
मैं साँसों में बँध गए, शायद ऐसे ही रक्षा
होती आई । फिर बहुत से गीत
खो गए ।"[1]

यहाँ शाम और कवि के संवाद के द्वारा कविता - रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है । कवि काव्य रचना के मूल में कोई विशेष उद्देश्य नहीं रखते । वे कहते हैं कि कविताएँ "लिख जाती हैं" । उनकी रक्षा का प्रश्न निरर्थक है । क्योंकि वे उनकी अपनी साँस हैं । वे उन साँसों में बँध जाते हैं । कुछ गीत तो खो भी जाते हैं । शमशेर का मन्तव्य है कि कविता को कवि-व्यक्तित्व से अलग हटाकर उसके उद्देश्य या स्वभाव का विश्लेषण करना निरर्थक है ।

---

1. "शमशेर" (सं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 99-100.

मौन

नये कवियों ने संप्रेषण में मौन का बडा महत्व माना है । शमशेर ने भी मौन के बारे में लिखा है –

"उसने मुझसे पूछा, इन शब्दों का क्या मतलब
है ? मैं ने कहा: शब्द कहाँ है ?
वह मौन मेरी ओर
देखता चुप रहा "[1]

कवि का यही कथन है कि अपने शब्दों का मतलब वे बता नहीं सकते । शब्दों में अर्थ भरने के लिए वे शब्दों का प्रयोग नहीं करते । क्योंकि वे शब्द संवेदन या अर्थ से भरे हैं । उनकी कविता के शब्द वास्तव में शब्द नहीं, संवेदन हैं, भाव हैं, विचार हैं । यह मर्म समझे बिना उनकी कविता के शब्दों की परख और पहचान करना संभव नहीं ।

शमशेर के सौन्दर्य बोध का अपना विशेष स्वभाव है । उन्होंने सौन्दर्य और प्रेम-विस्तार में अहं के शमन पर बल दिया है

"काश कि मैं न होऊँ
न होऊँ
तो कितना अधिक विस्तार
किसी पावन विशेष सौन्दर्य का
अवतरित हो !
पावन विशेष सौन्दर्य का ।"[2]

---

1. "शमशेर" (संपादक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) – पृ: 100.
2. "चुका भी हूँ नहीं मैं" (शमशेर) – पृ: 90.

कवि पावन विशेष सौन्दर्य के अवतरण में अपना अस्तित्व विनष्ट करना चाहता है ।

शमशेर की कविता में कहीं कहीं काव्य के संबन्ध में एक छायावादी दृष्टि मिलती है । "माँ शक्ति" कविता में उन्होंने काव्य को माँ के रूप में स्वीकार किया है

"स्वराकार, संगीत शरीर
मौन कलाधर
मधु बरसाकर
हर हर जाते कितनी पीर !"[1]

स्वर के आकार से युक्त, संगीत रूपी शरीर वाला "महामौन" नाद-तत्व रूपी चन्द्रमा से बरसाये मधु से कितनी पीडा दूर हो जाती है । यहाँ कवि ने नाद तत्व को पीडा का नाश करनेवाला मंगलकारी तत्व कहा है ।

कविता और यथार्थ

शमशेर कविता में यथार्थ को सबसे महत्वपूर्ण स्थान देते हैं । "दूसरा सप्तक" की भूमिका में सच्चाई के इस रूप के बारे में वे स्पष्ट कहते हैं -

"कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं । उस खोज में उस सच्चाई का अपना खास रूप भी हमें मिलना ही चाहिए, जिस हद तक भी मुमकिन हो । क्योंकि किसी भी चीज़ का असली रूप उस चीज़ से अलग तो संभव नहीं ।"[2]

कवि सिर्फभावनाओं में डूबने के बदले उन भावनाओं की सच्चाई का सामना करना चाहता है ।

सच्चाई का स्वरूप देखकर कवि का मन एकाकीपन की ओर अधिक उन्मुख होता है । जीवन की कृत्रिम छवि उसके लिए तृण के समान है -

---

1.

2. दूसरा सप्तक (सं अज्ञेय) - पृ: 79.

"आज अकेले किसके प्राण'
मेरे कवि के ! मेरे कवि के !
जिसने जीवन के सम्मान
फूँक दिये आंगन में छवि के !"[1]

शमशेर जीवन की बाहरी तडक - भड़क से मुक्त होकर अकेले "कवि के प्राण" में आने को समा लेना चाहते हैं । और एक कविता में भी उन्होंने यथार्थ की गहराई की ओर उन्मुखता दिखायी है -

"इंसान के अखौटे में डालकर मुझे
सब कुछ तो दे दिया
जब मुझे मेरे कवि का बीज दिया कटु-तिक्त
फिर एक ही जन्म में और क्या क्या
चाहिए ।"[2]

कवि मानता है कि "इंसान के अखौटे में डालकर" उन्हें सब कुछ दिया गया है । उनके "कवि का बीज" कटु-तिक्त है । वह जीवन की कटुता और तिक्तता से उत्पन्न है । कवि को इसके अलावा इस जन्म में और कुछ की ज़रूरत ही नहीं ।

"सत्य का रूख
समय का रूख है
अभय जनता की
सत्य ही सुख है
सत्य ही सुख ।"[3]

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 93.
2. "इतने पास अपने" (शमशेर) - पृ: 20.
3. "कुछ और कविताएँ" - वही - पृ: 3.

सत्य के रुख की वे समय का रूख मानते हैं । सत्य जनता को अभय देता है । सत्य में ही सुख भी प्राप्त होता है । यहाँ कवि जीवन और काव्य में सत्य को ही सबकुछ मानता है ।

शमशेर कला को जीवन से भिन्न नहीं मानते । वे जीवन की विशालता में कला के छिटके पाते हैं । "दूसरा सप्तक" में इसके बारे में वे लिखते हैं - "हम आप ही अगर अपने दिल और नज़र का दायरा तंग न कर लें तो देखेंगे कि हम सबकी मिली - जुली ज़िन्दगी में कला के रूपों का खजाना हर तरह बेहिसाब बिखरा पड़ा गया है ।"[1]

इसी कारण वे कवि - हृदय को मज़दूर किसानों के स्वर में स्वर मिलाने का आदेश देते हैं । "दूसरा सप्तक" में "स्वतंत्रता - दिवस पर 1940 शीर्षक कविता में ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं -

"फिर वह एक हिलोर उठी -
गाओ !
वह मज़दूर किसानों के स्वर कठिन हठी
कवि हे, उनमें अपना हृदय मिलाओ !
उनके मिट्टी के तन में है अधिक आग,
है अधिक ताप
उसमें, कवि हे,
अपने विरह - मिलन के पाप जलाओ !
"[2]

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 79.
2. वही - पृ: 97.

कवि मज़दूर - किसानों के कठिन स्वर में अपना हृदय मिलाना चाहता है । उसका तन जो मिट्टी का है, उसमें अधिक ताप और आग है, जीवन की ऊर्जा और ऊष्मा है । कवि की, विरह - मिलन की भावनाओं को उस ताप में जला देना ही चाहिए ।

वे जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को सजीव रूप देना कला की साधना समझते हैं । वे लिखते हैं - अपनी कला चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना इसीको मैं "साधना" समझता हूँ । और इसीमें कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ ।"[1]

कवि "साधना" को आध्यात्मिक धरातल पर देखना नहीं चाहते, बल्कि कला के द्वारा जीवन की सच्चाई से संपर्क पाना ही उनकी सबसे बडी "साधना" है । इसके लिए कलाकार को संघर्ष भी करना पडता है ।

वर्तमान जीवन के खोखलेपन से निराश होकर शमशेर का कवि कभी कभी यह कहने को विवश होता है कि काव्य व्यर्थ है । "दो बातें" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"कविताएँ
एक ब्लक हैं
जिसमें कवि तक नहीं
न कोई जूतों के निशान छूटे हुए
न चाय के धब्बे घरेलू
न पुरानी साडी के चीकट कर्टन"[2]

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) से उद्धृत - पृ: 79.
2. "चुका भी हूँ नहीं मैं" (शमशेर) - पृ: 70-71.

"सारनाथ की एक शाम" शीर्षक कविता में एक जगह उन्होंने काव्य की आधुनिकता पर व्यंग्य किया है -

(सुख तो व्यंग्य में ही है
और कहाँ
युग दर्शन मित्र
छल का अपना ही
छन्द है
सर्वोपरि मधुर मुक्त
और कितना एब्स्ट्रैक्ट

क्योंकि व्यभिचार ही आधुनिकतम आज
काव्यकला है
आलोचना के डाक्टर
उसे अनादि भी कहते हैं) /3/
शब्द का परिष्कार
स्वयं दिशा है
वह मेरी आत्मा को
आधी दूर तक
तब भी
तू बहुत दूर है बहुत आगे
त्रिलोचन /4/ "।

---

1. "चुका भी हूँ नहीं मैं" (शमशेर) - पृ: 20-21.

भाषा

शमशेर बहादुर सिंह ने भाषा की आन्तरिकता को पहचाना है । यद्यपि उन्होंने उसपर अधिक विचार-विमर्श नहीं किया है, फिर भी जहाँ तहाँ प्राप्त कुछ उक्तियाँ इसकी सूचक हैं -

"भाषाओं की नस-नस एक दूसरे से
गुंथी हुई है
(मगर उलझी हुई नहीं)
हमारी साँस - साँस में उनका सौन्दर्य है
(मॉ ड र्निस् टिक्) कहो मत
अभी हमें लडने दो ।"[1]

भाषाओं को वे एक - दूसरी में गुंथी हुई मानते हैं । वे सोचते हैं कि उनका सौन्दर्य "हमारी साँस-साँस में" है । जीवन की प्राण चेतना ही भाषा को अर्थवत्ता देती है । "मोडर्निस्टिक्" होने में कोई अर्थ नहीं ।

शमशेर भाषा की अपेक्षा भाव पर बल देते हैं । भाषा तो एक माध्यम है -

"मैं तो न जानूँ, हिन्दी कि उर्दू
प्रेम की बानी साँचो रे साँची !"[2]

प्रेम की वाणी की सच्चाई महत्वपूर्ण है । वह चाहे हिन्दी हो, या उर्दू उसमें प्रेम का भाव ही प्रमुख है ।

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 79.
2. "चुका भी हूँ नहीं मैं" (शमशेर) - पृ: 28.

छन्द

"न पलटना उधर" शीर्षक कविता में शमशेर ने छन्द को संकरा माना है । अपनी प्रेमिका से वे कहते हैं -

"उन संकरे छन्दों को न अपनाना प्रिये
  (अपने वक्ष के अधीर गुनगुन में)
जो गुलाब की टहनियों से टेढे - मेढे हों
  चाहे कितने ही कटे - छँटे लगे, हाँ ।"[1]

शमशेर प्रेमिका को उपदेश देते हैं कि अपने वक्ष के अधीर गुनगुन में अर्थात् अपने भावों की अधीर अभिव्यक्ति के लिए वह संकरे छन्दों को न अपनाये, भले ही वह कितने ही आकर्षक लगे । इन टेढे - मेढे छन्दों में भाव को अभिव्यक्ति नहीं मिलती । निराला के समान वे भी छन्द के बन्धन से मुक्ति चाहते थे ।

नरेश मेहता

"दूसरा सप्तक" के कवियों में श्री नरेश मेहता का नाम महत्वपूर्ण है । भारतीय संस्कृति के सनातन तत्वों और आदर्शों पर विशेष रुचि रखनेवाले नरेश मेहता ने अपनी अनेक कविताओं में संस्कृति पर आधारित कई बातों की चर्चा की है । भारतीय ऋषि - मुनियों ने अनादि काल से लेकर काव्य को एक आगर, अलौकिक महत्ता देकर सम्मानित किया है । लगता है कि श्री नरेश मेहता भी इस पथ से होकर आगे बढना चाहते हैं । उनका "अरण्या" नामक काव्य संग्रह इस दृष्टि से विशेष स्मरणीय है ।

---

1. "कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ" (शमशेर) - पृ: 125.

"अरण्या" की भूमिका और अन्य कविताओं में नरेश मेहता ने काव्य के विभिन्न पक्षों की चर्चा की है । काव्य के भावपक्ष पर आधरित विभिन्न बातों पर उन्होंने अधिक विचार किया है ।

कथ्य-पक्ष

कथ्य-पक्ष के काव्य-प्रयोजन, काव्य की आत्मा, काव्य का रसभाव, शब्द और अर्थ का संबन्ध आदि कितने ही विषयों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है ।

काव्य का महत्व

"अरण्या" की भूमिका में श्री नरेश मेहता ने काव्य को समस्त वैचारिक सत्ता में प्रथम माना है । "काव्य का स्थान समस्त वैचारिक सत्ता में न केवल सर्वोपरि है बल्कि अपनी भाववाची सृजनात्मक प्रकृति के कारण परम पद भी कहा जा सकता है । अन्य वैचारिक सत्ताएँ भले ही वे धर्म, दर्शन, ज्ञान - विज्ञान या अध्यात्म की ही क्यों न हो, भाववाची सृजनात्मक न होने के कारण वे किसी न किसी कारण से सीमाएँ हैं ।"[1]

कवि वैचारिक सत्ताओं में एक सीमा पाते हैं । लेकिन उनकी दृष्टि में, कविता भाववाची और सृजनात्मक है । इसलिए वह सीमा से मुक्त है । इसलिए वैचारिक सत्ता में, उनके अनुसार, उसीको परमपद मिलता है ।

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 9 (भूमिका)

काव्य का प्रयोजन

काव्य को वे केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते बल्कि उसको आध्यात्मिक प्रयोजन से युक्त मानते हैं । जैसे वे लिखते हैं -

काव्य का भी प्रयोजन है कि मनुष्य-मात्र को उसके भीतर जो आत्मिक या "पुरुष" है (जिसे दर्शन "योगमाया - सुप्त" की संज्ञा देता है) उसको स्थापित या संचरित किया जाए, साथ ही जितनी भी पदार्थिक सत्ताएँ हैं, उनको मन या "प्रकृति" के साथ तदाकृत किया जाए ।"[1]

मनुष्य में अन्तर्लीन परम अध्यात्म चेतना का जागरण काव्य के द्वारा भी संभव है । उनके अनुसार काव्य-साधना अध्यात्म-साधना के समकक्ष ही है ।

काव्य की आत्मा

नरेश मेहता मानते हैं कि सामान्य नेत्रों से काव्य-दृष्टि भिन्न है । काव्य रचना के लिए एक "तीसरी आँख" की आवश्यकता है । काव्य की इस अलौकिकता के बारे में वे कहते हैं -

"कहा जाना चाहिए कि काव्य हमें सृजनात्मकता की तीसरी आँख प्रदान करता है और तभी हम विभिन्न सत्ताओं के गुण स्वरूप और धर्म के उन अनभिव्यक्त आयामों को देख समझ पाते हैं जिन्हें हमारे सामान्य दो नेत्र नहीं देख पाते । बिम्ब, प्रतीक और मिथक काव्य के वस्तुतः वे अस्त्र हैं जिनके माध्यम से वह पदार्थ, सत्ता और चैतन्य को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करता है ।"[2]

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृः 9 (भूमिका)
2. वही - पृः 10.

नरेश मेहता के अनुसार काव्य संवेदना एक "तीसरी आँख" की उपज है । साधारण लोग जिस वस्तु जगत् को देखता है उसीको कवि इस तीसरी आँख के द्वारा एक विभिन्न प्रकार से अनुभव करता है । यही अनुभव वह काव्य द्वारा संप्रेषित करता है ।

"चैत्य पुरुष" नामक कविता में नरेश मेहता ने काव्य को देश और काल से परे माना है । मनुष्य-मात्र का चैत्य पुरुष बनना उनका काव्य है । जैसे-

"यदि तुम मनुष्य को
केवल धरती पर ही देखना चाहते हो
तो मेरी कथाकृतियाँ पढो
जहाँ वह घटनाओं के सलीब पर
देश और काल में आबद्ध घटित हो रहा है
क्षरित हो रहा है
और इतिहास बनने की त्रासदी भोग रहा है ।
परन्तु, मनुष्य में ही
इस देश और काल के पाश से मुक्त हो जाने की
केवल क्षमता ही नहीं है
बल्कि वह उस पुकार का श्रोता भी है
जो आकाशों के आकाश
परम व्योम से आती है
और उसे पैगंबरत्व प्रदान करती है,
अक्षर बनाती है ।
इसीलिए व्यक्ति का,
नहीं -
मनुष्य मात्र का चैत्य - पुरुष बनाना ही
मेरा काव्य है ।"[1]

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 17.

काव्य और समष्टि

काव्य समष्टि से जुडा हुआ है । इस संकल्पना को सुन्दर ढंग से द्वारा "काव्य-कपिला" शीर्षक कविता में नरेश मेहता ने व्यक्त किया है

"वह कविता ही है
जो दिन में कपिला बनकर
आकाशों में विचरती है
और ग्रहों - नक्षत्रों के बीच बैठकर
विश्राम करती है
जैसे वे वृक्ष हों ।
मेरी यह श्यामा-कविता
कैसी नन्दिनी गौ की भाँति
आकाश से पूरा दिन चरकर
पुष्ट - थनोंवाली हो जाती है
और अब गलघटी बजाती
मेरे पीछे पीछे हुमसती
अपने थान और बछडे के लिए
अकुलायी चल रही होती है ।
कविता इसी तरह रोज़
आकाश से धरती पर उतरती है
और मुझे सहज तथा सार्थक बनाती है ।"[1]

कवि अपनी कविता को नन्दिनी गौ से उपमित करना चाहता है । क्योंकि नन्दिनी गौ आकाश में पूरा दिन चरकर पुष्ट थनों से आती है और कवि के पीछे पीछे अपने थान और बछडे के लिए अकुलाती है । कविता भी रोज़ आकाश की विभिन्न संवेदनाओं को आत्मसात् करती हुई धरती की ओर उतरकर अपना

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 18.

आधार स्थान पाना चाहती है ।

"शब्दास्त्र" नामक कविता में उन्होंने लिखा है कि वे काव्य रूपी दक्षिणावर्त शंख लिए हुए हैं जो दिशा और काल बनकर उद्घोष कर रहा है ।

"मेरे हाथों में
यह कविता नहीं, शब्दास्त्र हैं ।
देवताओं के लिए भी काम्य
संकल्पपूत अमोघ शक्ति संपन्न
काव्य - आयुध -
दक्षिणावर्त शंख है
जिसे मैं काल और दिशा बनकर उद्घोष रहा हूँ ।"[1]

कविता का मंगल या शिव तत्व के साथ संबन्ध प्राचीन काल से ही माना गया है । नरेश मेहता इसी भाव को शंख के प्रतीक के द्वारा प्रतिबिंबित करते हैं । दक्षिणावर्त शंख के समान अमोघ शक्ति-संपन्न पवित्र नाद के द्वारा कवि की कविता युग-मानव को आह्वान देती है, शिवत्व की ओर ले जाती है ।

काव्य और जीवन

नरेश मेहता काव्य को एक अपार्थिव, अमानवीय वस्तु नहीं मानते । बल्कि उसको मनुष्य-जीवन की तापाग्नि को शान्त करनेवाली करुणा की स्रोतस्विनी मानते हैं । इसीलिए वे अरण्यानी से अपने को वापस लौटाने की इच्छा प्रकट करते हैं ।

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 49.

"मेरी अरण्यानी ! मुझे यहाँ से वापस अपनी धरती
अपनी शाश्वती के पास लौटना ही होगा !!
ताकि मैं
मात्र एक व्यक्ति
केवल एक कवि न रह कर
अपने समय की सबसे बडी घटना बन सकूँ -
एक कविता !

कविता -
जब केवल विचार होती है
तब वह
सत्य का साक्षात्
तब वह
परम पुरुष की लीला
तब वह
आत्म उपनिषद् होती है,
पर जब वह
भाषा के भोजपत्र वहन लेती है
तब वह आनन्द के मन्त्र
आसक्ति के मन्त्र
आसक्ति के पद
तन्मयता के कीर्तन
विनय की प्रार्थना
और लालित्य के गान के

अपराजित हिमालय तथा अक्षत उपत्यकाओं से
उतरती हुई
जलते मानवीय मैदानों में पहुँचकर
विराट करुणा
पीडा मात्र बन जाती है ।"[1]

कवि अरण्यानी से वापस शाश्वती की ओर जाना चाहता है । उनके लिए कविता के रूप में अपने समय की सबसे बडी घटना बनने की इच्छा है । कविता विचार के रूप में सत्य का साक्षात्कार करती है । लेकिन भाषा के द्वारा वह विनय और लालित्य की उपत्यकाओं से उतरती हुई मानव-जीवन के मैदान में पहुँचना चाहती है । मानव-जीवन की विराट करुणा और पीडा को अपनाना चाहती है ।

कविता का वैचारिक पक्ष और सामाजिक पक्ष वे मान लेते हैं और सामाजिक पक्ष की प्रधानता वे अवश्य स्वीकार करते हैं । क्योंकि वे जानते हैं कि आज मानवता "दग्ध" है । उसे केवल कविता की ही प्रतीक्षा है । उसी कविता में वे आगे लिखते हैं -

"इतिहास और राजनीति में दग्ध हुए
मनुष्य मात्र को
अब केवल कविता की प्रतीक्षा है ।
कविता का लोगों के बीच लौटना
एक अविश्वसनीय घटना होगी ।
इसलिए मेरी अरण्यानी ! मुझे यहाँ से अपनी धरती
अपनी शाश्वती के पास लौटना ही होगा !!"[2]

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 56.
2. वही - पृ: 58.

अपनी समस्त वैष्णवता को कवि जन-सामान्य के लिए समर्पित करना चाहता है । वे मानते हैं कि कविता तो साधारण जन की रामायण है । कविता को मनुष्य से तादात्म्य पाना है ।

शब्द और अर्थ

काव्य में शब्द और अर्थ के कई जादू होते होते हैं । नरेश मेहता ने अर्थ के इन विभिन्न आयामों की चर्चा की है । "अरण्या" की भूमिका में वे अर्थ पर यों विचार करते हैं -

काव्य में शब्द और अर्थ को देश और काल का उल्लंघन करते समय कई बार शब्द को अर्थ और अर्थ को शब्द की भाँति आचरण करते देखा जा सकता है । काव्य में सृजनात्मकता ने सिरजा ।"[1]

जैसे अज्ञेय ने कहा था, कभी कभी शब्द-अर्थ की कल्पित दीवार गायब हो जाती है और शब्द अर्थ हो जाता है, अर्थ शब्द भी हो जाता है । क्योंकि देश-काल के अतीत उनकी अद्भुत सत्ता होती है । शब्द जब कविता बनता है तब वह विराट् हो जाता है । "वैराट्य का भय" शीर्षक कविता में शब्द का यह चमत्कार वर्णित हुआ है ।

"कल मैं ने एक शब्द से पूछा,
- कविता बनोगे ?
शब्द बोला
- क्या होगा ?
- कविता तुम्हें रचेगी
रचना, अर्थ पाना होता है ।
- लेकिन रच दिये जाने पर

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृः 16ः

मैं कहाँ रहूँगा ?
- अभी जो यह केवल ध्वनि है - "मैं"
अर्थ पाकर कविता हो उठेगी
और कविता विराट् बनाती है ।"[1]

कवि और कविता के संवाद के द्वारा सृजन के सूक्ष्म रहस्य का यहाँ उद्‌घाटन हुआ है । जब शब्द कविता बन जाता है तो अर्थ पाता है । जब साधारण और व्यर्थ केवल ध्वनि है - "मैं", वह कविता बनकर उस सीमित दायरे से ऊँचा उठकर विराट् सत्ता में परिणत होता है । कवि की राय में काव्यगत शब्द विराट् है ।

कवि जानता है कि कविता सयमुच अनुभव है । शब्द को शब्द नहीं रहना है, बल्कि शब्द का उल्लंघन करना ही कविता का महत्व है । "उल्लंघन" नामक कविता में नरेश मेहता ने इसीके बारे में लिखा है -

"कविता -
अर्थ नहीं, अनुभव होती है
क्योंकि वह भी सत्ता है
अप्रतिहत, अप्रमेय ।
अर्थ तो शब्द का होता है
और कविता में
शब्द -
सरोवर में डूबी सीढी है
जहाँ हम समाप्त होते हैं
और सरोवर आरंभ होता है ।
सीढियाँ तो

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 2.

केवल खड़े होने के लिए होती हैं
जबकि
अवगाहन
सीढीहीन संपूर्ण समर्पण माँगता है ।
इसी लिए -
शब्द पर जाकर खड़े मत रहो
शब्द का उल्लंघन ही कविता है ।"[1]

यहाँ नरेश मेहता ने शब्द और अनुभूति का संबन्ध प्रकृति के एक सुन्दर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है । सरोवर में सीढी डूबी रहती है, लेकिन सीढी समाप्त होने पर सरोवर का आरंभ होता है । सीढी को छोडकर ही सरोवर में पूर्णत: डूब सकते हैं । उसी प्रकार शब्द तो अनुभव या संवेदना सरोवर तक पहुँचाने की सीढी है - शब्द रूपी सीढी छोडकर अनुभव के सरोवर में पूर्णत: डूबने के लिए शब्द का उल्लंघन करना चाहिए ।

"विलयन" शीर्षक कविता में भी नरेश मेहता ने अर्थ की विशेष प्रकृति को समझाया है - शब्द स्वत्व प्राप्त कर स्वयं कवि में ही लीन हो जाता है ।

"शब्द मुझ तक आया
और बोला,
- मुझे अपनी भाषा नहीं
स्वत्व बनाओ ।
और वह अपने भाषा - व्यक्तित्व पर से
अर्थ उतारने लगा
जैसे अर्थ - केंचुल था ।

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 9.

अर्थ से मुक्त

शब्द

तत्व बन गया था

तभी अक्षर भाव से वह

एक क्षण के लिए प्रकाशित हुआ

और क्षणान्त में मुझमें लीन हो गया ।

अब जब कभी मैं शब्द होता हूँ

तो यह सृष्टि मेरा अर्थ

और जब कभी सृष्टि शब्द होती है

तो मैं उसका अर्थ ।"[1]

इन पंक्तियों में कवि शब्द की आन्तरिक अनुभूतियों तक पैठता है । शब्द भाषा से अपने स्वत्व तक पहुँचना चाहता है । अर्थ-केंचुल उतारकर वह अपने भाषा-व्यक्तित्व से मुक्त हो जाता है । वह तत्व बनकर एक क्षण के लिए प्रकाशित होता है और कवि में लीन हो जाता है । कवि को लगता है कि जब कवि शब्द होता है तो उसका अर्थ है सृष्टि । जब सृष्टि शब्द होती है तो कवि उसका अर्थ है । कवि सृष्टि में अपना ही स्वरूप पाता है ।

भाषा की कमज़ोरी

नरेश मेहता मानते हैं कि कहने की आकुलता भाषा की तलाश है । लेकिन वे मानते हैं कि कहने से कविता नहीं बनती । भाषा की इस सीमा के बारे में वे लिखते हैं -

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 3-4.

"फूल को
फूल न भी कहा जाए
तब भी वह है
रहेगा भी ।
उसका होना
न कहा जाने पर भी
न तो कम होता है
और न अनहुआ ही
हमारा उसे फूल कहना
सिर्फ इतना बतलाता है, कि
हम एक फूल तक पहुँचे थे
परन्तु, क्या उसके फूलत्व तक भी ?
जबकि फूलत्व ही कविता है,
लेकिन भाषा के साथ
क्या किसीके फूलत्व तक पहुँचा जा सकता है ?
क्या फूल और फूलत्व के बीच
भाषा
तृतीय की सी अवांछित उपस्थित नहीं है ?"[1]

कवि को कभी कभी भाषा की उपस्थिति अवांछित लगती है । हम जब फूल को देखकर "फूल" कहते हैं तो फूल के फूल होने से उसका कोई संबन्ध नहीं । हम "फूलत्व" तक नहीं पहुँच सकते । वास्तव में फूलत्व ही कविता है । उस फूलत्व तक पहुँचने में भाषा रूपी स्थूल माध्यम बाधा बन जाता है । कवि यह भी व्यंजित करता है कि मात्र "फूल" शब्द "फूलत्व" की पहचान नहीं कराता ।

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) - पृ: 10-11.

इसी प्रकार नरेश मेहता ने और एक कविता में भाषा की इस अपूर्णता के बारे में लिखा है –

"क्यों?
क्यों ऐसा होता है कि
जब मैं मौन हो जाता हूँ
तो भाषा
मेरे एकान्त में
सोलहों श्रृंगार किये
पान रचे ओठों के साथ
इलायची की सुगन्ध सी
रविशंकर की झनझनाती सितार सी
समुपस्थित हो जाती है
और उत्सव लगने लगता है,
परन्तु सार्वजनिक अवसरों पर
भाषा ऐसी असूर्यम्पश्या हो जाती है कि
माथे पर पसीना आ जाता है
कान तक लाल हो जाते हैं
पर वह
अपने निभृत के किवाड नहीं ही खोलती है
और मैं विवश
मौन हो जाता हूँ।"[1]

---

1. "अरण्या" (नरेश मेहता) – पृः 15.

कवि के लिए भाषा की पकड हमेशा संभव नहीं । कभी कभी एकान्त में बैठते समय भाषा कवि के पास अपने पूरे चमत्कार के साथ आ जाती है । जब उसकी उपस्थिति आवश्यक नहीं, वह स्वयं आ जाती है । लेकिन जब सार्वजनिक अवसरों पर भाषा की परम आवश्यकता है, तब आने में वह लजाती है । बार बार प्रयत्न करके, बेचार होकर बुलाने पर भी वह नहीं आती । यहाँ कवि संकेत करता है कि भाषा हमारी पकड के बाहर है ।

जहाँ भाषा की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक है, वहाँ भाषा रुके सामने हिचकती है और जहाँ भाषा की उपस्थिति की माँग नहीं, वहाँ वह सोलहों श्रृंगार किये आती है । अर्थात् भाषा हमारे अधीन नहीं । कविता एक आकस्मिक वरदान है जो अनिच्छापूर्वक ही आ जाती है ।

रघुवीर सहाय

"दूसरा सप्तक" के प्रतिष्ठित कवि रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में विभिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न पक्षों पर अपने निश्चित विचार प्रकट किये हैं ।

कला की साधारणता

कला पर अद्वितीयता का रंग चढाना रघुवीरजी पसंद नहीं करते हैं । कला जीवन की साधारणता से संबद्ध है -

"अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ" उसका अधिकार अद्वितीय होने का
छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार

पीडा के एक रस भी ने अवलेह में लपेट कर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं ।
कला और क्या है सिवाय इस देह मन आत्मा के
बाकी समाज है
जिनको हम जानकर समझकर
बताते हैं औरों को, वे हमें बताते हैं
वे, जो प्रत्येक दिन चक्की में पिसने से करते हैं शुरू
और सोने को जाते हैं
क्योंकि यह व्यवस्था उन्हें मार डालना नहीं चाहती
वे जिनतकलीफों को जानकर
उनका वर्णन नहीं करते हैं
वही है कला उनकी
कम-से-कम मिला है वह
और दूसरी जो है बहुत सी कला है वह
कला बदल सकती है क्या समाज ?
नहीं, जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा ।"[1]

हर आदमी, रघुवीर की नज़रों में अद्वितीय है । कलाकार तो उसके अद्वितीय होने के अधिकार को छीन लेता है और अपने को अद्वितीय कहता है । अपने विचारों को वह पीडा में लपेटकर परस देता है । यही कला कहलाता है । सचमुच कला तो जीवन से अभिन्न है । जो हम समझते हैं, वही हम दूसरों से बताते हैं । विशेष रूप से, उनकी तकलीफों के बारे में बताना जो ज़िन्दगी की कठिनाइयों में, जैसे चक्की में तडपा हो ।

---

1. "लोग भूल गये हैं" (रघुवीर सहाय) - पृ: 13-14.

राजनीति के सामने अपने कला-मूल्यों की स्वाधीनता को बचाये रखने की आन्तरिक ज़िम्मेदारी महसूस करनेवाले कवि में समकालीन तनाव पाया जा सकता है । रघुवीर सहाय की कविताओं में यह खास वक्तव्य है । -

"सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ - किसी में ढाल सहित ; किसी में निष्कवच होकर - मगर अपने को अन्त में मरने लिए अपने मोर्चे पर दूँ - अपने भाषा के, शिल्प के और उस दो - तरफा ज़िम्मेदारी के मोर्चे पर - जिसे साहित्य कहते हैं ।"[1]

कवि के लिए साहित्य में सच्चाई का रास्ता लडकर ही अपनाया जा सकता है । सत्ता के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता को बचाकर रखने के लिए कभी कभी "अपने को अन्त में अपने मोर्चे पर मरने" देना पडता है ।

रघुवीर सहाय कवि-कर्म को केवल "मूर्त्ति बनाना" और "ढहाना" मानते हैं ।

"यानीकि आप ही देखें कि जो कवि नहीं है
अपनी एक मूर्त्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ
और आप कहते हैं कि कविता की है
क्या मुझे दूसरों की तोडने की फुरसत है ?"[2]

कवि अपने को कवि कहकर गर्व नहीं करता । वह केवल मूर्ति बनाने का प्रयास करनेवाला है, अर्थात् कविता द्वारा जीवन की अनुकृति करने का प्रयास करता है । कवि के लिए दूसरों की "मूर्त्ति" तोडने की फुरसत नहीं । अर्थात् वह दूसरों को ऊपर उठाने या मार्ग दिखाने का दावा नहीं करता ।

---

1. "आत्महत्या के विरुद्ध" (रघुवीर सहाय) - पृ: 8
(वक्तव्य)

2. वही - पृ: 32

जाति-वर्गों में बँटे समाज के बीच रहकर कविता करनेवाले कवि का "आधुनिक" होने का दावा करना, रघुवीरजी की राय में निरर्थक है । -

"बनिया बनिया रहे
ब्राह्मन ब्राह्मन और कायथ कायथ रहे
पर जब कविता लिखे तो आधुनिक
हो जाये । खीसें बाद दे जब कहो तब गा दे ।"[1]

समाज के वर्ग-भेद को देखकर कुछ भी नहीं किये बिना केवल "आधुनिक" के नाम पर कविता करने से कविता में आधुनिक चेतना नहीं होती । यह कवि-कर्म का खोखलापन है ।

जीवन की विरल सच्चाइयों की खोज में कवि को नये शब्दों की तलाश करनी पडती है ।

"शब्द अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाये वहाँ - वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीज़ों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे
मुझे दे । देता रहा है जैसे छन्द केवल छन्द
घुमड घुमडकर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द दे देता हुआ"[2]

---

1. "आत्महत्या के विरुद्ध" (रघुवीर सहाय) - पृः 16.
2. वही - पृः 40.

कवि ऐसे शब्द चाहता है जो चीज़ों के आर-पार, एक स्वच्छन्द अर्थ दे । वहाँ-वहाँ होता हुआ वह लक्ष्य तक पहुँचे । मुझको तुमसे जोडनेवाला वह शब्द-कवि के लिए सार्थक शब्द है ।

कवि एक हद तक जनता के अधीन है । उसकी एक सीमा तक ही आज़ादी है । एक जगह रघुवीर सहाय लिखते हैं -

"बहुत दिन हुए तब मैं ने कहा था लिखूँगा नहीं
किसीके आदेश से
आज भी कहता हूँ
किन्तु आज पहले से कुछ और अधिक बार
बिना कहे रहता हूँ
क्योंकि आज भाषा ही मेरी एक मुश्किल नहीं रही ।
एक मेरी मुश्किल है जनता
जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग
जिसपर कि मेरा क्रोध बार बार न्योछावर होता है ।"[1]

वे उपर्युक्त पंक्तियों में एक ओर कवि के स्वाधीन व्यक्तित्व का समर्थन करते हैं । रघुवीर सहाय, दूसरी ओर यह भी सूचित करते हैं - उनकी मुश्किल भाषा नहीं । जनता है, वह जनता जो नितांत निस्संग, निष्क्रिय और नपुंसक है और जो अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाना नहीं जानती ।

कविता की रचना-प्रक्रिया और अकेलापन

रघुवीर सहाय मानते हैं कि अन्य काम करने के समान हम कविता नहीं कर सकते । कविता एकान्तता की उपज है -

---

1. "आत्महत्या के विरुद्ध" (रघुवीर सहाय) - पृ: 15

"कविता तभी होती है जब विषय से दूर और वस्तु के
निकट होती है
कविता अकेला करती है
और जब हम बहुत तरह के अन्य काम करते हैं तो
उनसे कविता में बाधा इसलिए नहीं पडती
कि वे दूसरे प्रकार के काम हैं
बल्कि इसलिए कि वे हमेशा हमें बाध्य करते हैं
कि हम दूसरों के साथ काम करें
जबकि कविता अकेले ही काम करने का तकाज़ा करती हैं ।"[1]

कविता की रचना-प्रक्रिया में अकेलेपन की ज़रूरत है । दूसरे प्रकार के काम तो हम दूसरों के साथ कर सकते हैं । लेकिन कविता तो केवल एकान्त में रची जाती है ।

नया कवि जीवन की समग्रता को अपनाना चाहता है । रघुवीर सहाय कहते हैं -

"हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
"कम से कम" वाली बात न हमसे कहिये ।"[2]

कवि अपनी कविता में जीवन के खण्ड-रूप को नहीं, बल्कि व्यापक कैनवास को लेना चाहता है ।

---

1. "लोग भूल गये हैं" (रघुवीर सहाय) - पृ: 55.
2.

मध्यकालीन कवियों ने अपने कवि-कर्म को लेकर गर्वोक्तियाँ की थीं पर आधुनिक कवि अपनी सामर्थ्य और सीमा के प्रति सजग है । वह समझता है कि वह न राजनेता है, न ही दार्शनिक । वह रचनाकार है जो अपने को तोड़कर फिर फिर बनाता है । रघुवीर सहाय लोगों से कवि की रचना के इस रवैया के बारे में बताते हैं -

"लोगो, मेरे देश के लोगो और उनके नेताओ
मैं सिर्फ एक कवि हूँ
मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता न उसके साथ
खाने के लिए ग़म
न मैं मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में
तुम्हारा संभ्रम"[1]

कवि जानता है कि वह सिर्फ एक कवि है । वह उपदेश नहीं कर सकता । वह केवल अपने अनुभवों को बाँट लेता है ।

पिछली काव्य परंपरा से वे कहाँ अलग हैं -
यह बताने के लिए रघुवीर ने कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं -

"कितना अच्छा था छायावादी
एक दुःख ले कर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुःख का कारण वह पहचान लेता था
कितना महान था गीतकार
जो दुःख के मारे अपनी जान लेता था

---

1. आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय) पृः 31 (तृतीय संस्करण 1985).

कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता"[1]

छायावादी कविता पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं कि छायावादी किसी छोटे कल्पित दुःख को लेकर एक गान रचता था । प्रगतिवादी तो हर दुःख के मूल कारण ढूँढने में उत्सुक था । वैयक्तिक गीत-परंपरा के कवि तो दुःख से तड़पते थे । कवि रघुवीर अपने को समाज में अकेला पाते हैं । क्योंकि पुराने कवि दुःख की तीव्र अनुभूति के जो गीत गाते थे, वह आज का कवि गा नहीं सकता । यहाँ व्यक्ति का महत्व मतदाता के रूप में है । उसके अलावा समाज में उसका कोई संबन्ध ही नहीं ।

रघुवीर सहाय ने "आत्महत्या के विरुद्ध" शीर्षक काव्य-संग्रह में हिन्दी भाषा के बारे में जो टिप्पणी की है वह भाषा की सहजता की आवश्यकता की ओर इशारा करती है । वे लिखते हैं -

"हमारी हिन्दी दुहाजू की बीवी है,
जो खूब गहने माँगती है,
बहुत बोलनेवाली और बहुत सोनेवाली है ।"[2]

हिन्दी भाषा तो दूसरी पत्नी के समान बहुत हठीली है जो बहुत अलंकार चाहती है, खूब बोलनेवाली और आराम चाहनेवाली है । यहाँ कवि का संकेत उस काव्य भाषा से है जिसमें अलंकरण और वक्तव्यता का अधिक मोह है ।

---

1. "आत्महत्या के विरुद्ध" (रघुवीर सहाय) - पृ: 73
2. वही - पृ: 70

प्रतीक

नये कवि कविता में अलंकारों या प्रतीकों को एक अलग तत्व के रूप में मानने की अपेक्षा उनमें अपना ही स्वरूप पाते हैं । रघुवीर सहाय इस दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं -

"प्रिय पाठक !
ये मेरे बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में
मैं हूँ मैं
कोई रूपक नहीं ।"[1]

कवि ज़ोर देकर कहता है कि कविता में आये हुए प्रतीक केवल प्रतीक नहीं, बल्कि उनके बच्चे हैं । अर्थात् उनकी आत्मा से उत्पन्न हैं और कविता में रूपक नहीं, कवि स्वयं है ।

नये कवि शब्दों से स्वच्छन्द अर्थ मिलने की इच्छा करते हैं - जैसे रघुवीर सहाय कहते हैं -

"छन्द, केवल छन्द
घुमड घुमडकर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द देता हुआ"[2]

रघुवीर सहाय का यह कथन शब्द और अर्थ के संबन्ध के संदर्भ में कहाँ तक सार्थक है, यह प्रभाकर श्रोत्रिय ने "रचना एक यातना है" नामक पुस्तक में स्पष्ट किया है -

---

1. "आत्महत्या के विरुद्ध" (रघुवीर सहाय) - पृ: 75
2. वही - पृ: 41

"शायद वह कहना चाहता है कि छन्द ऐसी अव्यक्त भाषा है जो आवर्तों, कलाओं, ध्वनियों के द्वारा शब्द की जगह लेता है और इस तरह शब्द से मुक्त होकर अर्थ देता है ।"[1]

छन्द गति के, पद-विन्यास के पर्याय हैं । उनमें पुरानी नियमितता, वर्तुलता न हीं है, लेकिन गति-विन्यास की समता, विषमता, अवरोध आदि अब भी बने हुए हैं । इसलिए छन्द से स्वच्छन्द अर्थ पाने की प्रतीक्षा करना संगत हैं ।

धर्मवीर भारती

नये कवियों ने आधुनिक मानव की संवेदना की सफल अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की है । धर्मवीर भारती ने "कनुप्रिया" के द्वारा रागात्मक अनुभूतियों की गहराइयों की ओर दृष्टिपात किया है तो "ठण्डा लोहा" "सात गीत वर्ष" आदि काव्य-संग्रहों में आधुनिक मानव की आशा-आकांक्षाओं को शब्द बद्ध किया है । इन काव्य-संग्रहों में उनकी काव्य दृष्टि का परिचय करनेवाली पंक्तियाँ भी उपलब्ध हैं ।

रचना-प्रक्रिया

"सात गीतवर्ष" की भूमिका में भारती ने रचना-प्रक्रिया के संबन्ध में समझाते हुए यह कहा है कि जीवन के अनुभवों से रचना का गहरा संबन्ध है ।

---

1. "रचना एक यातना है" (प्रभाकर श्रोत्रिय) -पृ: 116.

जीना चाहते हैं और अनस्तित्व से अस्तित्व पाने के लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपने को, और बिना संसार के हम अपने को अभिव्यक्त कैसे करेंगे, अतः हम किसी एक स्तर पर मूल्य और अर्थ देते है और हर चीज़ के माध्यम से अपने को ।

कवि के विचार में अनस्तित्व से अस्तित्व पाना ही काव्याभिव्यक्ति का उद्देश्य है । बिना संसार के हम अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे । "थके हूए कलाकार" नामक कविता में भारती ने सृजन को ज़िन्दगी में नयी सुरभि लाने को उद्दिष्ट माना है -

"सृजन की थकन भूल जा देवता !
अभी तो पडी है धरा अधबनी
अभी तो पलक में नहीं खिल सकी
नवल कल्पना की मधुर चाँदनी
अभी अधखिली ज्योत्स्ना की कली
नहीं ज़िन्दगी की सुरभि में सनी ।"[2]

कवि सृजनरत देवता से कहता है कि चाहे सृजन में पीडा हो, फिर भी उसे भूल जाना चाहिए । अभी तो सृजन का पूरा लक्ष्य - लाभ नहीं हुआ है । ज्योत्स्ना की कली तो अभी आधी ही खिली है । ज़िन्दगी की सुरभि आयी नहीं । जब तक जीवन का पूरा मंगल हो, तब तक सृजन चलता रहे ।

"बाणभट्ट" कविता में भारती ने उन प्रतिष्ठित रचनाकारों पर तीखा व्यंग्य किया है जिनके शब्द राजसत्ता, कूटनीतिज्ञों, बधिकों और नगर-सेठों के आगे बिक गये हैं -

---

1. "सात गीत वर्ष" (धर्मवीर भारती) - पृः 13.
2. "ठण्डा लोहा" - वही - पृः 53.

"सत्य है कूटज्ञों, बधिकों, नगर-सेठों, वेश्याओं के आगे
बिके हुए शब्दों की यह क्रीडा
सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
(चाहे वह जूठा हो,
पर उसपर लगा हुआ वर्कदार सोना !
हाय बाण भट्ट ! हाय
तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था !)"[1]

यह एक दुःखद सत्य है कि प्रतिष्ठित रचनाकार कभी कभी सुख-संपत्ति के पीछे भटकते हैं । न तो उन्हें काव्य-संसार के अद्वितीय सुख से कोई मतलब नहीं है, न प्रकृति से । जन-जीवन उनके लिए अर्थहीन है । उन्हें मणिजटित दुपट्टा और मुद्रामंजूषा ।

कवि ने कनुप्रिया के द्वारा शब्दों से परे अनुभूति की महत्ता घोषित की है । कनुप्रिया कृष्ण के साक्षात् अनुभव की मात्र सार्थकता मानती है -

"कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व,
शब्द, शब्द, शब्द
मेरे लिए नितान्त अर्थहीन है -
मैं इन सबके परे अपलक तुम्हें देख रही हूँ

अच्छा मेरे महान कनु
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार कर लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण

---

1. "सात गीत वर्ष" (धर्मवीर भारती) - पृः 88.

सिर्फ भावावेश थे
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे -

तो सार्थक फिर क्या कनु ?"[1]

कनुप्रिया शब्दों को अर्थहीन मानती है । शब्दों के परे वह किसी परम अनुभूति को कनु के माध्यम से उपलब्ध करने की बात कहती है । यह आध्यात्मिक स्तर पर नहीं, आधुनिक संदर्भ में कवि काव्याभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता हैं । रघुवंश के अनुसार "कनुप्रिया शब्दों से परे जिस सार्थकता की अभिव्यक्ति करती है वह प्रत्यक्ष रूप-रस-गंध-स्पर्श-श्रवण के इन्द्रिय-बोध के ऊपर है ।"[2]

नया कवि नये नये जीवन - संदर्भों में वाणी में कभी कभी अर्थ-संप्रेषण की कमी महसूस करता है । भारती ने भी अर्थ-व्याप्ति की कमी महसूस की है ।

"वाणी इतनी खोखली हुई
ज्यों बच्चों की गिल बिल गिल बिल
सब अर्थ और उत्साह छिन गया जीवन का
जैसे जीने के पीछे कोई लक्ष्य नहीं,
दिल की धड़कन भी इतनी बेमानी,
जितनी वह टिकटिक करती हुई घड़ी
जिसकी दोनों की दोनों सुइयाँ टूटी हों ।"[3]

उन्हें लगता है कि आजकल वाणी बच्चों की तुतली बोली के समान अर्थहीन हो गयी है । वाणी में जीवन का अर्थ या उत्साह नहीं । कवि को दिल की धड़कन में भी कोई अर्थ अनुभव नहीं होता ।

---

1. "कनुप्रिया" (धर्मवीर भारती) - पृ: 70.
2. "भारती का काव्य" (रघुवंश) - पृ: 43.
3. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) से उद्धृत - पृ: 183.

कभी कभी उनको कविता की क्षमता के बारे में संदेह हो उठता है । आज के युग में उन्हें कविता का मूल्य निस्सार लगता है । इसीलिए वे लिखते हैं

"मर गयी कविता
नहीं तुमने सुना ?
हाँ वही कविता
कि जिसकी आग से
सूरज बना
धरती जमी
बरसात लहराई"[1]

काव्य के संबन्ध में जो उदात्त, उज्ज्वल कल्पनाएँ थीं, वह सब भारती को झूठी लगती हैं । उनकी मान्यता है कि कविता मर गयी है । जिस कविता की आग से सूरज बना, धरती बनी, बरसात लहरायी उसीकी मृत्यु हो गयी है ।

लेकिन काव्य की व्यर्थता और जडता के बारे में हताश होनेवाला कवि-मन पुनः उत्साह के आलोक से विकसित होता है । उनका मन अगले क्षण में काव्य की क्षमता के प्रति सजग हो उठता है । इसलिए वे कह उठते हैं –

"क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज़ बाकी है
हो चुकी है हैवानियत की इन्तिहा
आदमीयत का अभी आगाज़ बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
क्या इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गयी"[2]

---

1. "ठण्डा लोहा" (धर्मवीर भारती) – पृ: 43.
2. वही – पृ: 46.

संपूर्ण दुनिया के मरघट हो चुकने पर भी कवि की आखिरी आवाज़ बाकी रहेगी । मनुष्यत्व का पूरा विनाश नहीं हुआ है । इसलिए कवि हमको एक बार भी नया विश्वास दिलाता है । कवि की मृत्यु की बात अब उन्हें झूठी प्रतीत होती है । कविता की अमरता पर कवि का विश्वास यहाँ स्पष्ट होता है ।

फिर उठेगा वह,
और बिखरे हुए सारे स्वर समेट,
पोंछ उनसे खून,
फिर बुनेगा नयी कविता का वितान
नये मनु के नये युग का जगमगाता गान !
भूख, खूँरेजी, गरीबी हो मगर
आदमी के सृजन की ताकत
इन सबों की शक्ति के ऊपर
और कविता सृजन की आवाज़ है"[1]

कवि का विश्वास है कि अभी तक बिखरे हुए स्वरों को समेटकर कविता पुनः जागृत हो उठेगी । नये युग में, नये मनु का संदेश वह लायेगी । गरीबी और यातनाओं से पीडित होने पर भी, उन सबसे परे मानव की सृजनात्मक प्रतिभा चमक उठेगी । कविता में नये सृजन की वह आवाज़ मुखरित होगी ।

और एक कविता में भी वे पहले काव्य की असफलता उद्घोषित करते हैं, पर बाद में नये उन्मेष की पद-छाप सुनते हैं -

"ठहरो ! ठहरो ! ठहरो ! हम आते हैं
हम नयी चेतना के बढते अविराम चरण !
हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें
हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन !"[2]

---

1. "ठण्डा लोहा" (धर्मवीर भारती) - पृः 45.
2. वही - पः 56.

जीवन की प्रतिकूलताओं से हताश होने की ज़रूरत नहीं । कवि नयी चेतना के साथ आगे बढाने के लिए आ गये हैं । मिट्टी की इन सन्तानों को कोई पराजित नहीं कर सकता, क्योंकि वे धरती के तीव्र अनुभवों में तपे हुए हैं । उनमें अभिशापों को दूर करने की क्षमता है । भारती का कवि आश्वस्त है कि नया रास्ता बनेगा और भविष्य के अलबले गीत मुखर होंगे ।

"हर विद्रोही कदम
नयी दुनिया की पगडंडी लिख देगा,
हर अलबेला गीत । मुखर स्वर बन जाएगा
उस भविष्य का । जो कि अंधेरों की पर्तों में
अभी मूक है ।"[1]

विद्रोह का स्वर आजकल अंधेरे में मूक पडा है । लेकिन कवि आशा करता है कि निकट भविष्य में ही ये मूक स्वर मुखरित हो उठेंगे । विद्रोही कदम नया रास्ता बना देगा ।

"दूसरा सप्तक" में भारती ने "कवि और कल्पना" शीर्षक कविता में कल्पना को विकास की नयी नयी किरणों को पहचानने की प्रेरणा दी है

"कल्पने निराशिनी
मगर सुनो नवीन स्वर
सुनो - सुनो नवीन स्वर
विशाल वक्ष ठोंक कर
सुदूर भूमि से तुम्हें जवान कवि पुकारता
लौट बन्धन तोड कर
बेडियाँ झँझोडकर

---

1. "ठण्डा लोहा" (धर्मवीर भारती) - पृ: 52.

नवीन राष्ट्र की नवीन कल्पना सँवारता
स्वतंत्र क्रान्ति ज्वाल में निडर बनो सुकेशिनी
विनाश की सजीव नग्नता ढँको सुकेशिनी
विनाश से डरो नहीं
विकास से डरो नहीं
सृष्टि के लिए बनो प्रथम विनाश स्वामिनी -
कल्पने विलासिनी !"[1]

आजकल कल्पना निराशा के अंधकार में डूबी हुई जडता से आक्रान्त हो गयी है । कवि उसे नवीन स्वर से जगा देता है । क्रान्ति की भूमि में कवि आज जवान के रूप में संपूर्ण बन्धनों से लडता है । कल्पना को भी बंधन की बेडियाँ तोडकर धीरज के साथ उसका साथ देना है । यही विकास का पथ है । भारती ने अपनी कविता में कहीं कहीं विराट् सत्य की खोज करने की आकुलता प्रकट की है -

"मैं और कला -
इनकी कुछ भी अहमियत नहीं ।
इन दोनों से ज़्यादा विराट्
कोई तीसरा सत्य है
जिसको आत्मसात् कर पाने को
मेरी आत्मा
धीरे धीरे
जीवन की यज्ञ-शिखाओं में पकती जाती ।"[2]

---

1. "दूसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 171.
2. "ठण्डा लोहा" - (धर्मवीर भारती) - पृ: 89.

कवि अपने अहं को विराट् सत्य में विलीन करना चाहता है । अहं और कला इन दोनों सत्यों से परे वह तीसरा सत्य है । उसे पाने के लिए जीवन की यज्ञ ज्वाला में तपकर निखर उठना चाहिए । कवि की आत्मा इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आकुल हो उठता है ।

भारती ने अपने ही शिल्प के बारे में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं -

"हैं मेरे पास सजल मोती-सी उपमायें
ताज़े वनफूलों-सी बेदाग नयी वाणी
मेरे बस एक इशारे पर । हर-एक छन्द
पावस के मोर सरीखा नाच उठा करता ।"[1]

कवि अपनी उपमाओं में मोती के समान सजल सौन्दर्य पाता है । अपनी वाणी को वे ताज़े वनफूलों के उन्मेष से युक्त मानते हैं । पावस के मोर के समान कवि के एक इशारे पर उसका हर एक छन्द नाच उठता है । कवि को अपनी अभिव्यक्ति - कुशलता पर पूरा भरोसा है, ऐसा प्रतीत होता है ।

सर्वेश्वर दया सक्सेना

"तीसरा सप्तक" के कवियों में श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता काव्य-कथ्य तथा शिल्प की सहजता और सपाटता के विषय में विशेष ध्यान आकर्षित करती है । आम आदमी की आम ज़िन्दगी की दैनिक, सरल अनुभूतियों को वाणी देना, उनके अनुसार नये कवि का प्रथम और प्रधान कर्तव्य है । सर्वेश्वर के "काठ की घंटियाँ", "गर्म हवाएँ", "एक सूनी नाव", "खूँटियों पर टँगे लोग"

---

1. "ठण्डा लोहा" (धर्मवीर भारती) - पृ: 55.

"क्या कहकर पुकारूँ" आदि काव्य संग्रहों में साधारण जीवन-संबन्धों की सादगी मिलती है । इन रचनाओं में उन्होंने कविता की अभिव्यक्ति तथा अनुभूति से संबन्धित कई महत्वपूर्ण बातों की चर्चा की है जिनमें नयी कविता की आन्तरिक चेतना की पहचान होती है ।

सर्वेश्वर ने शब्द के बारे में अपनी कुछ कविताओं में चिन्तन किया है –

"शब्द पडने लगे छोटे
दर्द बढने लगा
कहे भी थे जो सभी हो गये अनकहे"[1]

कभी कभी "शब्द छोटे पडने लगते" हैं । अनुभूति की तीव्रता में शब्द लघुत्व पाते हैं । बहुत कुछ तो कहा जाता है । लेकिन अनकहा ही लगता है । शब्द अनुभूति की गंभीरता व्यक्त करने में असमर्थ हो जाते हैं । "एक सूनी नाव" में कवि शब्दों की जडता देखकर इतना हताश हो उठता है कि शब्द उन्हें "मृत" प्रतीत होते हैं

"शब्द जिन्हें मैं बुनता हूँ
मर चुके हैं,
शब्द जिन्हें मैं सुनता हूँ
मर चुके हैं,
संबन्ध जिन्हें मैं जीता हूँ
मर चुके हैं ।"[2]

---

1. "क्या कह कर पुकारूँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) पृ:83.
2. "एक सूनी नाव" – वही – पृ: 38.

कवि को लगता है कि शब्द मर चुके हैं । जिन संबन्धों को कवि जीता है, वे भी मर चुके हैं । क्योंकि कवि को अनुभव होता है कि शब्दों में जीवन की गतिमयता और जीवन्तता भरने की शक्ति कम है । ऐसा लगता है कि कवि के बुने-सुने शब्दों के मरने के कारण कवि अब नये शब्दों की तलाश की ज़रूरत महसूस करता है ।

नयी कविता संपूर्ण जीवन की कविता है । पुरानी कविता के समान वह महिमाशाली अंशों तक अपने को सीमित नहीं रखती । "लिपटा रजाई में" शीर्षक कविता में सर्वेश्वर ने यह विचार स्थापित किया है । कविता और जीवन के द्वैत की व्यंग्यपूर्ण चर्चा करके कवि ने तत्वतः उनके अद्वैत को उभारा है । -

"लिपटा रजाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी,
ठंडक से अकडी उंगलियों से कलम पकड
मैं ने इस जीवन की गली गली नापी ;

हाथ कुछ लगा नहीं,
कोई भाव कम्बख्त जगा नहीं ।"[1]

कवि व्यंग्य करते हैं कि "रजाई में लिपटकर" ही उन्होंने जीवन की गली गली नापी । उससे ही स्पष्ट है कि उन दोनों का अलगाव कितना है । कवि की राय में, रजाई में लिपटकर, मोटे तकिये पर कविता की कापी रखते हुए, कृत्रिम रूप से भावों को जगाने का श्रम करते हुए जीवन की कविता लिखी नहीं जा सकती । कविता जीवन के वास्तविक अनुभवों से प्रेरित होने पर ही मार्मिक हो सकती है । कविता लिखने के लिए जीवन जीना चाहिए । जीवनानुभवों से उद्भूत कविता ही सच्ची कविता है ।

---

1. "काठ की घण्टियाँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 328.

"मैं ने कब कहा" शीर्षक कविता में भी उन्होंने लोक-संपृक्ति के तत्व को समझाया है -

"मैं नया कवि हूँ -
इसीसे जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है ;
मैं नया कवि हूँ -
इसीसे मानता हूँ
पलभर के तले ही दृष्टि बहरी होती है,
इसीसे सच्ची चोटें बाँटता हूँ -
झूठी मुसकानें नहीं बेचता ।"[1]

कवि सूचित करता है कि नया कवि जानता है कि सत्य की चोट गहरी है । तभी उन सच्ची चोटों को कविता के द्वारा बाँटना चाहता है । यही नये कवि कर्म का एक मुख्य दायित्व है ।

नयी कविता ने "झूठी मुसकानों" की ओर न देखकर "सच्ची चोटें" अंकित कीं । इसलिए "झूठी मुसकानों" के बाज़ार में उसको तीखा विरोध सहना पडा । वह सहज भावुकता और रसमयता की काव्य-परंपरा को छोडकर यथार्थ पर आधारित नयी मानसिकता ले चली । सर्वेश्वर लिखते हैं -

"तो मैंने अपना कवि -धर्म पूरा किया:
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो ।"[2]

नया कवि "मर्म सहलाना" अर्थात् रसमय काव्य लिखना नहीं चाहता । वह मर्म "कुरेदता" है, अर्थात् वह "सच्ची चोटों" के बारे में कहकर मन को कुरेदता है ।

---

1. "तीसरा सप्तक" - (सं) अज्ञेय - से उद्धृत - पृ: 218-219.
2. "काठ की घटियाँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 426

रामस्वरूप चतुर्वेदी सर्वेश्वर के इस कथन की व्याख्या यों करते हैं - "इतिहास और संस्कृति की परतों में औसत भारतीय जीवन भी आज कितना पाखण्डी हो गया है, इसको कवि निर्ममतापूर्वक उभार देना चाहता है ।"[1]

अभिजात वर्ग की भाषा को छोडकर सर्वेश्वर ने आम आदमी की, भीड की सहज, सीधी भाषा की अनिवार्यता स्वीकार की है -

"एक गलत भाषा में
गलत बयान देने से
मर जाना बेहतर है
यही हमारी टेक है

आभिजात्य तोडता हूँ
जो भी शब्द आता है जबान पर
कहने में नहीं डरता हूँ !"[2]

कवि भाषा में आभिजात्य के स्थान पर साधारणता भरना चाहता है । भाषा के प्रतीकों का गलत प्रयोग करने के द्वारा भाषा में आभिजात्य लाने की इच्छा करना पूर्ण। । जबान पर जो भी शब्द सहज रूप से आता है, उसीका त्यों ही प्रयोग वे करते हैं ।

"तीसरा सप्तक" में अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा है कि भाषा की यह सरलता और बोधगम्यता जीवन की साधारण से साधारण और सहज से सहज स्थिति को काव्य वस्तु के रूप में स्वीकार कर लेने के कारण संभव हो सकी है और इन स्थितियों को

---

1. "नयी कविताएँ एक साक्ष्य" - रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ: 20.
2. "गर्म हवाएँ" -सर्वेश्वर दयाल सक्सेना} - पृ: 28-30.

काव्यानुभव के स्तर पर उठा देने के कारण इस भाषा में व्यंजना तथा संप्रेषण की नयी शक्ति आ गयी है । जैसे उनके शब्दों में "अभी तो मेरी पूँजी एक व्यापक संवेदना और अधूरी आक्रोश है जो मेरे अन्तर की सतह को छील जाता है और इसकी अभिव्यक्ति साधारण बोलचाल की भाषा से हो जाती है ।"[1]

रचना में क्या कहा जाता है, वह महत्वपूर्ण है क्या कहा नहीं जाता है, वह भी महत्वपूर्ण है । भाषा अभिव्यक्ति में है तो उससे कहीं ज़्यादा अनुभव में है । सर्वेश्वर ने इस अनुभव की भाषा का संकेत किया है -

"वह पीडा है जो हमको, तुमको, सबको अपनाती है,
सच्चाई है अनजानों का भी हाथ पकड चलना सिखलाती है,
वह यति है - हर गति को नया जन्म देती है,
आस्था है - रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन का सामर्थ है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है,
तुम उसको मत वाणी देना ।"[2]

हमको, तुमको अपनानेवाली पीडा, अनजानों का भी हाथ पकडनेवाली सच्चाई आस्था इन सबको केवल अनुभव में ही रहने देना उचित है । उसको वाणी देनी नहीं चाहिए । क्योंकि कहने के विस्तार में वे निरर्थक हो जाते हैं । पर न कहने पर समूचे जीवन को झंकृत करते रहते हैं । अनकहा रह जाना भी एक मार्मिक अनुभव है । आगे की पंक्तियों में भी लगभग यही विचार अभिव्यक्त है ।

"सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है,
तुम उसको मत वाणी देना ।"[3]

---

1. "तीसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) से उद्धृत - पृ: 211.
2. "काठ की घंटियाँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 423.
3. "वही - पृ: 423.

आज एक ओर भाषा और अनुभव का विस्तार हुआ है, तो दूसरी ओर शब्द और अनुभूति के क्षण का खतरा पनपा है । सबकुछ कहने के बाद भी कवि को लगता है कि और भी कहने के लिए बहुत कुछ है । इस संदर्भ में मौन ही उत्तम है ।

कवि-कर्म के बारे में गहरा विश्वास रखनेवाले सर्वेश्वर ने उसको नये आलोक का नया आनेता माना है -

"अन्तराल है वह
नया सूर्य उगा लेती है
नये लोक, नयी दृष्टि, नये स्वप्न देती है
वह मेरी कृति है
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ
तुम उसको मत वाणी देना ।"[1]

यह सच है कि कृति जीवन में नया लोक, नयी दृष्टि, नये स्वप्न भर देती है । कवि स्वयं अपने को उसकी अनुकृति मानता है । इसे वाणी में बद्ध करना असंभव है ।

सर्वेश्वर की राय में कला कलाकार से बढ जाती है - इसलिए वे लिखते हैं -

"वह मेरी कृति है ।
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ ।"[2]

कला तो कलाकार की कृति है । लेकिन कलाकार कभी कभी उसकी अनुकृति बन जाता है । कभी कभी कला कलाकार की चेतना को निर्मित करती है ।

---

1. "सर्वेश्वर कविताएँ -। - "काठ की घण्टियाँ" - सर्वेश्वर - पृ: 184.
2. "काठ की घंटियाँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 424.

युग की सच्चाइयों का संप्रेषण करते वक्त भी कवि ज़िन्दगी और कविता के बीच की दूरी से अवगत है ।

"कविता नहीं है कोई नारा
जिसे चुपचाप इस शहर की
सडकों पर लिखकर घोषित कर दूँ
कि "क्रान्ति हो गयी"
नहीं बचपना
कि किसी चिडिया पर रंग फेंककर
चिल्लाने लगूँ
अब वह मेरी है
मुझे एक चक्कू दो
मैं अपनी रगें काटकर दिखा सकता हूँ
कविता कहाँ है ।"[1]

कविता और जीवन के अभिन्न संबन्ध के नाम पर कविता को केवल सस्ते प्रचार का माध्यम बनाना, सर्वेश्वर की राय में, बहुत असंगत है । क्रान्ति के बारे में चिल्लाते हुए सडकों पर लिखे जाने से कविता सफल नहीं होती । वास्तव में कविता कवि के रक्त में घुल-मिल गयी है । यहाँ कवि अपना दृढ मत प्रकट करता है कि कविता अनुभव की उपज है, वह प्रचार की वस्तु नहीं ।

सर्वेश्वर ने बहुत ही सीधे ढंग से कहा है कि रचना ज़िन्दगी की खोज का ही दूसरा नाम है । वे कहते हैं -

---

1. "कुआनो नदी" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 89-90.

"संभावनाएँ निरन्तर हैं
ज़िन्दगी की खोज, जो रचना है,
रचना - जो सार्थक करती है,
महत्वाकांक्षा नहीं
जो दूसरों को छोटा करने से ही पनपती है ।"[1]

सर्वेश्वर ज़िन्दगी में कुछ भी होने की संभावनाएँ देखते हैं । इनके बीच रचना असली ज़िन्दगी की खोज करती है । नये कवि का सौन्दर्य-बोध वर्तमान युग के अनुकूल इतना घुल-मिल गया है कि वह बाह्य सज्जा का विरोधी है । सर्वेश्वर ने अपनी एक कविता में यों लिखा है -

"आज की दुनिया में
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती है
बिना आकर्षण के दूकानें टूट जाती हैं
शायद कल उनकी समाधियाँ बनेंगी
जो मरने के पूर्व
कफन और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे
ओछी है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ
महज उसका
सौन्दर्य - बोध बढ गया है ।"[2]

---

1. "जंगल का दर्द" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 87.
2. "काठ की घण्टियाँ" - वही - पृ: 410.

आजकल लोग विवशता, मृत्यु, भूख आदि सभी संदर्भों में आन्तरिक भाव की अपेक्षा बाह्य आकर्षण पर ध्यान देते हैं । ऊपरी आकर्षण से सौन्दर्य - बोध बढता नहीं घटता ही है । कवि सौन्दर्य को सूक्ष्म और यथार्थ दृष्टि से देखना चाहता है ।

आज का कवि शब्दों से खिलवाड करके, भाषा की कुशलता दिखा नहीं सकता । यंत्रयुग के संत्रस्त मानव के रूप में उसे प्रतिपल संघर्षों से गुजरना है । सर्वेश्वर इसलिए शब्दों को अंगारों के रूप में बदला देना चाहते हैं -

"शब्द जिन्हें मैं बर्फ की सिल्लियों पर भी
अकेली चींटी-सा चला ले जाता था
अब अंगारों से धधक रहे हैं ।
उनसे मैं खेल नहीं सकता
वे युद्ध भूमि में बदल गये हैं ।"[1]

जो शब्द अकेली चींटी-सा मंद गति में चलता था वही अब अंगारों के रूप में धधकने लगा है । परिवेश ने शब्दों की ज्वाला लगायी है । उन्हें अब जीवन की विडंबनाओं के प्रति विद्रोह करने के लिए शक्ति का संचय करना चाहिए ।

राजनीतिक संस्थाओं, व्यापारिक ठिकानों और विभिन्न स्वार्थों के द्वारा भाषा का प्रदूषण आज के कवि की एक मुख्य समस्या है । कवि कहता है कि इस प्रदूषण के कारण भाषा का स्वीकृत और मौलिक अर्थ उससे छीन लिया गया है । इसलिए भाषा में निष्कपटता नहीं मिलती -

"और अब छीनने आये हैं वे
हमसे हमारी भाषा
यानी हमसे हमारा रूप
जो भाषा ने गढा है

---

1. "जंगल का दर्द" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 16-17.

और जो जंगल में इतना विकृत हो चुका है
कि जल्दी पहचान में नहीं आता ।"[1]

व्यावसायिक दृष्टिकोण ने काव्य भाषा पर भी गहरा प्रभाव डाला है । भाषा से गढा हुआ, काव्य का स्वरूप भी इसलिए इतना विकृत हो चुका है कि वह जल्दी पहचाना नहीं जा सकता ।

प्रत्येक नया कवि संप्रेषण की समस्या का सामना करता है । सर्वेश्वर ने अभिव्यक्ति के संकट के विषय में यों कहा है -

"शब्दों की खोज शुरू होते ही
हर एक दूसरे को खोने लगते हैं
और उनके पकड में आते ही
एक-दूसरे के हाथों से
मछली की तरह फिसल जाते हैं ।"[2]

शब्दों की खोज शुरू होते ही वे खो जाते हैं । कभी कभी तो वे पकड में आते हैं । लेकिन तुरन्त ही हमारे हाथों से मछली की तरह फिसल जाते हैं । अर्थात् शब्दों के द्वारा अनुभूतियों का ठीक संप्रेषण हमारी पहुँच के बाहर है ।

केदारनाथ सिंह

श्री केदारनाथ सिंह नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों में है । भाषा और भाव के सूक्ष्म पक्षों पर उन्होंने अपने मत प्रकट किये हैं ।

---

1. "गर्म हवाएँ" (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) - पृ: 29.
2. "क्या कह कर पुकारूँ" - वही - पृ: 91.

काव्य का उद्देश्य

अन्य आधुनिक कवियों के समान केदारनाथ सिंह कविता में मुक्ति के पक्ष पर बल देते हैं । उनके लिए, कवि कविता लिखकर मुक्त हो जाता है - "मुक्ति" शीर्षक कविता में उनकी यह राय प्रकट होती है ।

"मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिला
मैं लिखने बैठ गया हूँ
मैं लिखना चाहता हूँ पेड
यह जानते हुए कि लिखना पेड हो जाना है

यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा
मैं लिखना चाहता हूँ ।"[1]

कवि लिखना चाहता है । क्योंकि लिखते समय उसे मुक्त होने का अनुभव प्राप्त होता है । कवि कहता है कि आज की निष्ठुर स्थितियों का सामना करनेवाली सामान्य जनता की मुक्ति के लिए कवि कविता करता है । वह जानता है कि चुप रहने से कोई फायदा नहीं ।

काव्य क्या है

कभी कभी वे कविता को इतना स्वाभाविक मानते हैं कि उसकी कोई भी परिभाषा वे नहीं दे सकते । उनकी एक कविता है - "कविता क्या है" ।

---

1. "ज़मीन पक रही है" - (केदारनाथ सिंह) - पृ: 66.

"कविता क्या है
हाथ की तरफ
उठा हुआ हाथ
देह की तरफ
झुकी हुई आत्मा
मृत्यु की तरफ
घूरती हुई आँखें
क्या है कविता
कोई हमला
हमले के बाद पैरों को खोजते
लहूलुहान जूते
नायक की चुप्पी
विदूषक की चीख
बालों के गिरने पर
नाई की चिन्ता
एक पत्ती के टूटने पर
राष्ट्र का शोक
आखिर क्या है
क्या है कविता
मैं ने जब भी सोचा
मुझे रामचन्द्र शुक्ल की मूँछें याद आयीं
मूँछों में दबी बारीक-सी हँसी
हँसी के पीछे कविता का राज़
कविता के राज पर
हँसती हुई मूँछें ।"[1]

---

1. "यहाँ से देखो" (केदारनाथ सिंह) - पृ: 9.

कविता क्या है यह बताना संभव नहीं है । कविता की परिभाषा हमेशा अधूरी रह जाती है । कविता यह सब है । वह अकथनीय है । कहने की नहीं, अनुभव करने की चीज़ है ।

केदारनाथ सिंह कविता को एक सादा पन्ना मानते हैं ।

"सादा पन्ने पर
सुबह होती है न शाम
हमेशा एक आधी रात का सूरज
गोलार्ध के दूसरी तरफ चमकता रहता है
सादा पन्ने पर
गौर से देखो
वहाँ दो भूरी आँखें चमक रही हैं ।
एक खूबसूरत बाघ के बालों की लहक
फैली है तुम्हारी मेज पर
हाथ बढाओ
और उन हिंस्र बालों में अपनी अंगुलियाँ फिराओ
यहाँ भय की कोई बात नहीं
तुम्हारी त्वचा की तरह गर्म
और कोमल होता है सादा पन्ना
तुम्हारे प्रेम की तरह आदिम
तुम्हारी नफरत की तरह मुक्त
तुम्हारे नाखूनों की तरह सभ्य
तुम्हारे खून की तरह नमकीन
उसे छुओ

तुम लगेगा अपनी गर्दन के पास की
कोई नस छू रहे हो
कविता यही करती है
यही सीधा मगर जोखिम भरा काम
कि सारे शब्दों के बाद भी
आदमी के पास हमेशा बचा रहे
एक सादा पन्ना ।"[1]

बाह्य दृष्टि से कविता का कार्य सीधा-सादा है । लेकिन उसका काम जोखिम भरा है । इतने शब्दों की योजना के बाद भी उसका महत्व पाना नहीं जाना, वह केवल एक सादा पन्ना ही रह जाता है ।

केदारनाथ ऐसी कविता लिखना चाहते हैं जो आदमी पर आधारित है ।

"आदमी" - "आदमी" - मैं लिखना चाहता हूँ

मैं भरी सडक पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका
जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है ।"[2]

कवि केदारनाथ आदमी और शब्द की टक्कर से उत्पन्न धमाका सुनने की इच्छा रखते हैं । उनकी दृष्टि में यह धमाका "भरी सडक" से संबन्धित है अर्थात् आम आदमी के सामाजिक जीवन से कविता का संबन्ध देखते हैं ।

कविता में कवि अपने आत्म जलन की अभिव्यक्ति करता है -

---

1. "ज़मीन पक रही है" (केदारनाथ सिंह) - पृ: 94-95
2. वही - पृ: 66.

"मैं भी रचना-रत हूँ
झुका हुआ घंटों से
इस कोरे कागज़ की भट्ठी पर
लगातार"[1]

जिस प्रकार ईंट भट्ठी में जलता है उसी प्रकार कवि भी अपनी रचना में, कमी-विसंगतियों के विरुद्ध जल उठता है ।

"आप विश्वास करें
मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ ।"[2]

कवि अपनी रचना में केवल आम आदमी को संघर्ष रत होने की प्रेरणा देता है । विद्रोह की आग की ओर उन्हें जागृत करना ही उसका लक्ष्य है ।

केदारनाथ सिंह कभी कभी अनुभूतियों को संप्रेषण के परे मानते हैं

"जब हम बोलते हैं
बात होंठों पर तनिक निश्शब्द रखकर तोलते हैं
न जाने कैसे कहाँ से
वह हमारे शब्द लेकर
हमें छूँछा अर्थ देकर
हमारी ही मुट्ठियों से
एक जीवित सोनचिड़िया - सी
फुदकती भाग जाती है ।"[3]

---

1. "अभी बिलकुल अभी" (केदारनाथ सिंह) - पृ: 35.
2. "ज़मीन पक रही है" - वही - पृ: 24.
3. "अभी बिलकुल अभी" - वही - पृ: 59.

यहाँ कवि संप्रेषण की असफल स्थिति का बडे सूक्ष्म रूप से चित्रण करता है । बात हमारे शब्द लेती है । लेकिन वह एक सोन-चिडिया के समान हमारी मुट्ठियों से निकल जाती है ।

मोह-भग की स्थिति में कवि कभी कभी अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाता -

"भाषा में जो बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में
सटी हुई है ।"[1]

कभी कभी वे कुछ कहना चाहते हैं, लेकिन वह बात मुँह के अन्दर ही रह जाती है ।

आजकल शब्दों में जो अर्थ-च्युति हो गयी है उसके बारे में केदारनाथ ने विचार किया है । बडे व्यंग्य रूप से अर्थ-ह्रास को वे यों स्पष्ट करते हैं -

"तुमने जहाँ लिखा है "प्यार"
वहाँ लिख दो सडक
फर्क नहीं पडता ।"[2]

"प्यार" तो व्यक्ति की आन्तरिक दुनिया का सार तत्व है, "सडक" तो स्थूल है । लेकिन आजकल "प्यार" की अर्थवत्ता, गहनता और सडक की स्थूलता में कोई अन्तर नहीं देखा जाता है । मानव-मन इतना जड हो गया है कि वह शब्दों के भाव-केन्द्र तक नहीं जा सकता ।

---

1. "ज़मीन पक रही है" (केदारनाथ सिंह) - पृ: 49.
2. वही - पृ: 46.

कवि मृत शब्दों में नयी अर्थवत्ता के प्राण देकर उसे समूह में स्वतंत्र और सार्थक सत्ता का अधिकारी बना देता है । कवि के इस महत्वपूर्ण कार्य के बारे में वे लिखते हैं -

"मैं ज़रा दूर था
मैं ने भी देखा पर मैं जहाँ खडा था वहाँ से
वे सारे लोग और वह पूरी सडक और
एक समूचा आकास
सभी कुछ मिलकर एक शब्द बन गया था
एक मरा हुआ शब्द-चन्द्रोदय
मैं ने उसीको लिया
और पूरे उस दृश्य के विरुद्ध रख दिया ।"[1]

कवि दूर से समाज को देखता है । लेकिन सारे लोग, समाज और आकाश उसके अनुभव-पट में समा जाते हैं । ज़िन्दगी का सार-तत्व कवि के शब्दों में अवतरित होता है, इसीसे वह जीवन की जडताओं के विरुद्ध संघर्ष करता है ।

भाषा

आजकल नये कवि भाषा का सरलीकरण करते हैं । इसके बारे में कवि केदारनाथ कहते हैं कि वे भाषा का निर्माण नहीं, इस्तेमाल करते हैं । "ठीक उसी तरह, जैसे वह अपने मोजे या तौलिये का इस्तेमाल करता है ।"[2]

जिस प्रकार आदमी रोज़ की ज़िन्दगी में मोजे-तौलिए जैसे साधारण-सी चीज़ों का इस्तेमाल करता है उसी प्रकार एक साधारण चीज़ के रूप में भाषा भी नीचे गिर गयी है । उसमें नवीनता का अभाव है ।

---

1. "तीसरा सप्तक" (सं अज्ञेय) परिचय केदारनाथ सिंह - पृ: 113.
2. आलोचना - जनवरी/मार्च 1968 - पृ: 6.

कुंवर नारायण

नये कवियों में कवि कुंवर नारायण का नाम काफी प्रसिद्ध है । "आत्मजयी", "चक्रव्यूह", "परिवेश हम तुम" जैसी काव्य-कृतियों में कुंवर नारायण ने काव्य, सौन्दर्य और कला के बारे में अपने विचार को वाणी दी है । उनके काव्य परक विचारों का परिचय उनकी कतिपय कविताओं में मिलता है ।

नये कवि का सौन्दर्य बोध सूक्ष्मतम अनुभूतियों की गहनता लिए हुए है । कुंवर नारायण के "आत्मजयी" में सौन्दर्य के प्रति प्रसंग वश यह संकेत मिलता है

"एक अद्भुत प्रेरणा - सी
सूक्ष्मतम अनुभूतियों में डोलती है,
राग के गन्धर्व
रस के दूत
हाहाकार में भी सुरक्षित,
संवेदना सौन्दर्य के प्रति खोलती है ।"[1]

सौन्दर्य संवेदना का द्वार खोलता है जो राग-रसों में ही नहीं, हाहाकार में भी सुरक्षित है । वह सूक्ष्मतम अनुभूतियों में डोलनेवाली एक अद्भुत प्रेरणा है ।

कवि को आश्चर्य होता है कि आजकल की सभ्यता में सौन्दर्य का कितना परिवर्तित रूप मिलता है । सब कहीं सौन्दर्य के नाम पर कृत्रिमता ही मिलती है -

---

1. "आत्मजयी" (कुंवर नारायण) - पृ: 102.

"साक्षी हैं
फूलदानों में सिसकते चन्द धुँधले फूल,
कुंठित सभ्यता के किसी तोषक अर्थ में
वनजात है सौन्दर्य की भाषा !
उसे स्वच्छन्द रहने दो ।"[1]

आजकल की सभ्यता इतनी कुंठित हो गयी है कि सौन्दर्य की भाषा वनजात हो गयी है । वह केवल फूलदानों के फूलों के समान बाह्य, क्षणिक सत्ता रखता है । इस प्रवृत्ति को स्वच्छन्द रूप से चलने देना ही उचित है ।

कविता संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रकाशित करने में सक्षम रहती है । वह केवल शब्दों का जाल नहीं । कुंवर नारायण कहते हैं -

"बाकी कविता
शब्दों से नहीं लिखी जाती
पूरे अस्तित्व को खींचकर एक विराम की तरह
कहीं भी छोड दी जाती है ।"[2]

जो कविता शब्दों से लिखी जाती है, वह जीवन की समग्रता का आभास नहीं देती । शब्दों को अधिक महत्व देनेवाली रचना सच्ची कविता नहीं हो सकती । कवि के पूरे अस्तित्व का निचोड जिस रचना में उपलब्ध है, वही मार्मिक कविता है । जैसे वे "परिवेश हम तुम" शीर्षक काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखते हैं -

---

1. "परिवेश हम तुम" (कुंवर नारायण) - पृ: 18.
2. "अपने सामने" - वही - पृ: 44.

मेरा विश्वास है कि बाहरी जीवन की खोज से पहले आन्तरिक जीवन की खोज आवश्यक है । कवि के आन्तरिक जीवन की विशिष्टता ही है जो अपने युग को, कोई विशेष अर्थ देकर, नये की तरह अपनी कला में प्राप्त करती है । कवि की वैयक्तिकता वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा जीवन कला में परिणत होता है । इसीलिए कला जीवन का अनुकरण नहीं, जीवन का मर्म है ।"[1]

उनके अनुसार, केवल जीवन का अनुकरण करने के बदले कविता के द्वारा जीवन के मर्म को, उसकी आन्तरिक चेतना को पहचान लेने में काव्य की सफलता निर्भर है ।

"कवि विरचित
सारस्वत शब्दलोक
गलकर आलोक वस्तु
ढलकर संसार बने ।"[2]

कवि से निर्मित सारस्वत शब्द लोक पिघलकर प्रकाश बनकर नूतन संसार की रचना करने में सक्षम हो जाता है ।

लेकिन वे जीवन की कृत्रिमता भी स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं

"उजडे घर के हिस्से
इधर - उधर फेंके-से
अर्थव्यथित, युग पीडित बहिष्कृत
कृत्रिमता परित्याग
भिक्षु-शब्द भटके रहे द्वार द्वार:

---

1. "परिवेश हम तुम" (कुंवर नारायण) - पृ: 6.
2. वही - पृ: 13.

भिक्षा दो कृपादृष्टि
यूं ही स्वीकार करो सुहृद जनो
यह वाणी
ज्ञानी, अभिमानी, एकाकी, मन की पुकार "[1]

कवि वाणी में कृत्रिमता का परित्याग चाहता है । इसीसे सहज अभिव्यक्ति की उत्कटता भी मिलती है । कवि की वाणी ज्ञानी, अभिमानी, एकाकी मन की पुकार है ।

कुंवर नारायण मानते हैं कि आज के कवि के लिए भाषा एक बाधा बन गयी है -

"एक असन्तुष्ट चेतना है जो आवेश में
पागलों की तरह
भाषा को वस्तु मान तोड-फोड कर
अपने एकान्त में बिखरा लेती है
और फिर किसी सिसकते बालक की तरह कातर हो
भाषा के उन्हीं टुकडों को पुनः
अपने स्खलित मन में समेटती, संजोती है
और जीवन को किसी नये अर्थ में प्रतिष्ठित करती है ।"[2]

इस कविता के आरंभ में कवि कहता है कि वस्तु और वस्तु के बीच भाषा अलगाव पैदा करती है । किसी वस्तु के समान एकान्त में भाषा को तोड फोडकर बिखेर देना और फिर भाषा के उन्हीं टुकडों को पुनः अपने स्खलित मन

---

1. "परिवेश हम तुम" (कुंवर नारायण) - पृः 13.
2. "चक्रव्यूह" - वही - पृः 1.

में संजोना तथा जीवन को किसी नये अर्थ में प्रतिष्ठित करना - इन सबके पीछे कवि एक असन्तुष्ट चेतना का व्यापार देखता है ।

इस युग में कवि कविता में चमत्कार को युगानुकूल नहीं मानता है -

"छन्द - लय - अलंकार
इतना अवकाश कहाँ[1]
वैसी समृद्धि कहाँ जीवन में[1]"

आज के युग की सत्वरता में मानव-जीवन इतना व्यस्त और बेचैन हो गया है कि छन्द-लय या अलंकार के सौन्दर्य पर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता । छन्द और अलंकार की सजावट पर ध्यान देने के उपयुक्त समृद्धि और आराम आज के जीवन में नहीं है ।

अन्य काव्य चिन्तक कवि

नेमीचन्द्र जैन

कविता और कवि-व्यक्तित्व

कविता का आधार, नेमीचन्द्रजी के अनुसार, कवि के व्यक्तित्व पर आश्रित है । "तारसप्तक" के वक्तव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता उन्होंने व्यक्त की है -

"कला का अंतिम मोल-तोल कलाकार के व्यक्तित्व के सहारे ही किया जा सकता है । इसलिए कवि के भावना-जगत् की अनेकानेक विविधताओं में से एकसूत्रता यदि संभव हो तो पाठक के लिए सुलभ कर सकना ही इस वक्तव्य की सार्थकता हो सकती है ।"[2]

---

1. "परिवेश हम तुम" (कुंवर नारायण) - पृ: 13.
2. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 49.

नेमीचन्द्र जैन मानते हैं कि कलाकार के व्यक्तित्व के सहारे ही कला का मूल्य-निर्णय संभव हो सकता है । इसलिए पाठक के लिए कवि के भावना-जगत् की विविधताओं की पहचान कवि की सहायता से ही होती है ।

कविता और जीवन

नेमीचन्द्रजी के लिए कविता जीवन से पलायन के लिए नहीं, बल्कि जीवन में घुसने के लिए है । कवि के लिए मानवता कविता का मूलमंत्र है । "तारसप्तक" में उनके वक्तव्य में यह स्पष्ट होता है -

"बिना सचेष्ट नागरिक, वास्तवदर्शी हुए कवि अधिक काल तक कवि नहीं रह सकता । राजनैतिक, सामाजिक शक्तियाँ, वह चाहे या न चाहे उसे आकर बहा ले जायेंगी । किन्तु यदि वह विवेकपूर्वक वास्तव का सामना करता है तो वह अपने काव्य को न केवल सच्चा बना सकेगा बल्कि उसे मानवता की मुक्ति के लिए एक बडा भारी अस्त्र बना सकेगा, क्योंकि स्वभाव से ही कला मानव-मुक्ति का आलोक है । इसीसे आज निरा "कवि" कोई कलाकार नहीं ।"[1]

नेमीचन्द्रजी की राय में कला की सच्चाई तभी हो सकती है जब वह मानव-मुक्ति का मार्ग आलोकित करे । उनके मत में सहज रूप से ही कला में मानव-मुक्ति का आलोक है । कलाकार को इसके लिए कठिन यत्न की भी ज़रूरत नहीं ।

"तारसप्तक" में "कवि गाता है" शीर्षक कविता उनके इस दृष्टिकोण का सूचक है - जब चारों ओर मानव-जीवन की पीडाएँ दर्शित होती हैं, कवि उनकी ओर देखे बिना अपने सपनों की दुनिया में रहता है । यह देखकर जैनजी के मन में बडा दुःख होता है । कवि की इस कर्तव्य-विमुखता पर वे क्रोध प्रकट करते हैं । जैसे वे लिखते हैं -

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृः 51 से उद्धृत

"कवि गाता है -
संक्रान्ति-काल का कलाकार कवि - गाता है ।
देख चाँदनी रातें कवि का नाच उठा उर,
स्वप्नदेश की परियों के गायन से उसका गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों में
मदिरा - सा किस छवि का मीठा भार लिये,
वह बेसुध - सा है ;
उसके नयनों में झूल रही किस रूप-परी की सघन याद,
उसके मन में कितनी पीडा, उसके मन में कितना विषाद !
और तब भी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलता के, प्यार-प्रीति के, अपने दुःख के -
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने ।
फूट उठा है उसका उर,
वह गाता है
संक्रान्ति काल का
पीडित मानवता के युग का कलाकार कवि
गाता है !"[1]

कवि यहाँ व्यंग्य करता है कि संक्रान्ति - काल में सचेत रहने के बदले कवि का स्वप्न-निद्रा में डूबना कितना लज्जावह है ! स्वप्न देश की परियों के गान में डूबे हुए, मदिरा के समान मीठी उन्मत्तता में सोये रहना निरर्थक है । आज का कवि पीडा और विषाद से त्रस्त है । फिर भी वह प्रीति - प्यार के, असफलता के, दुःख के गीत गा रहा है । उसे तो पीडित मानवता के युग का वक्ता होना चाहिए ।

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृः 53.

नेमीचन्द्रजी की राय में, सौन्दर्य - मोह जीवन से विमुख होने का कारण नहीं हो सकता । "मेरा विश्वास है कि सौन्दर्य का आकर्षण "पलायन" की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता ।"[1]

छायावादी सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति को पलायनवाद के रूप में चित्रित किया जाता था । जैनजी की राय में सौन्दर्य के प्रति और भी दृष्टिकोण है जो जीवन में सक्रियता देता है । सौन्दर्य का वह स्वस्थ दृष्टिकोण वे पसन्द करते हैं ।

नेमीचन्द्रजी जीवन के प्रति प्रगतिशीलता की दृष्टि रखते हैं । रूढ़ि जीवियों के विरुद्ध बार बार वे व्यंग्यमय उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं - "कवि गाता है" शीर्षक कविता में इसके प्रति तीखा बाण भेजते हैं -

"जब बाहर दुनिया में फैली घनघोर विषमता,
दिशि दिशि से उड रहा भयानक चीत्कार
उसको तो है बस अपने सपनों से ममता -
वह कलाकार !
क्या परवा, उसको एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य दृष्टि से देख रहा, उसकी तो युग-युग की वाणी,
उसके स्वर में है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी !
कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्व का ।
मानवता के अमर चिरन्तन नियमों का
कवि स्रष्टा है ।
वह क्या गाये
इस वर्तमान के, अति कुत्सित बीभत्स अंधेरे के,

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 50 से उद्धृत

जडता के,
काले काले क्षुद्र गीत,
जब देख रहे उसके अधमूँदे नयन,
क्षितिज के पार दूर गरिमा के गौरव से मंडित
स्वर्णिम अतीत !
वह गाता है -
"।

कवि का मन स्वप्न जीवियों की अर्ध-निद्रा देखकर क्रोध से जलता है । एक ओर भूख से लाखों प्राणी मरते हैं, तो दूसरी ओर दुःख के इन भयानक चीत्कारों की ओर ध्यान दिये बिना कला में अमर तत्व की खोज करते हैं । वर्तमान के कुत्सित गहन अंधकार को देखे बिना वे स्वर्णिम अतीत की महिमा गाते हैं । सच्चा कवि को वर्तमान के प्रति सजग रहना चाहिए ।

कवि और मानवता का नव-निर्माण

प्राचीन काल से भारत में काव्य के बारे में जो दृष्टिकोण चला आ रहा है उसका आधार नेमीचन्द्रजी की कविता में भी दृष्टिगत होता है । "मानस के कवि से" शीर्षक कविता में कविता को "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की भावना पर अधिष्ठित माना है -

"कवि
तुमने मानव के सुख दुःख का
हास का, रूदन का
रचाया इतिहास
युग की सब आशा - आकांक्षाएँ
मुखर थीं तुम्हारे उन छन्दों में"[2]

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृः 54 से उद्धृत
2. "एकान्त" (नेमीचन्द्र जैन) - पृः 83.

मानव के सुख-दुःख तथा ह्रास-रुदन का इतिहास रचने में कवि का ही हाथ है । कवि के गीतों में अपने युग की आशाएँ और आकांक्षाएँ मुखरित हैं । काव्य मानव-जीवन से ही प्रेरणा ग्रहण करता है । आगे वे कहते हैं -

"कवि
फिर तुम्हारे रथ-चक्र की लीकों पर
चल कर ही
होगा निर्माण
नये युग के नये मानस का !"[1]

नया युग और नया जन-मानस कवि के काव्य-रथ के चक्रों की लीकों पर चलकर निर्मित होता है । कवि ही युग का स्रष्टा है ।

छन्द की मुक्ति

छन्द का बंधन जैनजी के लिए असह्य है ।

"कवि करोगे क्या न इस उन्मेष का वन्दन
नये शुभ उल्लास से अभिभूत अभिनन्दन
चाहिए वह कंठ जिससे नये स्वर फूटें
छन्द जिनसे शत युगों की श्रृंखला टूटे
बुद्धि वह जो हो न निज प्राचीर की बन्दी
भावना ऐसी न जो आवेश से अन्धी
टूटकर कुण्ठा पुरानी नया स्वर जागे
कवि, तुम्हीं युग-मार्गदर्शक बन चलो आगे ।"[2]

---

1. "एकान्त" (नेमीचन्द्र जैन) - पृः 85.
2. वही - पृः 62.

कवि को नये युग के उल्लास का स्वागत करना चाहिए । कंठों से अब नये स्वर फूटने का समय हो गया है । युग-युगों से काव्य तो छन्द की शृंखला के बंधन से बंधा हुआ है । बुद्धि और भावना भी बनी-बनायी लीक के प्राचीरों में बद्ध है । अब तो इन सबसे मुक्त होकर काव्य के कथ्य तथा शिल्प को नये मार्ग का प्रदर्शन करा दे ।

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे काव्य को सामाजिक पक्ष में प्रयुक्त करनेवाले कवि है । काव्य की तथ्यपरक बातों पर प्रभाकर माचवे ने अपनी कविता में कहीं कहीं विचार किया है । लेकिन इनमें अधिकतर पंक्तियाँ काव्य के सामाजिक उपयोग को स्पष्ट करने के लिए है ।

कवि और स्वप्न

स्वप्नद्रष्टा छायावादी कवियों से भिन्न नयी कविता यथार्थ पर बल देती है । प्रभाकर माचवे कवियों को स्वप्न से दूर जाने का उपदेश देते हैं -

"कवि, सपनों के मीठे जाल -
बुनने में मत लगो अ-काल ।
नभ में छाई घटा कराल ।

वह सौन्दर्य अतन्द्र अनिंद्य सबमें फैले, छोडो विन्ध्य शिप्रा, चंबल, काली-सिंध जैसे वेगवान हो छन्द !"[1]

---

1. "अनुक्षण" (प्रभाकर माचवे) - पृ: 78.

नभ में कराल बादल छा गये हैं । अर्थात् समाज में विविध प्रकार की विसंगतियों के बादल फैल गये है । इस समय कवि को सपनों के मीठे जाल बुनने में आनन्द लेने का यह समय नहीं है । कवि को अतंद्र, अनिंद्य सौन्दर्य की कल्पना से शक्ति लेनी चाहिए । इसके लिए शिप्रा, चंबल, कालसिंध आदि के वेग से युक्त छन्द गाना चाहिए ।

कविता क्या है'

काव्य की विभिन्न कवियों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं । उनपर विचार करते हुए काव्य की परिभाषा करने का प्रयास माचवेजी व्यक्त करते हैं -

"कविता क्या है' कहते हैं जीवन का दर्शन है आलोचन,
(वह कूडा जो ढँक देता है बचे-खुचे पत्रों में के स्थल) ।
कविता क्या है' स्वप्न श्वास है उन्मन कोमल,
(जो न समझ में आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन)
कविता क्या है' आदिम कवि की दृग-झारी से बरसा वारी -
(वे पंक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं बिचारी) !" [1]

यहाँ कवि काव्य की परंपरागत परिभाषाओं पर व्यंग्य करता है । काव्य को जीवन का दर्शन मानना उनके लिए स्वीकार्य नहीं । क्योंकि वह कूडों की ढेर में पड जाता है । कविता को उन्मन कोमल स्वप्न श्वास मानना भी मूर्खता है । कविता को आदिम कवि की करूण गाथा भी मानना भी अनुचित है । यहाँ काव्य को परिभाषाओं में बाँध लेने की प्रवृत्ति पर वे व्यंग्य करते हैं ।

कला की स्वतंत्रता

प्रभाकर माचवे कला की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं । काल के साथ साथ वृद्धि पानेवाली कला को अर्थ दास्य से दूर रहना चाहिए -

---

1. "तारसप्तक" (सं अज्ञेय) - पृ: 147.

"क्यों आज कला को अर्थदास्य !
यदि मानव का कोई उपास्य -
तो कला शुद्ध और अनवरुद्ध !
वह कला शुद्ध हार्दिक, प्रबुद्ध काल के साथ -
जो सदा वृद्ध, पर कला - पान्थ
है चिर-युवान है चिर समृद्ध !"[1]

प्रभाकर माचवे कला को अर्थ के दासत्व से मुक्त करना चाहते हैं । मानव को कला के शुद्ध और स्वतंत्र रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए । काल के साथ वृद्ध होने के बदले कला को हमेशा गतिशील रहनेवाले पथिक के समान युवा और चिर समृद्ध होना चाहिए ।

कवि और संघर्ष

प्रभाकर माचवे ने बार बार कवि के संघर्षशील व्यक्तित्व पर ज़ोर दिया है । कवि की वाणी में संघर्ष से जूझने की अपूर्व शक्ति होनी चाहिए -

"कवि सांग्निक हो वाणी !
न बने निरी प्रचारक चेरी
शुद्ध कला कल्याणी !
आज बज चुकी जब बस भेरी
कैसी करुण कहानी ?
चित्रकार तव तमली !
बन जाये आगत युग की छवि,
किन रंगों में भूली ?

---

1. "स्वप्नभंग" (प्रभाकर माचवे) - पृ: 34.

रेखाओं में खिंच आवे पवि
किस गति - भ्रम में झूली ?"[1]

कवि को समय के अनुकूल, अग्नि-समान वाणी से युक्त होना चाहिए । प्रचारवादी कविता के बदले लोक मंगल करनेवाली शुद्ध कविता की आवश्यकता है । आज तो युद्ध की भेरी बज चुकी है । अब करुणा का समय नहीं है । चित्रकार को नवयुग का रंग भरने के लिए तूली का प्रयोग करना चाहिए । अब गति-भ्रम में पड़े लिखा आग की-सी शक्ति का संचार करना चाहिए । और एक कविता में प्रतिभा को ही वे संघर्ष से उत्पन्न मानते हैं -

"क्या निरी कल्पना प्रतिभा है, क्या
निरी सूझ की तितिल - परी ?
क्या प्रतिभा केवल नव-नवीन विस्मय-उपजाऊ ऊहा है ?
प्रतिभा क्या है संध्या - भाष ? सिद्धों का पाहुड-दूहा है ?
प्रतिभा अनुभूति - रसायन है ? गहरे "जीवन" की चल शफरी ?
प्रतिभा बोली - "यातना, निरन्तर कष्ट - सहन की ताकत में
मैं बसती हूँ संघर्ष - निरत साधक में, असिधारा - व्रत में ।"[2]

निरी कल्पना या निरी सूझ को प्रतिभा नहीं माना जा सकता । नव नवीन विस्मय या सिद्धों की संध्या भाषा या अनुभूति - रसायन को भी प्रतिभा नहीं माना जा सकता । प्रतिभा एक संघर्ष-निरत साधक की कष्ट सहन की ताकत में, उसके दृढ-व्रत में निवास करती है ।

---

1. "अनुक्षण" (प्रभाकर माचवे) - पृ: 10.
2. वही - पृ: 95.

काव्य और यथार्थ

मार्क्सवाद के पक्षपाती अन्य कवियों की भाँति प्रभाकर माचवे भी काव्य को यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । शोषितों और वंचितों के बारे में गाना चाहते हैं –

"हम उनके गायेंगे गाने !
जिनका जीवन किन्हीं कारणों –
से है आज हुआ बेमाने !
जो निज अधिकारों से वंचित
जो हैं शोषित, लुंठित, मुंचित,
जिनकी जीवन गलियाँ हैं,
अवरुद्ध, घुटी और कुंचित ।"[1]

कवि कहता है कि जिनका जीवन किन्हीं कारणों से बेमाने हुआ है, जो निज अधिकारों से वंचित, शोषित और लुंठित हैं उनकी जीवन गाथा गाना ही कर्तव्य है ।

कवि और क्रान्ति

रोम्याँ रोलाँ के प्रति वंदना करनेवाली एक कविता में प्रभाकर माचवे ने कवि को प्रलयंकारी शक्ति का नायक माना है –

"ओ कविर्मनीषी ! तुम भी क्या
कुछ कर न सके प्रलयंकारी !
पर तेरे शब्द बीज बन कर

---

1. "अनुक्षण" (प्रभाकर माचवे) – पृ: 52.

भावी में होंगे सफल खरे
तुम मरे नहीं, तुम शत शत विद्युत् -
कण बन कर जग उठे अरे !"[1]

कवि को मनीषी बताते हुए उन्होंने उसमें प्रलय के आवाहन की शक्ति पहचान ली है । कवि मरता नहीं बल्कि उसके शब्द-बीज भविष्य में शाश्वत विद्युत् कण बन कर जगत् को प्रकाश देंगे ।

छायावाद पर व्यंग्य

अर्थहीन शब्दों के गुंफन और अस्पष्ट सौन्दर्य बोध पर आधारित छायावाद में माचवेजी काव्य परक महत्व नहीं देखते हैं । वे यों लिखते हैं -

"अर्थहीन शब्दों का गुंफन, अस्पष्टार्थ विवादी,
क्या इसको ही कहते हैं सब कविता छायावादी ?
संस्कृत शब्द - को लेकर चुन चुन शब्द पुराने
कुछ रहस्य दे अवगुंठन के डाले ताने - बाने ।
पर यह कब तक शाल पुरानी इस जर्जर काया को
ढाँक सकेगी ? देखो भू को व्यर्थ ऊर्ध्व मत को ताको ।"[2]

माचवे की दृष्टि में छायावादी कविता में केवल अर्थहीन शब्दों का गुंफन है, अस्पष्ट अर्थों का विवाद है । उसमें संस्कृत - शब्द - कोश से पुराने शब्द चुन चुनकर प्रयुक्त हो गये हैं । पर काव्य की यह पुरानी शाल कब तक ज़र्जर शरीर को ढक सकेगी ? ऊर्ध्व को देखना व्यर्थ है, भूमि की ओर देखना है । अर्थात् छायावादी कल्पनामयता को छोडकर कवि को जगत् के यथार्थ की ओर आना है ।

---

1. "अनुक्षण" (प्रभाकर माचवे) - पृ: 45.
2. "[illegible]" [illegible] पृ: 43

लक्ष्मीकान्त वर्मा

नये कवियों में जो सप्तकेतर कवि प्रसिद्ध हैं उनमें श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का नाम विशेष वक्तव्य है । उनकी विभिन्न कविताओं में काव्य के कथ्य तथा शिल्प के संबन्ध में कुछ विचार व्यक्त हुए हैं ।

लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार कविता कालजयी है । "कंचन मृग" में वे लिखते हैं -

"रचना हो चाहे जिसकी
ईश्वर परात्पर ब्रह्म की
मानव की,
कवि, स्वयंभू की,
वह पकती है आत्मा की आँच में
प्रखर होती है,
सीझती, घुरती और रीझती है दृष्टि में
वह होती है कालजयी,
वह थी कल
और है आज भी
कल भी रहेगी ।"[1]

रचना चाहे वह आध्यात्मिक तत्वों पर आधारित हो, या मानव पर आधारित हो, वह कालजयी है । रचना अतीत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी होगी । क्योंकि वह स्वयंभू कवि की आत्मा की आँच में पकी हुई है । लक्ष्मीकान्त वर्मा कविता को जीवन और प्रकृति की व्यापकता से मिलाना चाहते हैं -

---

1. "कंचनमृग" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) पृ: 92-93.

"वृक्ष शब्द हो रहे हैं
फूल अलंकार
पत्तियाँ ध्वनि बन रही हैं
कलियाँ आकार !
धूल भरी वन खण्डी पंक्ति बन रही है
पगडण्डियाँ अर्थ साकार
नदियाँ भाव
पहाड विराम - चिह्न
झाडियाँ प्रश्नवाचक भेद
एक संपूर्ण व्याकरण
वाक्य - विन्यास के पीछे दौड रहा है
शायद एक भाषा जन्म ले रही है
क्या एक नया वाङ्मय
ऐसे ही जन्मता है[1]।

यहाँ कवि काव्य को विराट् रूप से समस्त विश्व-प्रकृति में परिव्याप्त देखता है । अपनी एक कविता में वे "कवि" शब्द का अर्थ समझाते हैं -

जुलूस आने के पहले चलोगे, कवि कहलाओगे
साथ चलोगे तो दार्शनिक,
बाद में चलोगे तो इतिहासकार -
कब्र से उठकर कब्र में जाओगे ।

---

1. "कंचन मृग" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) - पृ: 115.

जब इतिहास झिलमिला रहा हो कवि बनो
जब इतिहास चल रहा हो क्रान्तिकारी बनो
और जब इतिहास जा चुका हो कब्र बनो
हर कब्र एक कविता का अंत होता है"[1]

कवि भविष्य-द्रष्टा है । वह जुलूस आने के पहले चलता है । जुलूस की प्रतीक्षा नहीं करता । कवि में अपनी अलग पहचान की विशेषता है, यह भी यहाँ संकेतित है ।

शान्तिवाहकों के नाम पर अभिनय करनेवाले कलाकारों पर कवि व्यंग्य करता है -

"कलम पर, तूलिका पर, यह तुम
किसकी लाशें बेच रहे हो
ओ ओ शान्ति के लेखक, शान्ति के प्रचारक कलाकार
कला शान्ति की प्रकृति है, उसकी स्थित प्रज्ञ भाषा है
वह बेची नहीं जाती नारों पर"[2]

शान्ति का संदेश देते हुए आजकल कलाकार कला को बेच लेते हैं । शान्ति के नाम पर वे लाशें बेच रहे हैं । शान्ति तो इस प्रकार प्रचार की वस्तु नहीं । मुर्दा प्रतीकों को कलम पर चढाकर भाषा का मूल्य ही वे घटा लेते हैं ।

लक्ष्मीकान्त वर्मा कविता में जीवन के यथार्थ पर बल देते हैं -

"वे हैं कवि,
भावना - लोक में रहते हैं

---

1. "कंचन मृग" "लक्ष्मीकान्त वर्मा" - पृ: 61.
2. "अतुकान्त" - वही - पृ: 134.

जितना है कोमल सब उनका है
जितना है मधुर सब उनका है
जितना है तरल, स्नेहिल, सलिलमय, सब उनका है

कवि मैं नहीं
क्योंकि मैं कोमलता से दूर
कठोरता में जीता हूँ
क्योंकि मैं मधुरता से वंचित विष की
तिक्तता पीता हूँ ।

मैं जो लिखता हूँ वह कविता नहीं है
वह है -
जीना
और जीना -
असुन्दर की छाया में
पसीने की बून्द में
॥।

कुछ लोगों के विचार में कोमल, मधुर, स्नेहिल भावनाओं को वाणी देना ही काव्य है । लेकिन नया कवि जीवन की कठोरता भोगनेवाला है । वह जीवन से अलग कविता की रचना नहीं करता, बल्कि उसकी कविता उसकी ज़िन्दगी ही है । वह जीवन की असुन्दरता, विवशता और दुःस्थिति से जुडी हुई है । इसीलिए कविता में अतिशय भावुकता का वे विरोध करते हैं -

---

1. "अतुकान्त" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) - पृः 24-25.

"कवि कलाकार, अतिशय भावुक
अतिशय उदार, अतिशय गतिमय
ये सभी व्यंग्य
यह राह तंग
यह सबका सब
यह सबका सब"[1]

अतिशय भावुकता या गतिमयता कविता को तंग बना देती है । कविता सब का सब है, वह जीवन के रस से सिक्त हो, यही उचित है । एक कविता में कवि अपनी आवाज़ को काल-भैरव के ताण्डव-नृत्य की ध्वनि मानता है -

"मैं बोलना चाहता हूँ
क्योंकि मेरे पास भाव है, शब्द है, कल्पना है, स्वप्न है ।
मैं बोलूँगा
क्योंकि काल-भैरव के ताण्डव-नृत्य की
अर्थ-शब्द-भेदी ध्वनि
प्रलय - गर्भित क्षणों में भी
सृजन की संभावना है
जो मुक्त है स्वच्छन्द है
और मैं उन स्वरों का उत्तराधिकारी अधिष्ठाता हूँ -"[2]

कवि के पास शब्द है, भाव है, कल्पना है इनके माध्यम से कवि बहुत कुछ बोलना चाहता है । उसके स्वर में काल भैरव के ताण्डव-नृत्य की शक्ति है । वह मुक्त और स्वच्छन्द है । भावुकता और मधुरता की कृत्रिमता से वे मुक्त रहते हैं । क्योंकि उनका स्वर व्यक्तिगत अनुभूतियों से उठा है ।

---

1. "अतुकान्त" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) - पृ: 30.
2. वही - पृ: 44.

वे "अतुकान्त" की भूमिका में कहते हैं –

"इन कवियों के विषय में मुझे इतना ही कहना है कि यह मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियों का संग्रह है । कहीं कहीं इसमें पूरा परिवेश हमारे साथ रहा है, कहीं कहीं मैं बिलकुल अकेला रह गया हूँ ।"[1]

चाहे परिवेश के साथ जुड़ा हुआ हो या अकेले हो, कवि का स्वर उनकी व्यक्तिगत संवेदनाओं का पर्याय है ।

कवि सृजनशीलता में टूटने की पीडा का अनुभव करता है –

"और यह टूटने की पीडा
सृजन की पीडा
संदर्भों से अलग
अकेलेपन की पीडा
संवेदना है
हमारे वृत्तों के अर्थों की ।"[2]

कवि संदर्भों से अलग, अकेलेपन की पीडा से गुज़र रहा है । वही उनकी कविता की संवेदना है ।

बच्चा दीवार पर कोयले से कुछ लकीरें खींचता है । माँ यह देखकर कहती है – ऐसा न कर, पिता का कर्ज बढेगा । कवि अपनी स्थिति को इसके तुल्य मानता है ।

---

1. "अतुकान्त" (श्रीकान्त वर्मा) – पृ: 7.
2. वही – पृ: 8.

"मैं जो लिख रहा हूँ सफेद कागज़ पर
कर्जा बढा रहा हूँ पिता का,
कौन सुनेगा यह कविताएँ
आवारा फ़ाहिशा हवाएँ ज़्यादा अच्छी हैं
जो पोथी के सारे पन्ने के पन्ने बिखेर देती है ।"[1]

आजकल कवि यह विश्वास कर नहीं सकता कि उनकी वाणी कोई सुनेगा । क्योंकि जिन्दगी की इस विश्रृंखलता में कविता सुनने या समझने का वक्त विरले ही मिलता है । इसलिए कविता की सफलता पर कवि को संदेह है ।

जगदीश गुप्त

काव्य - सत्य

अन्य कवियों की भाँति जगदीश गुप्त काव्यगत सत्य को कुछ अलौकिक मानते हैं । वे इसे देश-काल से परे मानने के पक्ष में है । उनका कथन है - "जिस काव्य में अपने युग का होकर भी युग से ऊपर उठने की क्षमता होती है वही साहित्य की स्थायी निधि - बन पाता है ।"[2]

साहित्य में यद्यपि युगीन वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति होती है, फिर भी सत्य मात्र उस युग तक सीमित नहीं है । उसमें देशकाल की सीमा को लाँघने की क्षमता है ।

इस काव्यगत सत्य को सब पहचान नहीं सकते । "सत्य की पहचान" नामक कविता में जगदीश गुप्त लिखते हैं -

---

1. "कंचन मृग" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) - पृ: 65.
2. "कवितान्तर" (जगदीश गुप्त) - पृ: 15.

"सत्य की पहचान सबको है,
सत्य का बोध सब कहीं है,
पर अपने भीतर की सच्ची प्यास को
पूरा समझ पाना
सबके लिए संभव नहीं है ।"[1]

सभी लोग सत्य से हमेशा संबद्ध तो रहते हैं । लेकिन सत्य का बोध उनमें निहित होने पर भी सत्य के प्रति सच्ची प्यास का अर्थ वे समझ नहीं पाते ।
और एक जगह वे लिखते हैं -

"एक गहरे सत्य को
शब्दों में बाँध कर
मैं ने तुमसे वह आशंसा पायी
जो शायद ही किसी कवि को -
कभी नसीब हुई हो ।"[2]

कवि यही व्यक्त करना चाहता है कि एक गहरा सत्य उनकी कविता में शब्द-बद्ध हो जाता है । सत्य की यह शब्द-बद्ध अभिव्यक्ति हर किसी के लिए आसान नहीं है ।

शब्द और अर्थ

कवि शब्दों से खेलनेवाला जादूगर है । निर्जीव शब्दों को नये नये अर्थ से वह नया जीवन प्रदान करता है - "कवितान्तर" में अपनी एक कविता में वे लिखते हैं -

---

1. "युग्म" (जगदीश गुप्त) - पृ: 147.
2. वही - पृ: 19.

"मैं कवि हूँ स्वाभिमानी
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ,
खोखली ध्वनियों की
बेरहम जंजीर से बँध कर
कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ ।"[1]

जगदीश गुप्त कविता में स्वाभिमान को ही महत्व देते हैं । यों ही ध्वनियों की जंजीरों में बँधकर वे कुत्ते की मौत मरना नहीं चाहते । बल्कि वे शब्दों में नया और सच्चा अर्थ भर देना चाहते हैं । कवि नाद - सौन्दर्य से संपृक्त कविता की अपेक्षा अर्थ-सौन्दर्य से संपृक्त कविता लिखना चाहता है ।

अनुभूति और अभिव्यक्ति

अनुभूति कविता की प्राण सत्ता है । अनुभूति से रहित वाणी खोखली होती है । अनुभूति से उत्पन्न वाणी सह-अनुभूति पैदा कर सकती है ।

अनुभूति हमेशा अभिव्यक्ति नहीं पा सकती । कभी कभी शब्दों से भी सशक्त अभिव्यक्ति मौन से होती है । "आकांक्षा" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

"शब्द और अर्थ के बीच
आकांक्षा
शब्द को देती है अर्थ ।

---

1. "कवितान्तर" (जगदीश गुप्त) - पृः 236.

तुम्हारे शब्दों को क्या हो गया है
या तो तुम तुम्हीं नहीं रहे,
या उनका अर्थ खो गया है ।"[1]

कभी कभी शब्दों से अर्थ नष्ट हो जाते हैं । तो शब्द और अर्थ के बीच की जो आकांक्षा है वही शब्द को अर्थवत्ता देती है ।

"एक खुली आँख" शीर्षक कविता में भी वे मौन को अभिव्यक्ति का सक्षम साधन मानते हैं –

"आसमान
एक खुली हुई आँख
चाँद
श्वेत पुतली
हर उजाले पाख
मुझे टकटकी लगा कर
देखती रहती है ।
शब्द से जो कहना असंभव है,
अर्थ – बहुल मौन में कहती है ।"[2]

कवि को लगता है कि प्रकृति के समस्त अंग उन्हें टकटकी लगाकर देखते रहते हैं और उनसे मौन भरी भाषा में कुछ कह रहे हैं जो अर्थ से संपुष्ट है ।

कभी कभी अनुभूति अभिव्यक्त होने पर उसकी तीक्ष्णता नष्ट हो जाती है । जब वह अनकही रहती है तब उसका सौन्दर्य संपूर्ण रहता है । "यातना का नागपाश" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं –

---

1. "कविता-न्तर" (जगदीश गुप्त) – पृ: 235.
2. वही – पृ: 259.

"अनुभव में आया हुआ गहन सत्य
किन्तु सदा,
कुछ तो अकथ ही रहेगा,
कोई भी कवि
सबका सब, कैसे कहेगा ?
कहे से अनकहे को समझना ही
सच्चा समझना है ।
संदर्भों से ऊपर उठकर
वे अक्षर
मेरे लिए कविता हो चुके थे
पर तुमने उन्हें उसी तरह नहीं लिया,
तभी उन्होंने तुम्हें बेहद दुःख दिया ।"[1]

कोई भी कवि सब का सब कह नहीं सकेगा । क्योंकि बहुत सारी अनुभूतियाँ अकथ ही रहती है । इन अनकही अनुभूतियों को समझ पाना ही सबसे महत्वपूर्ण है । कवि की वाणी में, अक्षर तो संदर्भों से ऊपर उठकर कविता बन जाते हैं ।

कल्पना

कल्पना कविता के सौन्दर्य का निदान है । भावों पर कल्पना का रंग चढाना एक अद्भुत कार्य है । कल्पना से मनोहर होनेवाले भावों की छवि में कवि लीन हो जाता है । "कल्पना का अन्तराल" कविता में जगदीश गुप्त कहते हैं –

---

1. "युग्म" (जगदीश गुप्त) – पृः 69.

"वस्तु को सुन्दर बनाती है
भावमय दूरी,
चाहे वह
देश की हो
कला की हो
अथवा हो
कल्पना की
रूपगत बोध की
दूरी वह -
रच रच देती है
नयी नयी छवियाँ
अंतरंग दृष्टि के
सारे अन्तराल में ।"[1]

कल्पना अन्तरंग - दृष्टि के अन्तराल में सौन्दर्य की नयी नयी ज्योति जगा देती है । यही कल्पना भावमय दूरी में वस्तुओं को सुन्दरता प्रदान करती है ।

दुष्यन्त कुमार

काव्य की साधारणता

"जलते हुए वन का वसन्त" की भूमिका में दुष्यन्त कुमार काव्य के संबन्ध में अपना विशेष दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं -

---

1. "हिमविद्ध" (जगदीश गुप्त) - पृ: 81-82.

"मेरे पास कविताओं के मुखौटे नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राएँ नहीं हैं और अजनबी शब्दों का लिबास नहीं है । मैं एक साधारण आदमी हूँ और इतिहास और सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में, साधारण आदमी की पीडा, उत्तेजना, दबाव, अभाव और उसके संबन्धों के उलझावों को जीता और व्यक्त करता हूँ ।"[1]

दुष्यन्त कुमार अजनबीपन को कविता में स्थान नहीं देना चाहते हैं । वे साधारण आदमी की ज़िन्दगी का वक्ता होना चाहते हैं ।

"आवाज़ों के घेरे" शीर्षक कविता में उन्होंने इसको यों व्यक्त किया है -

"मित्रो !
मेरे व्यक्तित्व
और मुझ-जैसे अनगिन व्यक्तित्वों का क्या मतलब ?
मैं जो जीता हूँ
गाता हूँ
मेरे जीने, गाने
कवि कहलाने का क्या मतलब ?"[2]

कवि अपने जैसे अनगिनत व्यक्तित्वों का मतलब खोजता है । कवि का जीना, गाना और कवि कहलाना उन्हीं अनगिनत व्यक्तित्वों से संबन्धित है ।

उनकी दृष्टि में चौंकानेवाली उक्तियों और चमत्कारों से खेलना कविता का अर्थ नहीं है । कविता का सीधे मानव-जीवन से संबन्ध है । वे स्पष्ट कहते हैं -

---

1. "जलते हुए वन का वसन्त" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 5.
2. "आवाज़ों के घेरे"- वही - पृ: 19.

"मैं कविता को चौंकाने या आतंकित करने के लिए इस्तेमाल नहीं करता, गो कि ऐसा कर के लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा जा सकता है, परन्तु कविता से केवल यह अपेक्षा, जितनी कम है, मैं जानता हूँ कि अभ्यास के अनेक स्तरों के नीचे दबी हुई व्यक्तित्व के भीतर दूर तक उतर जानेवाली चीज़, कविता होती है । उसे इतनी छोटी भूमिका नहीं दी जा सकती । समाज और व्यक्ति के संदर्भ में उसका दायित्व इससे बडा है ।"[1]

केवल आकर्षण पैदा करके लोकप्रियता पाना कविता की भूमिका को छोटी कर देना ही है । इसके बदले, बाह्य चमत्कारों से ऊपर उठकर समाज और व्यक्ति के संदर्भ में कविता का दायित्व पहचानना कवि का धर्म है ।

"आत्मकथा" शीर्षक कविता में दुष्यन्त कुमार जीवन से उद्भूत अपनी कविता का स्वभाव व्यक्त करते हैं -

"किन्तु मैं कवि हूँ कहाँ
कहाँ किसे मिलती है मेरी कविताओं में
इन्द्रजुही सपनों की
रूप और फलों की
सतरंगी छवियों की
स्निग्ध कलित कल्पना ;
लगता है
मैं तो बस जल-भुना कपडा हूँ
मैं ने उसे लेखनी से
मेज़ पर बैठने का इशारा किया ।
थोडी - सी कल्पना से काम लेकर
मैं लोगों से साफ बच निकला और
भीड में, सुविधा की एक जगह छाँट ली ।

---

1. "जलते हुए वन का वसन्त" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 5.

मैं धक्का - मुक्की क्यों करता ?
मैं ने यहाँ वहाँ थोडी - सी
तुकें उगाईं - और
कविता की खडी - खूबसूरत फसल
काट ली । पर
अब इस कविता से बचता हूँ
जिसको रचता हूँ ।"[1]

काव्य - प्रतिभा और तडक-भड़क के बीच कवि अपने को अकेला पाता है । क्योंकि उसकी कविता में इन्द्रजुही सपने या ललित कल्पनाएँ नहीं । भीगे हुए कपड़े के समान वह जीवन - रस से संसिक्त है । इसलिए वह साधारण से भी साधारण है । वह सम्मान और ख्याति के बाज़ार में धक्का - मुक्की करने नहीं जाती ।

मनुष्य की अवमानना को देखकर उद्भूत प्रतिक्रिया व्यक्तिगत रूप से व्यक्त करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं । जो लोग उन्हें कवि पुकारते हैं उनसे कवि का एकमात्र अन्तर यह है कि वे मौन रहते हैं, कवि वक्ता है ।

लोगों ने मुझे कवि पुकारा
उद्धत, अविनीत नहीं
क्योंकि
यद्यपि वे मौन रहे
किन्तु उन्हींकी भावनाओं को
वाचा दी मैं ने

---

1. "आवाज़ों के घेरे" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 49.

उन सबकी ध्वनियों को
गुंजरित वितरित किया
और पूछना जो चाहते थे वे
वहाँ प्रश्न
मैं ने प्रतिध्वनित किया
चारों दिशाओं में ।"[1]

कवि उद्धत या अविनीत नहीं, फिर भी उसमें इतनी क्षमता है कि लोगों के मौन में जो भावनाएँ दबी हुई थीं, उन्हींको उसने वाणी दी । वह सबकी ध्वनियों का वक्ता हो गया । वे जो प्रश्न पूछना चाहते थे, उसे कवि ने ही चारों दिशाओं में प्रतिध्वनित किया ।

दुष्यन्त के कवि को अपने दायित्व का पूरा भान है, क्योंकि वह युग-चेतना के प्रति सजग है ।

"धिक् मेरा काव्यत्व
कि जिसने टेका माथा,
धिक् मेरा पुंसत्व
ये जिसकी कायर गाथा,
ये अपने से ही अपने की हार
और मैं देख रहा हूँ !"[2]

बढते अंधेरे ने मानो कवि की असमर्थता को ललकारा है, उसे आत्म-पराजय स्वीकार कैसे हो? माथा टेककर मेरा काव्यत्व नहीं रहेगा । मेरा पुंसत्व कभी नहीं हारेगा - यही उनका विश्वास है । असफलताओं के सामने माथा टेकनेवाला कवि मृत - तुल्य है ।

---

1. "जलते हुए वन का वसन्त" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 29.
2. "आवाजों के घेरे" - वही - पृ: 46.

दुष्यन्त की आवाज़ में असर है, वह महज और शोरगुल नहीं, परिवर्तन का एक शस्त्र है । दर्द कवि की कलम से नज्म का रूप ले लेता है और यही दूसरे के हाथों में क्रान्ति की मशाल बन जाती है -

"मेरी ज़ुबान से निकली तो सिर्फ नज्म बनी,
तुम्हारे हाथ में आयी तो एक मशाल हुई ।"[1]

कवि की मान्यता है कि दर्द से निराशा नहीं, क्रान्ति की आग फैल जाती है । दुष्यन्त के कवि को अपने शब्दों और गीतों की प्रतिष्ठा का पूरा ख्याल है । दर्द से अनुरक्त और भावना से संपृक्त शब्दावली उसकी निधि है । उसके शब्द और गीत उसे प्रतिकूल हवाओं और शीश उठाये पहाडों का मुकाबला करने की हिम्मत देते हैं ताकि हौंसले पस्त न हों और सफलता के सपने कबूतरों की तरह हाथ से न उडे -

"देखते रहना तुम,
मेरे शब्दों ने हार जाना नहीं सीखा
क्योंकि भावना इनकी माँ है,
इन्होंने बकरी का दूध नहीं पिया
ये दिल के उस कोने में जन्मे हैं
जहाँ सिवाय दर्द के और कोई नहीं रहा ।
कभी इन्हीं शब्दों ने । ज़िन्दा किया था मुझे
कितनी बडी है इनकी शक्ति । अब देखूँगा
कितने मनुष्यों को औ जिला सकते हैं ।"[2]

---

1. "साये में धूप" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 58.
2. "सूर्य का स्वागत" - वही - पृ: 67.

भावना से, आन्तरिक अनुभूति से जन्म लेने के कारण कवि के शब्द कभी असफल नहीं होते । दिल के दर्द से उत्पन्न होने के कारण इनमें गहन भाव भरा है । कवि महसूस करता है कि इन्हीं शब्दों ने उनके जीवन में अपूर्व शक्ति दी । इन्हीं शब्दों से और भी कितने ही मनुष्यों के जड जीवन को जिलाने की प्रतीक्षा वे करते हैं ।

कवि अपने गीतों में जिन्दगी का पूरा चित्र देना चाहता है

"गीत गाकर चेतना को वर दिया मैं ने
आँसुओं से दर्द को आदर दिया मैं ने
प्रति मेरी आत्मा की भूख थी, सहकर
ज़िन्दगी का चित्र पूरा कर दिया मैं ने"[1]

वे मानते हैं कि अपने गीतों से उन्होंने मानवीय चेतना को अनुप्राणित किया, आँसुओं से दर्द को सम्मान दिया और मानवीय स्नेह से "गुलमोहर" को खिलाने की तमन्ना लिये ज़िन्दगी का चित्र पूरा कर लिया ।

"खण्ड खण्ड होकर जिसने
जीवन विष पिया नहीं
सुखमय संपन्न मर गया जो जग में आकर
रिस रिसकर जिया नहीं
उसकी मौलिकता का दंभ निरा मिथ्या है
निष्फल सारा कृतित्व
उसने कुछ किया नहीं ।"[2]

---

1. "सूर्य का स्वागत" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 13.
2. वही - "पराङ्मुखी प्रिया से" कविता

जीवन में कवि मौलिकता को नयी दृष्टि से आँकना चाहता है । जीवन का विष खण्ड खण्ड होकर पीने अर्थात् जीवन के दुःखों का खण्डशः अनुभव करने के बदले जो सुख संपन्नता में मर जाता है, वह मौलिक रचनाकार नहीं । क्योंकि उसने मौलिक रूप से जीवन का निचोड नहीं पाया है । इसलिए उसका कृतित्व व्यर्थ है । लिखने के लिए जीना ज़रूरी है । जो जीवन की गहराई में उतरता है, वह कविता की रचना कर सकता है ।

दुष्यन्त कुमार मानते हैं कि उनकी भाषा के मूल में जीवन की कडुवाहट है ।

"एक नीम का स्वाद
जो सिर्फ तल्खी का नाम है ।"[1]

अपनी भाषा में उदात्तता, उज्ज्वलता या सुकुमारता के बदले, कवि जीवन के तिक्त अनुभवों से उत्पन्न कडुआहट ही पाता है ।

कवि शब्द और शब्द से परे अनुभव की भाषा ढूँढना चाहता है

"भाषा को भोगता हूँ
शब्द और अर्थों से परे एक भाषा
जो श्रव्य नहीं
जिसके संदर्भ – बहुल अनुभव
मैं जीता हूँ जीने के लिए विवश होता हूँ ।"[2]

साधारण भाषा तो शब्द – अर्थ पर आधारित है । लेकिन कवि शब्द-अर्थ से परे अनुभव की भाषा को जीना चाहता है और उसीमें कविता लिखना चाहता है ।

---

1. "जलते हुए वन का वसन्त" (दुष्यन्त कुमार) – पृः ।।.
2. वही – पृः 24.

कवि दुष्यन्त मानता है कि लेखनी इतिहास के विधान में भाग लेती है ।

"अक्षरों के इस निबिड वन में भटकती
ये हज़ारो लेखनी इतिहास का पथ खोजती है
क्रान्ति । कितना हँसो चाहो
किन्तु ये जन सभी पागल नहीं ।"[1]

रचना को कवि अक्षरों का निबिड वन मानता है । रचना के क्षेत्र में लेखनी नये इतिहास के निर्माण में लगी हुई है । अब क्रान्ति की संभावना है जो इतिहास - विधायक है ।

दुष्यन्त कुमार अपनी वाणी में "सहज अभ्यर्थना" पाते हैं ।

"मेरी बद्ध अंजुलियों में
रस है अब
तडप नहीं
वाणी में सहज अभ्यर्थना है ।"[2]

कवि अपनी वाणी में उद्धत स्वर का तेज नहीं पाता । वे वाणी में "सहज अभ्यर्थना" का भाव ही पाते हैं ।

दुष्यन्त कुमार मानते हैं कि कविता की रचना जान-बूझकर नहीं होती । संयोग से कोई कवि बन जाता है । "जलते हुए वन का वसन्त" में कवि अपने कवि बनने के रहस्य का उद्घाटन यों करता है ।

---

1. "आवाज़ों के घेरे" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 9.
2. वही - पृ: 55.

"मैं खुद चकित हूँ
मुझे कब गाना आता था
कविता का प्रचलित मुहावरा अपरिचित था
मुझसे नहीं पूछा, मैं ने नहीं चाहा
इतिहास ने मुझे धकेल कर
मंच पर ला खडा किया ।"[1]

परिस्थितियों के संयोग से व्यक्ति कुछ न कुछ बन जाता है । प्रतिकूल परिस्थितियाँ हृदय को मथित कर देती हैं । इस प्रकार संयोग से दुष्यन्त कुमार का कोमल हृदय भावों से भर गया और इन्हीं भावों ने उनकी कविता में अभिव्यक्ति पायी । कविता के मंच पर इस प्रकार इतिहास ने उन्हें खडा कर दिया ।

लेकिन दुष्यन्त कुमार अपनी रचना-क्षमता के बारे में कभी कभी संदेह से भर उठते हैं -

"मैं ने यहाँ वहाँ थोडी सी तुकें उगाईं - और
कविता की खडी - खूबसूरत फसल काट ली । पर
अब इस कविता से बचता हूँ ।
जिसको रचता हूँ ।"[2]

दुष्यन्त कुमार अपनी रचना-प्रक्रिया में "जल भीगे कपडे" की स्थिति पर बल देना चाहते हैं -

"मैं तो जल भीगा कपडा हूँ
जिसको निचोड कर मेरी

---

1. "जलते हुए वन का वसन्त" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 8.
2. वही - पृ: 30.

ये कविताएँ
उष्ण इस धरती के ऊपर
छिडक देती है
कविताएँ माध्यम है शायद ".[1]

यह धरती जीवन के ताप से दग्ध है । इसके लिए जल की आवश्यकता है । कवि अपनी कविताओं में भीगे हुए कपडे के समान जल पाता है जो उष्ण धरती के ऊपर छिडक सकते हैं । जीवन के ताप से दग्ध धरती को कवि अपने जीवन - रस से सिक्त कविता के द्वारा शीतल करना चाहता है । उनकी कविता में जीवन के ताप को शान्त करने योग्य शीतलता मिलती है ।

श्रीकान्त वर्मा

"माया-दर्पण" की एक कविता में श्रीकान्त वर्मा कहते हैं कि वे जीवन में कुछ विशिष्ट अर्थ नहीं देखते । किसीसे वे कहते हैं कि अपने दिन वे किसी भी प्रकार बिता रहे हैं । एक प्रार्थना यह है कि उन्हें कोई भी कवि मत कहे । वे उतने सभ्य नहीं । कवि कविता में गाली देता है, कोसता है । अन्याय और अनीति करनेवालों के विरुद्ध लडने के अस्त्र के रूप में कविता का प्रयोग कर रहा है ।

"मगर खबरदार ! मुझे कवि मत कहो
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईज़ाद करता हूँ
गाली
फिर से बदबुदाता हूँ

---

1. "आवाज़ों के घेरे" (दुष्यन्त कुमार) - पृ: 49.

मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ
मैं थकता नहीं हूँ
कोसते ।"[1]

आजकल हर कहीं राजनीति का जो अतिशय प्रचार हुआ है उसने जीवन में काव्य के मूल्य को घटा दिया है । इसके बारे में वे व्यंग्य मय ढंग से कहते हैं

"यह भी कोई बात हुई
कि समग्र मिथिला में
एक भी कवि नहीं
कि समूचे गणराज्य में
कोई मूर्त्तिकार नहीं
कि संपूर्ण है मिथिला
सिर्फ गायक नहीं
राजन् !
गायकों के
होने न होने से
फर्क नहीं पडता -
फर्क पडता है संपत्ति से,
सेना से मंत्रिपरिषद से ।
देखना पडता है,
प्रजा सुखी है या नहीं?
है तो, अवन्ती में
गायक, मूर्त्तिकार, कवि
क्या कर रहे हैं?

---

1. "माया-दर्पण" (श्रीकान्त वर्मा) - पृ: 5-6.

राजन् कहते हैं
अवन्ती रच रहे हैं -
यह कहकर
मृत्यु से बच रहे हैं
कि प्रक्रिया समाप्त नहीं होती
अवन्ती है, अवन्ती रहेगी !"[1]

आजकल कवियों, कलाकारों, मूर्त्तिकारों या गायकों का होना या न होना जन-जीवन को प्रभावित नहीं करता । बल्कि राजनीतिज्ञों के लिए प्रजा का कार्य ही सबकुछ है ।

इसीलिए श्रीकान्त वर्मा "जिरह" में यों लिखते हैं - "कविता को अपने जन्म और मृत्यु में तीन तरह के नरक से गुज़रना होता है अनुभव का नरक, सृजन का नरक और मूल्यांकन का नरक ।"[2]

कवि एक कविता में कवियों को मुर्गों के मसीहा मानता है -

"टोकरी के नीचे छिपे
मुर्गों के मसीहा कवि
बाँग दे रहे हैं,
सुबह हुई
धन्य ! धन्य ! कवियों की ऐयाशी झूठ में
लिपटी
वसुन्धरा !"[3]

---

1. "मगध" (श्रीकान्त वर्मा) - पृ: 37-38.
2. "जिरह" - वही - पृ: 8.
3. "प्रसंग" - वही - पृ: 91.

अंधकार में बन्द रहकर सुबह का उद्घोष करनेवाले कवि की स्थिति पर वे व्यंग्य करते हैं । कवियों की ऐयाशी झूठ में लिपटी हुई इस वसुन्धरा के बारे में कवि को गहरा दुःख है ।

"कविता की सालगिरह" शीर्षक कविता में वे रचना में व्यर्थता महसूस करते हैं ।

"जो लिखा, व्यर्थ था
जो नहीं लिखा,
अनर्थ था"[1]

अपने द्वारा जो कुछ लिखा गया, वह सब उन्हें अब व्यर्थ प्रतीत होता है । जो लिखा नहीं गया, वह अर्थहीन भी था ।

अजित कुमार

सप्तकेतर नये कवियों में श्री अजित कुमार का स्थान स्मरणीय है । उनकी एकाध कविताएँ उनके काव्य चिन्तन की परिचायिका हैं ।

कवि का अकेलापन

नया कवि अपने को भीड में अकेला पाता है । यंत्रयुगीन सभ्यता में एकता और सौहृद के स्थान पर अकेलापन और मन-मुटाव लक्षित होता है । कवि मन की इस बेबसी को अजित कुमार अपनी कविता में व्यक्त करते हैं -

"गीत जो मैं ने रचे हैं
वे सुनाने को बचे हैं ।
क्योंकि
नूतन ज़िन्दगी लाने,
नयी दुनिया बसाने के लिए
मेरा अकेला कंठ-स्वर काफी नहीं है ।

"[illegible]" [illegible] – पृ: 84

इस तरह का भाव मुझको रोकता है
शून्य, निर्जन पथ, अकेलापन
सभी कुछ अजनबी बन -
मुखरता मेरी न सुनता
टोकता है ।"[1]

कवि का रचा हुआ गीत अभी तक सुनाया नहीं गया है । क्योंकि कवि-मन में आत्म - विश्वास की कमी है । उनको लगता है कि अकेले उनके स्वर से नयी दुनिया का निर्माण नहीं हो सकता । आगे बढने में उनका यह संदेह बाधा डालता है ।

काव्य का लक्ष्य

आदिकालीन हो, मध्यकालीन हो या आधुनिक हो, कविता में मानवता का आधार हमेशा महत्वपूर्ण माना गया है । मानव को एकता और शान्ति का संदेश देना कविता का उद्देश्य होना चाहिए । नया कवि अजित कुमार भी इस भावना को एक नयी रीति से प्रस्तुत करते हैं -

"शब्द मेरे गीत बन जाएँ, कथा का रूप धर लें,
नित्य के व्यवहार को अभिव्यक्ति दें या
शून्य में खो जायँ -
तो क्या हुआ !
यह तो प्रकृति है उनकी, सहज है ।

---

1. "अकेले कंठ की पुकार" (अजित कुमार) - पृ: 9.

किन्तु मेरे शब्द ही यदि
तोड़कर धरती बना लें नीवं
कर दे विलग उसको जो कि अब तक
एक ही भू - खंड था
और फिर प्रत्येक अक्षर
ईंट बनकर
जुड़े, ऊपर उठे औ"
प्राचीर बन जाए
बहुत ऊँची, अभेद्य, अपार
मेरे औ" तुम्हारे बीच
जैसे चीन की दीवार
तो फिर?
मृत्यु की - सी यातना होगी मुझे !"[1]

शब्दों का गीत या काव्य बनना या नित्य जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना तो स्वाभाविक है । लेकिन शब्द यदि मनुष्य - मनुष्य के बीच अलगाव पैदा कर, एक ही भूखण्ड को छिन्न-भिन्न कर दें या मनुष्य - मनुष्य के बीच चीन की दीवार बना दें तो मृत्यु ही उससे श्रेयस्कर प्रतीत होगी ।

काव्य और जीवन

कभी कभी अजित कुमार को लगता है कि कविता सचमुच कहाँ रह गई हैं? कवियों ने अभी तक बार बार जो बातें कविता के बारे में दुहरायी हैं, वे उनको निरर्थक लगती हैं । उन्हें लगता है कि जीवन का सही अस्तित्व कविता में आता नहीं है ।

---

1. "अकेले कंठ की पुकार" (अजित कुमार) - पृ: 47.

"कविता कहाँ है'
शाम के धुआँ - धुआँ
या हुस्न के "उदास - उदास" होने में,
या फिर
दिल को कई कहानियाँ याद-सी आके रह जाने में'
कविता कहाँ है'
इन कुरमुरे चनों में'
काफी के प्याले से उडती हुई भाप में'
या चम्मच की खडकन की गूँज के मिटने में'
कविता कहाँ है'
कम से कम तुममें तो नहीं ।
क्योंकि
वहाँ जीवन है ।
रूँधती आवाज़,
अधमुँदी पलकें
काँपता
सिहरता
वक्ष
कविता में यह सब कहाँ ।
सिर्फ
छाया की छाया की छाया ।"[1]

कविता के नाम पर कभी कभी कोरे, खोखले भाव ही प्रकट होते हैं । कई कविताएँ केवल बाह्य जीवन के अर्थशून्य प्रसंगों पर आधारित हैं, जैसे शाम का धुआँ-धुआँ, या हुस्न का उदास-उदास होना । जहाँ जीवन है, भाव की सघनता है, वहाँ कविता का रूप धंधला पडा है ।

---

1. "ये फूल नहीं" (अजित कुमार) - पृ: 73.

नये कवियों ने काव्य के शिल्प-पक्ष के प्रति नवीन दृष्टि अपनायी है । उनके अनुसार, बार बार प्रयुक्त होकर परंपरागत अलंकार घिस गये हैं । "कवियों का विद्रोह" शीर्षक कविता में इसका उदाहरण मिलता है । अजितकुमार इसमें उपमा के परंपरागत उपमान का विद्रोह करते हैं -

"चांदनी चंदन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे
क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये - सी है
कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है ।
हम कहेंगे ज़ोर से
मुँह घर - अजायब है ।

(जहाँ पर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं)[1]

बार बार उपयुक्त होकर घिस गये जो उपमान हैं उनके बदले समकालीन जीवन से जुडे हुए नये नये उपमान नया कवि लेना चाहता है । अजित कुमार को चाँदनी की तुलना खनक से रहित रुपये से करना अच्छा लगता है । मुँह की तुलना वे ज़िन्दा अजायब-घर से करते हैं ।

भाषा

भाषा के बारे में अजित कुमार ने यों लिखा है -

---

1. "अकेले कंठ की पुकार" (अजित कुमार) - पृ: 37.

"भाषा एक रूढि है
निजी भाषा: निजी रूढि ।"[1]

भाषा तो अन्य रूढियों के समान एक रूढि के रूप में बदल गयी है । नया कवि इस स्थिति से उसे उभर उठाकर उसमें नयापन भर देना चाहता है ।

कवि विनय

जीवन और काव्य

नयी कविता के प्रतिष्ठित कवि विनयजी काव्य में जीवन को सबकुछ मानने के पक्ष में है । "कई अन्तराल" की भूमिका में जीवन और काव्य का संबन्ध उन्होंने स्पष्ट बताया है । - "जीवन काव्य का साधन है और साध्य भी, एक रूप में वह काव्य - संवेदना का उत्स बनता है और दूसरे में उसके संदर्भ में होता है । साहित्य की तात्कालिकता, शाश्वतता, सीमा, अनन्तता, सबके जीवनगत दृष्टिकोण से ही निर्धारित होती है । इस व्यापक सत्य के साथ ही कर्म का संबन्ध अपने अपने परिवेश के साथ होता है । दूर तक फैले इस व्यापक विराट् संसार में हम जितना देख पाते हैं उतना ही रच देते हैं । अपनी छोटी सी रचना विराट् रचना का अंग होती है जिसमें विराट् के अंश को अपनी पूर्णता व्यक्त किया जाता है ।"[2]

कवि विनय कवि-कर्म को विराट् सत्ता से उद्भूत मानता है । जीवन को उसकी पूर्णता में अभिव्यक्ति देना उसका साध्य है । इसीलिए जीवन की पीडा को वे काव्य में स्थान देते हैं । "कविता" नामक कविता में वे लिखते हैं -

---

1. "ये फूल नहीं" (अजित कुमार) - पृ: 81.
2. "कई अन्तराल" (विनय" - पृ: 9.

"पीडा
कैसे कविता बन जाती है
इसे जानना हो तो
किसी तरल आँख का
पहाडा पढो ।"[1]

श्री विनय कविता को पीडा से उत्पन्न मानते हैं । "किसी तरल आँख" को उतरनेवाली कविता समझने में आसान है । आगे वे लिखते हैं –

"स्वर और शब्द
अपने आप
अर्थ देते हैं ।
कविता समझने के लिए
सिर्फ मिट्टी को उठाकर
आकाश की तरफ
देखना होता है !!"[2]

कवि की राय में स्वर और शब्द में सहज रूप से ही अर्थ देने की शक्ति है । मिट्टी को उठाकर आकाश की तरफ देखना कविता को समझने के लिए आवश्यक है । एक ओर कविता मिट्टी से जगती से जुडी हुई है तो दूसरी ओर आकाश से भी जुडी है ।

काव्य की अखण्डता

कवि विनय कविता को अनन्त मानते हैं । समय और समूह के समान कविता और शब्द का रिश्ता है । वे लिखते हैं –

---

1. "कई अन्तराल" (विनय) – पृ: 17.
2. वही – पृ: 17.

"आप यह भी जानते हैं कि समय
शब्द में बँध जाता है
और फिर फिर लौट कर
आ जाता है नये अर्थों में ।
लौट कर आये अर्थ
और पहले कभी लगे अर्थ में अन्तर भी हो -
तो भी खण्डित नहीं होती
सार्थक शब्द की इकाई ।
कविता और शब्द का रिश्ता
समय और समुद्र का रिश्ता है -
मैं केवल एक मूर्त
क्षण भंगुर संयोजन ।
लगातार लगते विरामों के बीच
स्वतंत्रता खोजता
सीमित होने का विरोध करता हूँ ।"[1]

कवि काल और समुद्र के संबन्ध के द्वारा शब्द और कविता के संबन्ध का सूक्ष्म रूप से वर्णन करता है । समय तो शब्द में बँध जाता है । वह पुनः लौट कर नये अर्थों में आ जाता है । यह प्रक्रिया चलती रहती है ।

"अपना रास्ता" शीर्षक कविता में भी काव्य के इस व्यापक सान्निध्य के बारे में सूक्ष्म रूप से लिखा है -

"एक कविता की पंक्ति
पंक्ति में बद्ध अनेक शब्द

---

1. "कई अन्तराल" (विनय) - पृः 19-20.

शब्दों के अर्थ
आकाश में गुंजरित हैं ।
और खेतों में उन्हें पकडता कोई आदमी
बरसात की प्रतीक्षा करता है ।
तुम चाहो तो
सब कुछ तोड सकते हो ।
नदी के किनारे, नाव के चप्पू,
अर्थों की ध्वनियाँ भी ।
लेकिन यह मत भूलना
कि सर्दी के मौसम की सर्द सुबह
और गर्मी में झुलसती दोपहर
तुम्हारे नाम होगी
क्योंकि यह उस आदमी का दर्द है
जो प्रसंग बदल जाने के बाद
मौसम की शक्ल अख्तियार करता है !
अपने ही फूल तोडता है ।
और कोहरा उसे छिपाने के लिए
पूरी ताकत से झुकता है
धरती पर !
यह सच है कि ऋतुओं का बदलाव
आदमी को आदमी बनाने में सक्षम है ।
तभी तो हर बार !
कविता को बहिष्कृत किये जाने पर भी
कविता लिखी जाती है !
किसीसे पूछकर नहीं
अपने आप
अपना रास्ता बनाती है !!"[1]

कवि के मत में, कविता का विनाश संभव नहीं है । काल, ऋतुओं के साथ ही अखण्ड रूप से बहती रहती है ।

यहाँ वे कहते हैं कि कविता अपने आप यहाँ वर्तमान रहती है । देश काल सीमा से परे हैं ।

निष्कर्ष

नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों की कविताओं में दर्शित काव्य चिन्तन परक तत्वों के इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की आधुनिक कविता में काव्य चिन्तन की प्रवृत्ति सबसे अधिक मात्रा में और सबसे गहराई से नयी कविता में ही मिलती है । अन्य युगों के कवियों से भिन्न, नये कवि काव्यगत रूढियों और परंपराओं का विरोध करके उनके स्थान पर नयी काव्य दृष्टि प्रतिष्ठित करना अपना परम लक्ष्य मानते थे । इसलिए उनकी अधिकांश कविताओं में काव्यगत चर्याओं और विश्लेषण की उपस्थिति बहुत स्वाभाविक ही है ।

अज्ञेय ने, अन्य कवियों की अपेक्षा काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का अध्ययन प्रस्तुत करके अपने काव्य-विचारक रूप का प्रखर रूप प्रस्तुत किया । अज्ञेय के साथ साथ, नयी कविता के कथ्य और शिल्प का मर्म समझानेवाले मुक्तिबोध, बिंबों की सघनता दर्शानेवाले शमशेर, भाषा के साधारणीकरण पर बल देनेवाले भवानी प्रसाद और रघुवीर सहाय आदि प्रायः सभी नये कवियों के कवि-व्यक्तित्व के साथ साथ उनका काव्य-विचारक रूप भी मुखर हुआ है ।

अध्याय - छः

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों के कवियों की कविताओं में काव्य के विभिन्न पक्षों और तत्वों पर प्रकाश डालनेवाली जो पंक्तियाँ मिलती हैं, उनका अध्ययन और विश्लेषण पिछले परिच्छेदों में किया गया है । उपर्युक्त अध्ययन के निष्कर्षों को संक्षेप में प्रस्तुत करना इस अध्याय का ध्येय है ।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन की समृद्ध परंपरा संस्कृत में मिलती है । संस्कृत के आचार्यों ने काव्य शास्त्रीय चिन्तन की नींव डाली । शताब्दियों के दीर्घ काल-खण्ड में खण्डित - मण्डित होकर संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिन्तन का विकास हुआ । संस्कृत के आचार्यों तथा कवियों ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विकास में बडा योग दिया है । विभिन्न भारतीय भाषाओं में काव्य-शास्त्रीय चिन्तन संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर विकसित हुआ है । हिन्दी में भी यही बात है । हिन्दी के रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का जो रूप मिलता है वह संस्कृत का ही अनुकरण है । उसमें मौलिक चिन्तन का आभास नहीं मिलता ।

हिन्दी के आदिकाल के अन्तर्गत चन्द बरदाई और विद्यापति जैसे कवियों की कतिपय पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं जिनसे उनके काव्य चिन्तन का पता चलता है । भक्तिकाल में कबीर जैसे सन्त कवियों तथा जायसी जैसे प्रेमाख्यानी कवियों की कविताओं में काव्य चिन्तन परक पंक्तियाँ मिलती हैं । कृष्णभक्त कवियों का काव्य-चिन्तन केवल काव्य के लक्ष्य-कथन तक सीमित है । रामभक्त कवियों में तुलसीदास ने शब्द और अर्थ की अभिन्नता की ओर संकेत किया है, वह आधुनिक काव्य-चिन्तन के अनुकूल पडता है ।

घनानंद जैसे रीतिमुक्त कवियों ने कविता को आत्माभिव्यक्ति, स्वानुभूति निरूपण के रूप में प्रस्तुत करते हुए काव्य विषयक चिन्तन के क्षेत्र में एक नया मोड उपस्थित किया ।

आधुनिक काल में, भारतेन्दु युग में आरंभ किया गया जागरण द्विवेदी युग में और भी उज्ज्वल हो उठा । आधुनिक काल में काव्य के शिल्प-पक्ष पर विशेषकर काव्य-भाषागत चिन्तन की ओर सबसे पहले महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान गया । इस युग में श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने हिन्दी काव्य चिन्तन को कथ्य तथा शिल्प के क्षेत्र में आगे बढाया ।

लेकिन आधुनिक युग में छायावादी कवियों की कृतियों में ही सबसे पहले काव्य के कथ्य तथा शिल्प पर प्रकाश डालनेवाली पंक्तियाँ सर्वाधिक लक्षित होती हैं । प्रसाद और पंत ने अपनी अनेक कविताओं में सौन्दर्य तत्व का जो सूक्ष्म, मौलिक चिन्तन किया है वह छायावादी काव्य चिन्तन की मूल चेतना का परिचय देता है । प्रसाद ने सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान और संपूर्ण चिति में व्याप्त मानकर उसको उदात्त भूमिका प्रदान की है तो पंत ने असुन्दर में भी सुन्दर की खोज करना कला का लक्ष्य माना है । इन दोनों कवियों ने काव्य को सत्य, शिव और सुन्दर तत्व के सम्मिलन के रूप में मानकर काव्य को अलौकिक तत्व से संपृक्त किया है । प्रसाद, पंत और निराला ने आत्माभिव्यक्ति की उत्कट आकुलता को काव्य की मूल प्रेरणा के रूप में माना है । प्रसाद ने कल्पना को कविता की मूल शक्ति मानी तो पंत ने "छायावादी मुक्त कल्पना" बताकर कल्पना का स्वच्छन्द रूप दिखाया । निराला ने कवि-कल्पना का प्रसार-कामी स्वभाव प्रस्तुत किया है । छायावादी काव्य में वेदना एक प्रमुख काव्य-तत्व है । प्रसाद ने वेदना को "भूमा का मधुमय दान" बताया तो पंत ने काव्य की उत्पत्ति के मूल में करुणा को माना है । निराला और पंत ने छन्द के कृत्रिम बंधनों से मुक्त कविता को श्रेष्ठ कहा, मुक्त छन्द की मान्यता ने हिन्दी के काव्य चिन्तन के इतिहास में ही एक नया मोड उपस्थित किया ।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता में नरेन्द्र शर्मा, बच्चन आदि कवियों के व्यक्तिपरक गीत तथा दिनकर की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता में भी मौलिक काव्य चिन्तन की कडियाँ मिलती हैं । बच्चन के विचार में रचना का क्षण आत्म-विस्मरण का क्षण है । बच्चन ने कवि के गान को आकुलता का बहिर्गमन मानकर काव्य में वेदना की अनुभूति का महत्व स्थापित किया है । बच्चन ने कवि के अकेलेपन को व्यक्ति के अकेलेपन से भिन्न मानकर कवि की एकान्तता की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है ।

परंपरा का आधार लेते हुए भी दिनकर ने काव्य विषयक चिन्तन में मौलिकता दिखायी है । गेय और अगेय के संगम पर पहुँचना काव्य का लक्ष्य मानते हुए भी उन्होंने काव्य को समाज की जीर्ण -शीर्ण रूढियों के विरुद्ध लड़ने का माध्यम भी माना है ।

प्रगतिवाद के प्रतिनिधि कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन जैसे कवियों ने कठोर यथार्थवादिता के साथ साथ काव्य विषयक विचार करनेवाली कविताएँ भी थोडी मात्रा में रची हैं जिनका काव्यचिन्तन की दृष्टि से अपना अलग स्थान है । केदारनाथ अग्रवाल ने एक ओर काव्य सत्य को वस्तु-जगत् के सत्य से अभिन्न माना है तो दूसरी ओर "कहे के बाद अनकहे तक" पहुँचने की आकांक्षा भी प्रकट की है । प्रगतिवादी कवियों में केवल त्रिलोचन ने शब्द पर सूक्ष्म रूप से विचार किया है । शब्दों को हाड-मांस और जीवन से युक्त देखनेवाले त्रिलोचन अपने को शब्द-शब्द में पाना चाहते हैं ।

प्रयोगशील नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों ने अपनी कविताओं में यत्र-तत्र काव्य चिन्तन को वाणी दी है । इनमें काव्य के कथ्य तथा शिल्प के विषय में, कविता में सबसे व्यापक और गहरा चिन्तन अज्ञेय ने ही किया है । अज्ञेय की कविताओं में उनका काव्य-विचारक रूप पूर्ण रूप से निखर उठा है ।

सर्जनात्मक प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित करते हुए अज्ञेय का यह कथन "सभी सर्जन केवल आँचल पसारकर लेना है", काव्य की समष्टिगत भावभूमि की ओर इशारा करता है । पौधे से सर्जक की तुलना करते हुए, अशुचि और अशित को अपने अनुभव की भट्ठी में पचाकर काव्य रूपी सुन्दर फूल देनेवाले कवि का संघर्ष सराहा गया है । वे कवियों को यही शिक्षा देते हैं कि भावनाएँ स्रोत न होकर खाद हैं जो चेतना की भूमि को उर्वर बना देती हैं । "असाध्य वीणा" शीर्षक लंबी कविता में वीणा के माध्यम से अपने को "सबकुछ" को सौंपकर महाशून्य में डूबनेवाले कलाकार प्रियंवद के द्वारा कलाकार को आत्मान्वेषी साधक के समान विराट् सत्य के सामने समर्पित घोषित करते हैं ।

सृजनात्मक प्रक्रिया की सूक्ष्मता की पहचान करनेवाला और एक कवि है मुक्तिबोध । व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया के द्वारा आत्मचेतस् का विश्वचेतस् होने की धारणा उनके सृजनात्मक बोध का अमूल्य बिन्दु है । मुक्तिबोध की काव्य परक धारणा में जीवन की ऊर्जा और ऊष्मा मिलती है । मुक्तिबोध ने अपनी "अधूरी दीर्घ" कविताओं में नये संवेदन, नये अध्याय, प्रकरणों की अभिव्यक्ति करनेवाली परम स्वाधीन, कालयात्री कविता की व्याख्या की है ।

शमशेर बहादुर सिंह ने सृजनात्मक प्रक्रिया की ओर मौलिक दृष्टिकोण रखते हुए कहा है कि काव्य की रचना-प्रक्रिया में "उत्खनन" की प्रक्रिया चलती है । कवि कला में एक तटस्थ "मूर्त्त लय" देखता है । उनका यह चिन्तन कि सृजनात्मक प्रक्रिया तथागतीकरण की प्रक्रिया से जुडी हुई है, नयी कविता के सृजन-बोध का एक नया आयाम प्रस्तुत करता है । "विलयनवादी काव्य" की कल्पना करते हुए शमशेर ने काव्यगत अभिव्यक्ति की सूक्ष्म भूमिका प्रस्तुत की है ।

यद्यपि सभी नये कवियों ने कविता में लोक-संपृक्ति को विशेष महत्त्व दिया है, फिर भी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय की कविताएँ लोक संपृक्ति पर विशेष बल देती है । सर्वेश्वर ने "झूठी मुसकानों" को छोडकर

"सच्ची चोटें" बाँट लेने की इच्छा प्रकट की है । उनके अनुसार नया कवि मार्ग सहलाता नहीं, कुरेदता है । दुष्यन्त कुमार ने भी अपने को जल-भीगा काष्ठ मानकर कविता को जीवन का निचोड माना है । उन्होंने अपनी भाषा में मधुरता या कोमलता के बदले "एक नीम का स्वाद" ही पाया ।

अधिकतर नये कवियों ने "मौन" के बारे में चिन्तन किया है । अज्ञेय के लिए मौन भी अभिव्यंजना है तो भारती ने कनुप्रिया के शब्दों में शब्दों को नितान्त अर्थहीन बताकर उन सबके परे तन्मयता के गहरे क्षण की आकांक्षा प्रकट की है । जगदीश गुप्त ने भावों की अभिव्यक्ति में मौन का महत्व स्वीकार करते हुए कहा है कि शब्द से जो कहना असंभव है अर्थ-बहुल मौन में कहती है । भारत भूषण ने भी माना कि जो लिखा नहीं गया, घुमडकर भीतर रहा, वही सच है ।

नये कवियों में शब्द और अर्थ के संबन्ध पर अनेक कवियों ने विचार किया है । शब्द और अर्थ के बीच की दीवार हटाकर उनका अद्वैत पाने की इच्छा प्रकट करते हुए संप्रेषण के सूक्ष्म तत्वों को नयी दृष्टि से आँका है । शब्द और अर्थ के तनाव को दूर कर उन्हें मिला देने की आकांक्षा में शिल्प और वस्तु को समन्वित कर देने की आकांक्षा भी निहित है । उनका यह कथन कि शब्द तो किसी के लिए कंकड है तो किसीके लिए सीपी और किसीके लिए नैवेद्य है शब्द - प्रयोग के महत्व पर बल देता है । तीन शब्दों की याचना करते हुए अज्ञेय ने अभिव्यक्ति में शब्दों की पहचान का महत्व स्वीकार किया है । शब्द को रूपाकार बोला मानकर उन्होंने उनके अतीत सत्य की खोज करते हुए संप्रेषण के रहस्य का समझाया है ।

नरेश मेहता की इस पहचान में कि - शब्द के कविता बन जाने से वह अर्थ पाता है, विराट् हो जाता है - एक नवीनता मिलती है । उनके अनुसार, शब्द तो अनुभव या संवेदना - सरोवर तक पहुँचाने की सीढी है ।

अनुभव-सरोवर में पूर्णतः अवगाहन करने के लिए शब्दों का उल्लंघन करने की आवश्यकता उन्होंने समझायी है । शब्द पर आधारित उनका विचार कि शब्द अर्थ - केंचुल उतारकर अपने भाषा - व्यक्तित्व से मुक्त हो जाता है - काव्यगत चिन्तन के क्षेत्र में एक मौलिक देन है ।

नये कवियों ने भाषा में जो क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया है उसने काव्य-शिल्प के क्षेत्र में नया मोड उपस्थित किया । इस दृष्टि से कवि भवानी प्रसाद मिश्र का नाम पहले आता है जिन्होंने "जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख" कहते हुए काव्य-भाषा की साधारणता, सादगी और लोक-संपृक्ति को उद्घोषित किया है । वर दयाल सक्सेना ने भी भाषा में आभिजात्य का विरोध करते हुए भाषा का सरलीकरण प्रस्तुत करके उसे आम आदमी की अनुभूतियों के निकट लाना चाहा ।

रघुवीर सहाय ने हिन्दी को "दुहाजू की बीवी" के समान "बहुत बोलनेवाली" और "खूब गहने माँगनेवाली" कहकर अलंकार और वक्तव्यता से भरी भाषा की निंदा की है । कवि केदारनाथ सिंह के लिए भाषा का इस्तेमाल मोजे या तौलिये के इस्तेमाल के समान ही होता है ।

शिल्प के क्षेत्र में मुक्तिबोध का, फैंटसी पर आधारित विचार हिन्दी कविता के इतिहास में एक मौलिक और महत्वपूर्ण देन है । इसमें यथार्थ को अधिकता और गहराई देने की, नये कवियों की आकुलता ही मिलती है ।

काव्य-शिल्प के प्रति नये कवियों का जो क्रान्तिकारी मौलिक दृष्टिकोण है वह अज्ञेय, शमशेर आदि अनेक कवियों ने प्रस्तुत किया है । उपमानों को "मैले हुए" पाकर प्यार के भाव-संप्रेषण में कमी पानेवाले अज्ञेय का यह विचार काव्य-शिल्प के प्रति उनकी परिवर्तित दृष्टि का सूचक है ।

मुक्तिबोध ने प्रतीकों और बिंबों के असंवृत रूप में ही ज़िन्दगी को देखा तो रघुवीर सहाय के अनुसार प्रतीक उनसे इतने अभिन्न हैं कि वे उनकी सन्तान हैं ।

"संकरे छन्दों" को छोडने की आशा करते हुए शमशेर ने, तथा "रात के बंधन को खुल गये" देखकर प्रभात फूटने की कल्पना करनेवाले भारत भूषण ने छन्द की स्वच्छन्दता पर बार बार बल दिया है । कुंवर नारायण की यह उक्ति कि छन्द - लय - अलंकार के लिए आज के युग में अवकाश ही नहीं है - नये कवियों की समयानुकूल सौन्दर्य दृष्टि की विशेष परिचायिका है ।

कविता में काव्यगत चिन्तन की अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति हिन्दी में प्रयोग शील नयी कविता में प्रौढता की चरम सीमा तक पहुँची । जैसे लक्ष्मीकांत वर्मा के शब्दों में - "छायावाद में जो कवि-मन अबोध बालक की भाँति प्रकृति, जीवन, सौन्दर्य, यथार्थ और इस [illegible]रिक्त जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्रश्न करता, अबोध बालक की भाँति भटकता दीख पडता था, तारसप्तक में वह कवि मन इन शिशुवत् प्रश्न-चिह्नों का अर्थ और उसका संदर्भ अनुभव करने लगा था ।"[1] तारसप्तक का यह कवि - मन नयी कविता में और भी प्रौढ रूप में लक्षित होता है । काव्य के कथ्य और शिल्प दोनों पक्षों पर नये कवियों द्वारा जो नयी नयी खोज और नये नये प्रयोग किये गये उनके आधार पर सुदृढ बनाया हुआ चिन्तन उनकी अपनी कविताओं में प्रतिबिंबित हुआ । बीसवीं शताब्दी वैज्ञानिक उन्नति, बौद्धिकता और जागरूकता के महान प्रभाव की शताब्दी है । इसलिए इस

---

1. "नयी कविता के प्रतिमान" (लक्ष्मीकान्त वर्मा) - पृ: 145.

जागरूकता ने नये कवियों को एक ओर काव्य-क्षेत्र में नये नये प्रयोगों और क्रान्तिकारी विचारों की ओर अग्रसर कराया, तो दूसरी ओर आधुनिक युगानुकूल अधिक चिन्तन शील भी बनाया । यही कारण है कि आधुनिक कविता में प्रचण्ड भाव-जगत के बीच में भी गहन चिन्तन की मुक्ता-मणियाँ भी बिखरी पड़ी हैं । आधुनिक कविता का चिन्तन जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के साथ साथ काव्य के विविध पक्षों और तत्वों से भी संबद्ध है । विदित है कि आधुनिक कवि कवि के साथ विचारक भी हैं ।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

काव्य

1. अकेले कंठ की पुकार – अजित कुमार – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 1958.
2. अग्निशस्य – नरेन्द्र शर्मा – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्र.सं सं 2008 वि.
3. अणिमा – सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", युगमंदिर, उन्नाव, 1943.
4. अतिमा – सुमित्रानंदन पंत – रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं 2020 वि.
5. अतुकान्त – लक्ष्मीकान्त वर्मा – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं – 1968.
6. अनु-क्षण – प्रभाकर माचवे – भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्र. सं 1959.
7. अनुपस्थित लोग – भारत भूषण अग्रवाल – लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1965.
8. अनामिका – सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ सं 1963.
9. अनुपूर्वा – रामेश्वर शुक्ल "अंचल" – विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्र सं 1970.
10. अनकहनी भी कुछ कहनी है – त्रिलोचन – राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 1985.
11. अन्तरा – अज्ञेय – राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्र सं 1975.
12. अपरा – सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला – साहित्यकार संसद, प्रयाग, 1965.

13. अपने सामने - कुँवर नारायण - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - तृतीय संस्करण 1981.

14. अपराजिता - रामेश्वर शुक्ल "अंचल" - इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, 1946.

15. अपूर्वा - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1984.

16. अभी बिलकुल अभी - केदारनाथ सिंह - संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड, दूसरा संस्करण : 1980.

17. अरी ओ करुणा प्रभामय - अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1959.

18. अरण्या - नरेश मेहता - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1985.

19. अर्चना - सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, 1962.

20. अंधेरी कविताएँ - भवानी प्रसाद मिश्र - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1968.

21. आकुल अन्तर - बच्चन - भारती भण्डार, इलाहाबाद, पाँचवाँ संस्करण: 1961.

22. आग का आइना - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1970.

23. आत्मजयी - कुँवर नारायण - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1965.

24. आत्महत्या के विरुद्ध - रघुवीर सहाय - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृ सं 1985.

25. आवाज़ों के घेरे - दुष्यन्त कुमार - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1963.

26. आधुनिक कवि पंत – सुमित्रानंदन पंत – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

27. आस्था – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि, दिल्ली, 197

28. आंगन के पार द्वार – अज्ञेय – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1961.

29. आँसू – जयशंकर प्रसाद – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

30. आज के लोकप्रिय कवि – गिरिजाकुमार माथुर – (सं डा नगेन्द्र, कैलाश वाजपेयी) राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1961.

31. इतने पास अपने – शमशेर बहादुर सिंह – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1988.

32. इत्यलम् – अज्ञेय – प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1946.

33. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये – अज्ञेय – सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण 1957.

34. उदिता – शमशेर बहादुर सिंह – वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1980

35. उतना वह सूरज है – भारत भूषण अग्रवाल – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र सं 1977.

36. उत्तरा – सुमित्रानंदन पंत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग संवत् 2012 वि.

37. उर्वशी – रामधारी सिंह "दिनकर" – चक्रवाल प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना 4, द्वि. सं 1964.

38. उस जनपद का कवि हूँ – त्रिलोचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981.

39. एक सूनी नाव – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1966.

40. एक उठा हुआ हाथ – भारत भूषण अग्रवाल – लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद , प्र सं 1970.

41. एकान्त – नेमीचन्द्र जैन – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1973.

42. एकान्त संगीत – बच्चन – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, छठा संस्करण 1 1

43. ओ अप्रस्तुत मन – भारत भूषण अग्रवाल – लोक भारती प्रकाशन, इला 1 1

44. कबीर ग्रन्थावली – सं डा. पारसनाथ तिवारी – हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्व विद्यालय, प्र सं 1961.

45. कबीर ग्रन्थावली – सं डा. पुष्पलाल सिंह – अशोक प्रकाशन, दिल्ली, द्वि सं 1965.

46. कबीर वचनामृत – सं डा. मुंशीराम शर्मा – आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर, द्वि सं 2012 वि.

47. कवि – कुल – कल्पतरु – चिन्तामणि – नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, पंचम संस्करण

48. कदली-वन – नरेन्द्र शर्मा – किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1954.

49. कला और बूढा चाँद – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1959.

50. कई अन्तराल – विनय – लोक भारती प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1980.

51. कनुप्रिया – धर्मवीर भारती – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नवम संस्करण 1984.

52. कंचनमृग – लक्ष्मीकान्त वर्मा – लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1981.

53. कवितान्तर – जगदीश गुप्त – रामबाग (प्रकाशन), कानपुर-12, प्र सं 1973.

54. काव्य निर्णय – भिखारी दास – (सं जवाहरलाल चतुर्वेदी) कल्याणदास अण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, द्वि सं 2019 वि.

55. कानन कुसुम – जयशंकर प्रसाद – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1912

56. कामायनी – जयशंकर प्रसाद – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1935.

57. काठ की घंटियाँ – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – भारतीय प्रकाशन, काशी, प्र सं 1959.

58. कितनी नावों में कितनी बार – अज्ञेय – भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 1983.

59. कीर्तिलता – विद्यापति – (सं बाबूराम सक्सेना) – नागरी प्रचारिणी सभा काशी, तृ सं संवत् 2014.

60. कुआनो नदी – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1973.

61. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ – शमशेर बहादुरसिंह – राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1984.

62. केशव ग्रन्थावली – खण्ड 1 – (सं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) हिन्दुस्तानी एकैडमी, इलाहाबाद, प्र सं 1954 ई.

63. क्या कहकर पुकारूँ – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र सं 1984.

64. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ – अज्ञेय – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1970.

65. खुशबू के शिलालेख – भवानी प्रसाद मिश्र – सरला प्रकाशन, नयी दिल्ली,

66. गर्म हवाएँ – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1969

67. ग्रन्थि – सुमित्रानंदन पंत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं 2014 वि.

68. ग्राम्या – सुमित्रानंदन पंत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, 1940.

69. गाँधी पंचशती – भवानी प्रसाद मिश्र, – सरला प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1969.

70. गीतहंस – सुमित्रा नंदन पंत – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969.

71. गीतिका – सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पंचम संस्करण वि 2018.

72. गीतफरोश – भवानी प्रसाद मिश्र – सरला प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्र सं 1953.

73. गुंजन – सुमित्रानंदन पंत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, सं 2018 वि.

74. गुलमेहंदी – केदारनाथ अग्रवाल – परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला संस्करण 1978.

75. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन – वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985.

76. घनानंद ग्रन्थावली – (सं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) वाणी वितान, ब्रह्मनाल, बनारस–1, संवत् 2009.

77. चकित है दुःख – भवानी प्रसाद मिश्र – अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1968.

78. चक्रवाल – रामधारी सिंह "दिनकर" – उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना 4, प्र सं 1956.

79. चक्रव्यूह – कुँवर नारायण – राजकमल प्रकाशन, बंबई, प्र सं 1956 ई.

80. चाँद का मुँह टेढा है – मुक्तिबोध – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र सं 1964.

81. चित्रावली – उसमान (सं जगन्मोहन वर्मा) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र सं 1912 ई.

82. चित्रांगदा – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, 1969.

83. चिदंबरा – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, 1966.

84. चुका भी हूँ नहीं मैं – शमशेर बहादुरसिंह – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1975

85. चैती – त्रिलोचन – वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1987.

86. चौरवे चौपदे – हरिऔध – हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, संवत् 2008.

87. जंगल का दर्द – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1976.

88. ज़मीन पक रही है – केदारनाथ सिंह – प्रकाशन संस्थान, शाहदरा, दिल्ली, प्र सं 1980.

89. जलते हुए वन का वसन्त – दुष्यन्त कुमार – अनादि प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण

90. जाल समेटा – बच्चन – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पहला संस्करण 19

91. जो बंध नहीं सका - गिरिजा कुमार माथुर - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1968.

92. जो शिलाएँ तोडते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1986.

93. झरना - जयशंकर प्रसाद - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1918.

94. ठण्डा लोहा - धर्मवीर भारती - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1969.

95. तार सप्तक (सं अज्ञेय) - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय सं 1970.

96. ताप के ताए हुए दिन - त्रिलोचन - संभावना प्रकाशन, हापुड, प्र सं 1980.

97. तीसरा सप्तक (सं अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1967.

98. तुलसीदास - निराला - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, आठवां संस्करण - सवंत् 2023 वि.

99. तुम्हें सौंपता हूँ - त्रिलोचन - राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1985.

100. तूस की आग - भवानी प्रसाद मिश्र - हिमाचल पुस्तक भण्डार, गांधी नगर, दिल्ली, प्र सं 1985.

101. द्विवेदी काव्य-माला - महावीर प्रसाद द्विवेदी - साहित्य रत्न भंडार, आगरा, सन् 1940.

102. दिगन्त - त्रिलोचन - प्रकाशक - जगत शंखधर, वाराणसी, प्रथमावृत्ति 1957.

103. दीपशिखा - महादेवी वर्मा - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सातवाँ संस्करण सं 2022 वि.

104. दूसरा सप्तक - (सं अज्ञेय) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वि सं 1970.

105. दो चट्टानें - बच्चन - राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, पहला संस्करण 1965.

106. धरती - त्रिलोचन - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1977.

107. धूप के धान - गिरिजा कुमार माथुर - भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वि सं 1958.

108. नन्ददास ग्रन्थावली - नन्ददास - (सं ब्रजरत्नदास) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पहला संस्करण सं 2006.

109. निराला रचनावली - खण्ड-5 - निराला - राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, प्र सं 1983.

110. नीहार - महादेवी वर्मा - साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, 1930

111. नीरजा - महादेवी वर्मा - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, सं 2023 वि.

112. नील कुसुम - दिनकर - उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-4, द्वि. सं 1956.

113. पदमावत - जायसी (सं श्री वासुदेव शरण अग्रवाल) साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, द्वि सं 2018 वि.

114. पद्माकर ग्रन्थावली – (सं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र सं 2016 वि.

115. पद्य प्रमोद – हरिऔध – कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, बनारस, संवत् 1985.

116. पद्य प्रबन्ध – मैथिलीशरण गुप्त –साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, द्वितीय संस्करण

117. पल्लव – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, 1963.

118. परिमल – सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" – गंगापुस्तक माला – कार्यालय, लखनऊ, दशम संस्करण 1966 ई.

119. पलाश वन – नरेन्द्र शर्मा – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1940.

120. परशुराम की प्रतीक्षा – दिनकर – उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना, तृतीय संस्करण 1966.

121. पर आँखें नहीं भरीं – शिवमंगल सिंह "सुमन", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रकाशन – 1967.

122. पंख और पतवार – केदारनाथ अग्रवाल – परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1979.

123. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ – अज्ञेय – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1976.

124. परिवर्तन जिए – भवानी प्रसाद मिश्र – सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1976.

125. परिवेश हम तुम - कुँवर नारायण - वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्र सं 1961.

126. प्रसाद संगीत - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं 2013 वि.

127. प्रसाद ग्रन्थावली - खण्ड-1 - जयशंकर प्रसाद - भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988.

128. प्रवासी के गीत - नरेन्द्र शर्मा - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण - सं 2009 वि.

129. प्रणय - पत्रिका - बच्चन - राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, दूसरा संस्करण - 1961.

130. प्रणभंग तथा अन्य कविताएँ - दिनकर - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र सं 1976.

131. प्रलय - सृजन - शिवमंगल सिंह "सुमन" - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वि सं 1969.

132. प्रसंग - श्रीकान्त वर्मा - संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़, प्र सं 1981.

133. पारिजात - हरिऔध - पुस्तक भंडार, लेहरिया सराय, प्रथम संस्करण : 1940.

134. पीयूष की भटकी किरण यायावरी - रामेश्वर शुक्ल "अंचल" - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-1, प्र सं 1964.

135. पूर्वा - अज्ञेय - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1965.

136. पृथ्वीराज रासो - प्रथम भाग - चन्द बरदाई - सं कविराव मोहन सिंह, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, प्र सं - सं 2011.

137. प्यासा निर्झर - नरेन्द्र शर्मा - समुदय प्रकाशन, बंबई, 1964.

138. प्यासी पथराई आँखें - नागार्जुन - अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1982.

139. प्रेम-पथिक - जयशंकर प्रसाद -भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1914.

140. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं 1983.

141. फूल नाम है एक - त्रिलोचन - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1985.

142. बहुत रात गये - नरेन्द्र शर्मा - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1967.

143. बहुत दिन बीते - बच्चन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पहला संस्करण 1967.

144. बावरा अहेरी - अज्ञेय - सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1954.

145. बिहारी सतसई - {सं प्रो. विराज} अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1962.

146. बुनी हुई रस्सी - भवानी प्रसाद मिश्र - सरला प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1971.

147. बुद्ध और नाचघर तथा अन्य कविताएँ - बच्चन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र सं 1958.

148. बेला - निराला - निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, 1943.

149. बोल बोल अबोल – केदारनाथ अग्रवाल – परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1985.

150. भारतेन्तु ग्रन्थावली – प्रथम भाग – (सं व्रजरत्नदास) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र सं संवत् 2007.

151. भीतरी नदी की यात्रा – गिरिजाकुमार माथुर – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र सं 1975.

152. भूरी भूरी खाक धूल – मुक्तिबोध – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण , 1981.

153. मधुमालती – मंझन – (सं डा. माताप्रसाद गुप्त) मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटड, प्रथम संस्करण 1961.

154. मतिराम ग्रन्थावली – सं कृष्ण बिहारी मिश्र – नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण सं 2021 वि.

155. मनोविनोद – श्रीधर पाठक – तृतीय खण्ड – श्रीपद्मकोट, लूकरगंज, प्रयाग

156. मधुशाला – बच्चन– राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पन्द्रहवाँ संस्करण 1961.

157. मधुकलश – बच्चन – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, आठवाँ संस्करण 1963.

158. मगध – श्रीकान्त वर्मा – राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि सं 1986.

159. मार प्यार की थापें – केदारनाथ अग्रवाल – परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र सं 1981.

160. मायादर्पण – श्रीकान्त वर्मा – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1967.

161. मिलन यामिनी - बच्चन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1961.

162. मिट्टी की बारात - शिवमंगल सिंह "सुमन" - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि सं 1975.

163. यहाँ से देखो - केदारनाथ सिंह - राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र सं 1983.

164. युगान्त - सुमित्रानंदन पंत - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग - सं 2015 वि.

165. युगपथ - सुमित्रानंदन पंत - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग - 1964.

166. युगवाणी - सुमित्रानंदन पंत - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1959.

167. युगधारा - नागार्जुन - यात्री प्रकाशन, यमुना विहार, दिल्ली, द्वि सं 1982.

168. युग्म - जगदीश गुप्त - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1973.

169. ये फूल नहीं - अजित कुमार - अक्षर प्रकाशन, दिल्ली 1970.

170. रश्मि - महादेवी वर्मा - साहित्य भवन प्रा. ली., इलाहाबाद, षष्ठ आवृत्ति सन् 1962 ई.

171. रजतशिखर - सुमित्रानंदन पंत - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सं 2008 वि.

172. रश्मिरथी - दिनकर - उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना 4, पंचम संस्करण 1960.

173. रश्मिलोक - दिनकर - हिन्दी बुक सेन्टर, नयी दिल्ली-1, 1974.

174. रसज्ञ रंजन - महावीर प्रसाद द्विवेदी - साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, नवीनतम संस्करण 1958.

175. रामचरितमानस - तुलसीदास - गीता प्रेस, गोरखपुर, इकतीसवाँ संस्करण सं 2036.

176. रीतिकाव्य संग्रह - (सं डा. जगदीश गुप्त) - साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र सं सन् 1961 ई.

177. लहर - जयशंकर प्रसाद - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1933.

178. लोकायतन - सुमित्रानंदन पंत - राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली 1934.

179. लोग भूल गये हैं - रघुवीर सहाय - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1982.

180. वाणी - सुमित्रानंदन पंत - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी - 1958.

181. विराम चिह्न - रामेश्वर शुक्ल "अंचल" - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्र सं 1957.

182. विश्वास बढता गया - शिवमंगल सिंह "सुमन" - आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वि सं 1967.

183. शंखध्वनि - सुमित्रानंदन पंत - राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1971.

184. शब्द रसायन - देव - प्रथम प्रकाश - हिन्दी साहित्य मण्डल, प्रयाग

185. शब्द – त्रिलोचन – वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1980.

186. शरीर, कविता, फसलें और फूल – भवानी प्रसाद मिश्र – पश्यन्ती प्रकाशन, हापुड, प्र सं 1980.

187. शमशेर (सं) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली – 1971.

188. शिवराज भूषण – भूषण – हिन्दी भवन, जालन्धर, इलाहाबाद, पाँचवाँ संस्करण – 1958.

189. शिल्पी – सुमित्रानंदन पंत – राजकमल प्रकाशन प्राइवट लिमिटड, दिल्ली 1940.

190. शिलापंख चमकीले – गिरिजा कुमार माथुर – साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, प्र सं 1961.

191. सदानीरा – (संपूर्ण कविताएँ) अज्ञेय – भाग–1 – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986.

192. संप्रति – भवानी प्रसाद मिश्र, किताब घर, गांधी नगर, दिल्ली, प्र सं 1992.

193. संचयिता – दिनकर – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वि सं 1977.

194. सागर – मुद्रा – अज्ञेय – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र सं 1970.

195. साक्षी रहे वर्तमान – गिरिजा कुमार माथुर – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र सं 1979.

196. साये में धूप – दुष्यन्त कुमार – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1975.

197. सात गीत वर्ष – धर्मवीर भारती – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी प्र सं 1959.

198. साकेत – मैथिलीशरण गुप्त – साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, चौतीसवाँ संस्करण – संवत् 2009.

199. सामधेनी – दिनकर – उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना, तृतीय संस्करण: 195[illegible]

200. सांध्य गीत – महादेवी वर्मा – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पंचम संस्करण संवत् 2017 वि.

201. सुनहले शैवाल – अज्ञेय – अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1966.

202. सुन्दर ग्रन्थावली – द्वितीय खण्ड – सं पुरोहित हरिनारायण शर्मा राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, प्र सं – 1993 वि.

203. सूरसागर – पहला खण्ड – सूरदास – सं नन्ददुलारे वाजपेयी – नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, तृ – सं संवत् 2015 वि.

204. सूर्य का स्वागत – दुष्यन्त कुमार –

205. सौवर्ण – सुमित्रानंदन पंत – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1963.

206. स्वर्ण धूलि – सुमित्रानंदन पंत – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सं 2004.

207. स्वप्न भंग – प्रभाकर माचवे – साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, प्र सं 195

208. हरी घास पर क्षण भर – अज्ञेय – प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1949.

209. हज़ार हज़ार बाँहोंवाली – नागार्जुन – राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 198

210. हंसमाला – नरेन्द्र शर्मा – भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण – सं 2003.

211. हिमविद्ध – जगदीश गुप्त – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र सं 1964.

212. हिल्लोल – शिवमंगल सिंह "सुमन" – सरस्वती प्रेस, बनारस, द्वि सं 1946.

संस्कृत ग्रन्थ

1. "उत्तर रामचरितम्" – भवभूति

2. – कठोपनिषद् (सं स्वामि शर्वानन्द) श्रीराम कृष्ण मठ, मद्रास दसवाँ संस्करण 1968.

3. कालिदास ग्रन्थावली – सं रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976.

4. काव्यालंकार – भामह – मोतीलाल बनारसी दास, चौक, वाराणसी, द्वि सं 1970.

5. काव्य प्रकाश – मम्मट – प्रकाशक जी. आर. भटकल, पोपुलर बुक डिपो, बंबई–7, द्वि सं 1959.

6. चन्द्रालोक – जयदेव – चौखंबासंस्कृत रीज़ आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण सं 2016 (ई 1960).

7. ध्वन्यालोक – आनंद वर्धन – मोती लाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी, द्वि सं 1973.

8. नाट्यशास्त्र – भरत मुनि – निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1943 ई.

9. रसगंगाधर – जगन्नाथ – चौखंबा विद्याभवन, चौक, बनारस–1, ई 1965.

10. शुक्लयजु:संहिता

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1. "An Essay on Criticism" - Graham Hough, Gerald & Duc & Co., Ltd., 1966.

2. Complete Poems of Keats and Shelley.

3. Poets on Poetry - Edited by Charles Norman, The Free Press, Newyork Collier Macmillan Ltd, London, 1965.

4. Wordsworth's Poetical Works - Wordsworth Ed. Johnson - University Press, OxFord, 1926.

आलोचना, निबंध और अन्य गद्य-कृतियाँ

1. आस्था के चरण - डा. नगेन्द्र - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980.

2. आत्मनेपद - अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1960.

3. एक साहित्यिक की डायरी - मुक्तिबोध - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1964.

4. काव्य शास्त्र - (प्रधान संपादक हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, 1966.

5. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - जयशंकर प्रसाद- भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं 2015 वि.

6. काव्य की भूमिका - दिनकर - उदयाचल, पटना-4, प्रथम संस्करण 1958.

7. क्या भूलूँ क्या याद करूँ - बच्चन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण 1970.

8. गद्यपथ - सुमित्रानंदन पंत - साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1953.

9. चाबुक - निराला - निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, 1962.

10. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - सुमित्रानंदन पंत - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965.

11. छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन - कुमार विमल - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970.

12. जिरह - श्रीकान्त वर्मा - संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड, 1973.

13. त्रिशंकु - अज्ञेय - सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, संस्करण 1973.

14. नयी कविता का आत्म संघर्ष - मुक्तिबोध - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं 1983.

15. नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र - मुक्तिबोध - राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1971.

16. नयी कविताएँ एक साक्ष्य - रामस्वरूप चतुर्वेदी - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976.

17. नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकान्त वर्मा - भारतीय प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1957.

18. प्रसाद का काव्य - डा प्रेमशंकर - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं 2012 वि.

19. बसेरे से दूर - बच्चन - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977.

20. भवन्ती - अज्ञेय - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1972.

21. भारती का काव्य - रघुवंश - दि मैकमिल्लन कंपनी ऑफ इंडिया, दिल्ली 1980

22. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य - इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1944.

23. मिट्टी की ओर - दिनकर - उदयाचल, पटना-4, 1946.

24. मील के पत्थर - रामवृक्ष बेनीपुरी - सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1977.

25. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता (लल्लन राय) संघा पब्लिकेशन्स, रोहतक, प्र सं 1982.

26. रचना एक यातना है - प्रभाकर श्रोत्रिय - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र सं 1985.

27. शुद्ध कविता की खोज - दिनकर - उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना-4, प्र सं 1966.

28. साहित्य देवता - माखनलाल चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य प्रकाशन, खंडवा, 1943.

29. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986.

पत्र - पत्रिकाएँ

1. आलोचना (त्रैमासिक) - जुलाई-सितंबर 1968
   आलोचना (त्रैमासिक) - जनवरी-मार्च 1968
   आलोचना (त्रैमासिक) - जनवरी-मार्च 1981

   संपादक नामवर सिंह
   राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

2. प्रभा - फरवरी 1914.

3. ज्ञानोदय - फरवरी 1968.